TEMPLES AS CENTRES OF EDUCATION IN ANCIENT INDIA

टेम्पुल्स ऐज सेन्टर्स एजूके
ऐन्श्यिेन्ट इण्डिया

डी0 फिल0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोध निर्देशक :
डा0 सी0 डी0 पाण्डेय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
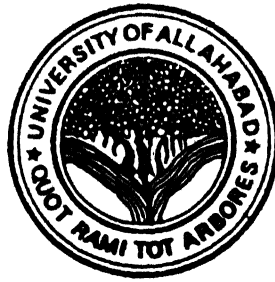
शोधकर्ता :
वशिष्ठ नारायण शुक्ल
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

विषयानुक्रमणिका
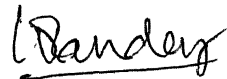
अध्याय		पृष्ठ संख्या
१	प्राचीन भारत में शिक्षा एवं उसका स्वरूप	०१-७८
२	प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य	७९-९३
३	मन्दिर शिक्षा के केन्द्र	९४-१४४
४	मन्दिरों के अतिरिक्त शिक्षा के केन्द्र	१४५-१८७
५	मठों, मन्दिरों एवं अन्य शिक्षण संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था	१८८-२२७
६	उपसंहार	२२८-२४२

शोध निर्देशक का प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ***'टेम्पुल्स ऐज सेन्टर्स आफ एजूकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया'*** विषय पर श्री वशिष्ठ नारायण शुक्ल द्वारा मेरे निर्देशन में लिखा गया है। यह एक मौलिक कार्य है जो कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के शोध प्रबन्ध की सभी अनिवार्यताओं/औपचारिकताओं को पूरा करता है।

C Pandey

दिनांक : 15/12/2002
स्थान : इलाहाबाद

डा० सी० डी० पाण्डेय
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पुरोवाक्

ऋषियों–महर्षियों की परम पवित्र तपस्थली भारत भूमि पर सदैव सन्त–महात्माओं, महायोगियों, धर्माचार्यों, महापुरुषों का अवतरण होता रहा है। यहाँ धर्म पर आधारित शिक्षा भारतीय जीवन का आवश्यक अंग एवं संस्कृति की आधारशिला रही है। धार्मिक शिक्षा से लोगों में अच्छे संस्कार उत्पन्न होते रहे हैं और संस्कृति हमारी चेतना को परिष्कृत करती रही है। इससे हमारे आचार–विचार व व्यवहार भी परिष्कृत होते रहे हैं।

प्राचीन धार्मिक शिक्षा में धर्माचरणों, वर्णाश्रमों, संस्कारों, सामाजिक, सांस्कृतिक वैभवों, परवर्तीयुग, राष्ट्रीय चरित्र, पारस्परिक संवेदनाओं एवं स्थापित नैतिक आदर्शों के लिए भी पर्याप्त स्थान रहा है। उसके महत्व को इस रूप में माना गया है कि उसका उद्देश्य तत्कालीन समाज एवं परिस्थितियों में चरित्र–निर्माण, धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति, सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण और संवर्धन, व्यावहारिक सामाजिक गृहस्थ जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति एवं भावी पीढ़ी के नवनिर्माण में निहित रहा है। प्राचीन शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य था, छात्रों में दैवीगुणों व कर्तव्यपरायणता का विकास।

हमारे महापुरुषों की प्रेरणा से भारतीय संस्कृति के मूल संस्कारों से सम्पन्न ब्रह्मचर्यव्रती स्नातक और विद्यार्थियों ने महामानव होने की प्रतिष्ठा प्राप्त की और अपने ज्ञान ज्योति से विश्व को आलोकित किया।

वास्तव में शिक्षा ज्ञान के प्रचार–प्रसार का एक माध्यम है और इसका उद्देश्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जीवन के सभी मूल्यों को पहुँचाने तथा भावी पीढ़ी को आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करना है। भारत के सुनहरे भविष्य के कर्णधार हमारी पुष्पवाटिका के नवोदित कोमल–कुसुम तरुणों के कन्धों पर ही परम्परा प्रदत्त, धर्म–दर्शन, संस्कृति तथा साहस, शौर्य एवं पराक्रम से परिपूर्ण

इतिहास के अमूल्य वैभव की सुरक्षा तथा तदनुरूप आचरण का गम्भीर दायित्व है और यह प्राचीन शिक्षा के आदर्शों पर ही सम्भव हो सकेगा।

प्राचीनकाल में शिक्षा के लिए ऋषि–मुनियों ने गुरुकुल की प्रणाली का आविष्कार किया था। प्रकृति के शान्त वातावरण एवं नैसर्गिक जलवायु और सात्विक आहार–विहार के परिवेश में वहाँ तपोमयी एवं आनन्दमयी शिक्षा की मान्यता थी। आश्रमों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा होती थी। यज्ञविद्या पर व्याख्यान होते थे मुनि योगाभ्यास और मन्त्रों की साधना करते थे तथा समाधि लगाते थे। वहाँ समूहों के अध्ययन से सारा आकाश गूंजा करता था। आश्रम में पर्णशालायें बनी हुई थीं, सारा आश्रम अतिशय पवित्र एवं रमणीय था। आश्रमों में वैदिक साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विद्याओं की शिक्षा प्रमुख रूप से दी जाती थी। वहाँ से जो आध्यात्मिक ज्योति दिग्दिगन्त में परिव्याप्त होती थी, उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था।

इन प्राचीन आश्रमों की भांति जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों ने भी अपने–अपने आश्रमों का स्थान देवपूजा के लिए परिवर्तित कर लिया और आश्रमों की रूपरेखा देव मन्दिरों के रूप में बदल गयी।

यहीं से धार्मिक भावनाओं, विचारों एवं क्रियाकलापों तथा सद्आचरणों की सरिता का सर्वत्र प्रवाह होने लगा। इन मन्दिरों में आश्रमों की मान्यताओं एवं आदर्शों की झलक परिलक्षित होती रही थी। सच्चे अर्थों में ये देवमन्दिर विद्या मन्दिर ही थे। धीरे–धीरे आश्रमों, नगरों के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में भी मन्दिर बड़ी संख्या में शिक्षा के केन्द्र बने।

धर्म के अध्ययन तथा अध्यापन के लिए बने असंख्य विहारों एवं मठों में भी मूर्तियों की स्थापना प्रारम्भ होने से उनका स्वरूप मन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो गया। विहारों में बौद्ध दर्शन और धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी मतावलम्बियों के दर्शन तथा धर्म के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया था।

विहारों में रहने वाले भिक्षु अध्ययन–अध्यापन चिन्तन–मनन, समाधि तथा धर्म प्रचार में अपना समय व्यतीत करते थे। विहारों का अनुसरण करते हुए देश के विभिन्न भागों में बने हिन्दू एवं जैन मन्दिरों में भी शिक्षण संस्थाओं की बाढ़ सी आ गयी। ऐसी संस्थाओं में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को रहने व उनके भोजन की व्यवस्था निःशुल्क हुआ करती थी। उन्हें शिक्षा देने वाले गुरुजनों के रहने खाने–पीने व अतिथि संस्कार के लिए भी उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता की व्यवस्था थी। यह सहायता शासकों, व्यवसायीजनों व स्थानीय लोगों द्वारा प्रदत्त की जाती थी। प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राज्य की ओर से शिक्षक ब्राह्मणों को भूमिदान की व्यवस्था थी।

कुछ शासक विद्वान ब्राह्मणों को पूरा ग्राम दे देते थे जिसे अग्रहार की संज्ञा दी गयी थी। गुरुओं द्वारा शिष्यों को ऐहिक तथा परमार्थिक शिक्षा दी जाती थी। आज सभी पाश्चात्य देशों में अपने–अपने धर्मानुसार धार्मिक शिक्षा परम्परागत रूप से चालू है। ऐसी स्थिति में सदा से धर्मपरायण रहा भारत इसमें भला क्यों पिछड़े। आशा है भारत के सभी धर्माचार्य एवं शिक्षाविद् इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए इस दिशा में कोई ठोस क्रियात्मक रूप राष्ट्र एवं समाज के हितार्थ बनायेंगे।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 'टेम्पुल्स ऐज सेन्टर्स ऑफ एजूकेशन इन एन्शियण्ट इण्डिया' ६ अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम अध्याय में "प्राचीन भारत में शिक्षा एवं उसका स्वरूप" में धर्मशास्त्रों में वर्णित शिक्षा को उनके अनुरूप परिभाषित करते हुए, उसके स्वरूपों एवं आदर्शों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें आचार्यो के प्रकार, आचार्यत्व का आधार, उनकी योग्यता, प्रशिक्षण एवं कर्तव्य आदि पर विचार करते हुए शिक्षक–शिक्षार्थी सम्बन्धों की सम्यक विवेचना की गयी है।

इस क्रम में शिक्षा सम्बन्धी संस्कारों की वैज्ञानिकता एवं ब्रह्मचर्य आश्रम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए, शिक्षार्थी के प्रकार, उसकी योग्यता, आचरण, दिनचर्या, भिक्षांटन एवं उसके महत्व तथा सामान्य कर्तव्यों का तार्किक परीक्षण किया गया है।

इस अध्याय में प्राचीन शिक्षा के दृढ़ स्तम्भों ऋषियों, मुनियों–मनीषियों के सामान्य परिचय एवं उनके कृतित्व के योगदानों का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय "प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य" में शिक्षा की सार्थकता को रेखांकित करने के साथ–साथ उसके सामाजिक, व्यावहारिक, सांस्कृतिक, व्यक्तिपरक, चारित्रिक एवं धार्मिक उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय "मन्दिर शिक्षा के केन्द्र" में देश के विभिन्न भागों में स्थित प्राचीन मन्दिरों द्वारा संचालित शिक्षा–व्यवस्था का चित्रण करने का प्रयास किया गया है। इसमें मन्दिरों से प्राप्त अभिलेखों, धर्मशास्त्रों में वर्णित लेखों तथा मन्दिरों के पुजारियों द्वारा दी गयी जानकारियों को आधार माना गया है।

चतुर्थ अध्याय "मन्दिरों के अतिरिक्त शिक्षा के केन्द्र" के अन्तर्गत प्राचीन आश्रमों–गुरुकुलों, ब्राह्मण शिक्षण संस्थाओं, बौद्ध विहारों, अग्रहार गावों, टोलों आदि पर प्रकाश डालते हुए, वहाँ की शिक्षण व्यवस्था का वर्णन किया गया है।

पंचम अध्याय "मठों, मन्दिरों एवं अन्य शिक्षण संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था" के अन्तर्गत शिक्षण कार्य संचालित करने वाले मन्दिरों, मठों, अग्रहारों तथा विश्वविद्यालयों को, राजाओं, महाराजाओं, सामन्तों, धनियों, व्यापारियों, किसानों तथा आम नागरिकों द्वारा प्रदत्त, आर्थिक सहयोग का उल्लेख किया गया है। ऐसे सहयोग का उपयोग छात्रों एवं अध्यापकों की आवासीय सुविधाओं, वस्त्र, भोजन, हवन इत्यादि की व्यवस्था पर किया जाता था।

अन्तिम अध्याय 'उपसंहार" में प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के महत्वपूर्ण प्रश्नों का आकलन करते हुए उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला गया हैं इसमें आश्रमों, गुरुकुलों, स्वतन्त्र शिक्षण केन्द्रों, मन्दिरों, मठों, अग्रहारों, टोलों, यज्ञस्थलों एवं प्राचीन विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षा का प्रचार–प्रसार एवं संचालन तथा उसकी आर्थिक व्यवस्था का वर्णन हैं वर्तमान शिक्षा प्रणाली की खोखली सम्भावनाओं, उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों तथा उद्देश्य विहीनता की स्थिति में यह अपरिहार्य हो गया है कि प्राचीन शिक्षा पद्धति

के धार्मिक आध्यात्मिक पक्षों की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता पर विचार किया जाय और मन्दिरों–मठों जैसे धार्मिक शिक्षा केन्द्रों को संरक्षित किया जाय।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सफलतापूर्वक सम्पादन में मैं अपने शोध पर्यवेक्षक डा० चन्द्रदेव पाण्डेय जी का हृदय से आभारी एवं ऋणी हूँ। श्रद्धेय डा० पाण्डेय जी के आकर्षक व्यक्तित्व एवं कृतित्व और प्रभावशाली कार्यशैली से मुझे शोध सम्बन्धी जटिलताओं के निराकरण में महत्वपूर्ण सहायता मिली है। उनके स्नेहिल मार्गदर्शन, पुत्रवत स्नेह तथा अपेक्षित सहयोग के परिणामस्वरूप ही मुझे अपना शोधकार्य पूर्ण करने में सफलता प्राप्त हुई है। अपनी गुरुमाता श्रीमती मालती पाण्डेय जी का भी मैं ऋणी हूँ जिनका पुत्रवत स्नेह व आर्शिवाद मुझे सदैव आलम्ब प्रदान करता रहा।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के प्रबल प्रहरी एवं देश के प्रख्यात मनीषी प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय एवं प्रो० रामशकल पाण्डेय की कृतियाँ एवं उनका आर्शिवाद, निरन्तर मेरा मार्गदर्शन एवं उत्साहवर्धन करता रहा। शोध कार्यों के प्रति मनोबल बढ़ाने एवं आवश्यक सहयोग करने के लिए मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय की कार्यपरिषद के पूर्व सदस्य श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय एवं श्री श्यामकृष्ण पाण्डेय के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

समय–समय पर आवश्यक सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन–इतिहास–संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० विद्याधर मिश्र एवं वर्तमान अध्यक्ष प्रो० ओमप्रकाश यादव का ऋणी रहूँगा। इस शोध कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण सहयोग देने के लिए मैं विशेष रूप से डा० गायत्री गहलौत एवं डा० भुवनेश्वर गहलौत का सदैव आभारी रहूँगा।

शोधकार्यों में सहयोग देने के लिए मैं अपने विभाग के गुरुजनों, डा० जयनारायण पाण्डेय, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० जे० एन० पाल, डा० ज्ञानेन्द्र कुमार राय, डा० हरिनारायण दुबे, डा० उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, डा० पुष्पा तिवारी, डा० सुधा कुमार, डा० सुनीती पाण्डेय, डा० डी० पी० दुबे, डा० ए० पी० ओझा, डा० रंजना

बाजपेयी, डा० हर्ष कुमार, श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव, डा० डी० के० शुक्ला, डा० शशिकान्त राय, डा० अनामिका राय, डा० प्रकाश सिन्हा आदि के प्रति कृतज्ञ हूँ।
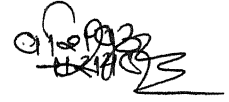
मेरे शोध कार्य में आवश्यक सहयोग प्रदान करने के लिए मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अन्य अध्यापकों में डा० जटाशंकर तिवारी, डा० शंकरदयाल द्विवेदी, डा० राम सेवक दुबे, डा० ब्रह्मानन्द सिंह, डा० अनुपम पाण्डेय, डा० मानिक चन्द गुप्ता एवं डा० सुशील त्रिवेदी और नेहरू युवा केन्द्र संगठन के निदेशक श्री चन्द्रशेखर "प्राण" तथा सुप्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य एवं प्राध्यापक डा० गिरिजाशंकर शास्त्री के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली के प्राध्यापक डा० हरिराम मिश्र के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अतिरिक्त विषय के अनुशीलन एवं दिशा निर्देशन में जिन अन्य आचार्यों एवं विद्वानों से मुझे सहयोग प्राप्त होता रहा है, उसके लिए मैं उन सभी के प्रति ऋणी रहूँगा।

मेरे शोध में सहयोग करने वाले मित्रों में श्री राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, श्री अशोक कुमार तिवारी, श्री प्रत्यूष पाण्डेय, बालमुकुन्द मिश्र, श्री केसरीनन्दन तिवारी, डा० बालकृष्ण मिश्र, श्री कृष्णा गिरि, श्री राजकुमार, श्री रमेश यादव, श्री रामबदन यादव, श्री बाल गोविन्द त्रिपाठी, श्री अनन्त कुमार मिश्र, डा० अनिल तिवारी, डा० क्षमापति मिश्र, डा० उमाशंकर सिंह, डा० विधानचन्द्र चतुर्वेदी, डा० भानुप्रताप द्विवेदी, डा० प्रणव कुमार शुक्ल, डा० अशोक कुमार सिंह, डा० मनोज कुमार मिश्र, डा० सुधीर कुमार तिवारी, सुरेन्द्र कुमार चौबे, सुनील कुमार गुप्ता आदि का मैं विशेष आभारी हूँ। इसके साथ ही श्री प्रकाश मिश्र, ओमप्रकाश मिश्र, रविप्रकाश मिश्र, श्री रज्जन प्रसाद तिवारी, माता भीख तिवारी, उमेश चन्द्र मिश्र, कौशलेश कुमार शुक्ल, पुलेन्द्र कुमार शुक्ल के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस श्रमसाध्य कार्य को सुगम बनाया।

श्री सुनील कुमार चतुर्वेदी को शोध प्रबन्ध के टंकण और श्री विक्की सूरी फोटोग्राफी तथा श्री सतीश चन्द्र राय को पुस्तकालय सहयोग देने के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

मैं अपने बाबा श्री हरिशंकर शुक्ल, दादी स्व० श्रीमती इन्द्रावती शुक्ला, चाचा–चाची श्री त्रिभुवन नाथ शुक्ल एवं श्रीमती गायत्री शुक्ला, बहनों में सुनीता त्रिपाठी और हितेन्द्र कुमार त्रिपाठी, संगीता मिश्रा तथा राजशेखर मिश्र, अपर्णा, सरिता, रीतू एवं परिवार के सभी सदस्यों के प्रति हर सम्भव सहयोग देने के लिए ऋणी हूँ।

अन्त में मैं अपने पिता जी डा० दीनानाथ शुक्ल 'दीन'' वरिष्ठ उपाचार्य वनस्पति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं माता श्रीमती सावित्री शुक्ला जिनके कि आशिर्वाद एवं स्नेह के परिणामस्वरूप यह शोध कार्य पूर्ण हुआ के प्रति, सम्मान प्रकट करता हूँ।

वशिष्ठ नारायण शुक्ल

प्रथम अध्याय

प्राचीन भारत में शिक्षा एवं उसकी स्वरूप

प्राचीन भारत में शिक्षा एवं उसका स्वरूप

भारत के ऋषियों–मुनियों ने भौतिक, आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत निर्वाह के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता को सदैव स्वीकार किया है। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति ने यहाँ की अनुपम संस्कृति एवं सभ्यता को चार हजार वर्षो से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा, इसका प्रचार प्रसार किया तथा इसमें संशोधन किया।[1]

भारतीय मनीषियों एवं चिन्तकों ने वैदिक युग से ही इसे ऐसा प्रकाश का श्रोत माना है, जो मानव–जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को प्रकाशमान करता आया है। ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र भी बताया गया है। वहीं सुभाषित रत्न भण्डार[2] में कहा गया है कि 'जीवन की समस्त कठिनाइयों तथा बाधाओं को दूर करने वाले ज्ञानरूपी नेत्र जिसे प्राप्त नहीं हैं, वह वस्तुतः अन्धा है। विद्या ही ऐसा धन है जो व्यय करने पर और भी बढ़ता है।

विद्या ही मनुष्य की सबसे बड़ी सुन्दरता है। यही उसका छिपा व सुरक्षित धन है। विद्या ही भोग–विलास देने वाली यश व सुख देने वाली तथा गुरुओं का भी गुरु है। विदेश में विद्या ही मित्र बनती है, विद्या ही परम देवता है। राजाओं के बीच विद्या ही पूजी जाती है, धन नहीं पूजा जाता। विद्या विहीन मनुष्य पशु के समान है।[3] विद्या ही मनुष्य का सच्चा भूषण है।[4]

मनु ने सारी शिक्षाओं का मूल तथा पर्यवसान परमात्मोपलब्धि एवं आत्मज्ञान में प्रशिक्षण ही बताया।[5] गीता में कहा गया है कि शिक्षादि से परमात्मा को प्राप्त किए बिना तथा देखे बिना और भ्रम, अज्ञान, अशिक्षा की निवृत्ति हुए बिना सुख–शान्ति असम्भव है।[6]

ज्ञान इस लोक का हो, परलोक का हो या आत्मा का हो, जिससे उसे प्राप्त करना है, उसे सबसे पहले नमस्कार करें।[7] भारतीय शिक्षा प्रणाली के आदर्श वाक्य के

रूप में वेद का अनुशासन है –'विशेष ज्ञानी – ज्ञानामृत में प्रतिष्ठित व्यक्ति अज्ञानियों में बैठकर उन्हें ज्ञान प्रदान करें।[8] शिक्षाशास्त्र के आद्य प्रवर्तक भगवान् शंकर हैं। शंकर ने अपनी 'शंकरी शिक्षा' पाणिनि मुनि को दी।

पाणिनि ने शंकरी शिक्षा के महत्व का वर्णन किया है। त्रिनयन शंकर के मुख से निर्गत इस शिक्षा को जो द्विज पढ़ता है वह इस लोक में धन धान्य व कीर्ति प्राप्त करता है और अन्त में स्वर्ग पहुंचकर अतुल सुख का भोग करता है।[9] शंकरी शिक्षा में हृदय भी उच्चारण स्थान माना गया है। आचरणहीन गुरु से प्राप्त वर्णोच्चारण का ज्ञान वर्ण को दग्ध करके अपवर्ण बना देता है।

'शिक्ष विद्योपादाने' (भ्या० अ० से०) धातु से 'अ' प्रत्यय कर 'टाप्' करने से शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है। 'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा' अर्थात प्राणी जिस साधन प्रणाली से ज्ञान उपार्जित करता है, उसी का नाम शिक्षा है। महर्षि पाणिनि के अनुसार 'शिक्षा' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं।[10] आचार्य उपाध्याय आदि से विद्यार्थी – शिक्षार्थी का सम्बन्ध विद्या सम्बन्ध कहलाता था।[11] शिष्य का गुरु के पास शिक्षा अध्ययन हेतु जाना आचार्यकरण और उपनयन कहलाता था।[12]

गोस्वामी तुलसी दास जी ने लिखा है 'विद्या बिनु विवेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ।[13] जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाय उसे शिक्षा कहते हैं, अथवा जो सीखे जायं वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं। शिक्षा को ही 'शीक्षा' कहा गया है। यह वैदिक प्रक्रिया के अनुसार है।[14] प्राचीन काल में बच्चों की रुचि एवं प्रवृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें उस दिशा में अग्रसर करने की प्रणाली का प्रचलन था।[15] विद्या से अमृतत्व प्राप्त होता है।[16]

अथर्ववेद में कहा गया है कि अन्धकार (अविद्या) से निकलकर प्रकाश (ज्ञान) की ओर बढ़ो।[17] ऋग्वेद में कहा गया है कि हम विद्वानों से मैत्री करें।[18]

कालिदास ने कहा है कि कोरे पुस्तकीय ज्ञान को प्राप्त कर लेना अपने में कोई अर्थ नहीं रखता, विद्या अर्जन के बाद उसके सतत अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।[19] विद्या को सभी धनों में प्रधान निरूपित करते हुए बताया गया है कि इसे न तो चोर चुरा सकता है, न भाई बंटा सकता है, न राजा छीन सकता है और न ही यह

मनुष्य के लिए भारतुल्य होती है। यह ऐसा धन है जो व्यय करने पर भी बराबर बढ़ता है।

महाकवि कालिदास ने शिक्षक को ही सुतीर्थ की संज्ञा देते हुए बताया है कि जो शास्त्र ज्ञान का उपयोग मात्र जीविकोपार्जन के लिए करता है वह अध्यापक नहीं, वणिक है।[२०] विद्या के समान दूसरा नेत्र नहीं है।[२१] विद्या (ज्ञान) ही 'मोक्ष' की जननी है।[२२] देवता हमारी रक्षा उत्तम बुद्धि देकर करते हैं न कि चरवाहे की भांति डण्डा लेकर।[२३]

जिनकी विद्या, कुल और कर्म – ये तीनों शुद्ध हों उन साधु पुरुषों के साथ रहना स्वाध्याय से भी श्रेष्ठ है।[२४] भगवान स्वामी नारायण ने शिक्षापत्री में शिक्षा प्रणाली के विषय में लिखा है–[२५] कि परमानन्द स्वरूप परमात्मा को लक्ष्य करने वाली एकमात्र विद्या ही है।

विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। विद्या और सच्ची लगन के साथ जो व्यक्ति कर्म करता है वही अधिक शक्तिशाली होता है।[२६] वस्तुतः ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है और वह ज्ञान–सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है। वैदिक युग में ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी। जो लोग अनेक प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करते हैं, वे देवताओं को प्रसन्न करते हैं तथा अपनी कामनाएँ पूर्ण करते हैं।[२७] अतः विद्या अथवा ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है। भारतीय विचारकों द्वारा तीन लोकों की कल्पना की गई है–मनुष्य–लोक, पितृ–लोक और देवलोक। पितृ–लोक यज्ञादि कर्म द्वारा और देव–लोक विद्या द्वारा ही जीता जा सकता है। तीनों लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है, इसलिए विद्या प्रशंसनीय है।[२८] बौद्ध धर्म में ज्ञान का बहुत महत्व है, क्योंकि निर्वाण ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। अतः पठन–पाठन हेतु बौद्धों ने मठों की स्थापना का कार्य किया।[२९]

मनुष्य के जीवन में विद्या अथवा ज्ञान का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। अज्ञानता अन्धकार के समान है।[३०] जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से संयुक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।[३१] ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति अपने कुल की ब्रह्मज्ञता की

प्रतिष्ठा करता है तथा शोक और पाप से रहित होता है। यह कहा गया है कि विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं।[३२]

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही नहीं, ज्ञान से उसे शाश्वत की उपलब्धि भी होती है; अमरत्व और स्वर्ग की प्राप्ति भी उसी से होती है।[३३]

शिक्षा से मनुष्य को जीवन संबंधी सिद्धान्तों और आचरणों को समझने में आसानी होती है। इसीलिए ज्ञान को 'अप्रतिम' माना गया।[३४] प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का ज्ञान अप्रतिम और अनुपम माना जाता था। इसीलिए ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है।[३५] विद्या और ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित होता है। जीवन के समस्त लौकिक सुखों की प्राप्ति विद्या के माध्यम से ही सम्भव मानी गयी।[३६]

ब्राह्मण जन्म से ब्राह्मण होता है; जब उसके समस्त संस्कार होते हैं तब वह उच्च्व होकर 'द्विज' कहा जाता है तथा विद्या प्राप्त कर लेने पर वह 'विप्र' होता है, और इन तीनों के समन्वित होने पर वह 'श्रोत्रिय' कहा जाता है। जो वेदों एवं शास्त्रों को पढ़ता है और शास्त्रों के अर्थ का सेवन करता है, वह 'वेदावित्' अर्थात् वेदों का ज्ञाता कहा जाता है। उसके वचन पवित्र करने वाले होते हैं।[३७]

गृहस्थ ब्राह्मण के पांच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञ में विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रधान है।[३८] शिक्षा ने स्वयं विद्वान ब्राह्मण से कहा कि 'मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ अतः मेरी रक्षा करो और योग्य व्यक्ति को ही शिक्षा दो'। गुणों में दोषदर्शी, कुटिल स्वभाव वाले और मन आदि इन्द्रियों को वश में न रखने वाले व्यक्ति को मुझे मत देना।[३९] अतः शिक्षा के लिए कुशल, कर्मठ, सत–चरित, अच्छी स्मरण शक्ति वाले छात्र या छात्रा का प्रवेश किया जाता है।[४०]

शिक्षाविद आचार्य के मन में धन प्राप्ति की लिप्सा शिक्षण कार्य में बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः प्राचीन ऋषियों ने शिक्षा के बदले धन लेने की निन्दा की है।[४१] आचार्यत्व के स्तर पर ही हमारे शास्त्रों में आचार्य और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थी के

बीच में सद्भाव स्थापित है।[४२] त्यागवृत्ति सम्पन्न तथा धन की तृष्णा से परे आचार्य ही भारतीय जीवन पद्धति में शिक्षक रहे हैं।[४३]

महाकवि कालिदास ने महर्षि वशिष्ठ के लिए कुलपति शब्द प्रयोग किया है। इसका अर्थ था जो १० हजार शिष्यों को अन्न–पान आदि की सुविधा प्रदान करे और शिक्षा भी दे।[४४] आचार्य अपने शिष्य को उसके उपनयन के पश्चात शिक्षादि अंगों के साथ तथा रहस्यों की व्याख्या के साथ समग्र वेद की विद्या प्रदान करता है।[४५]

'उपाध्याय' वह कहलाता था जो कि अपनी आजीविका के लिए शिष्यों को वेद के एक अंग की अथवा वेद के सभी अंगों की शिक्षा देता था।[४६] जो यजमान के यहाँ गर्भाधान आदि संस्कारों को विधिपूर्वक कराता है और शिष्यों के भोजन का भी प्रबन्ध करता है उसे गुरु कहते थे।[४७]

उपनयन की विधि सम्पन्न हो जाने पर गुरु अपने शिक्षा को 'भू: भुवः स्वः' का उच्चारण कराकर वेद पढ़ाने और अन्य दैनिक क्रियाओं को बोध करावें। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति है गु = हृदयान्धकारम् रावयति = पूरीकरोतीति गुरुः।[४८]

श्री भगवान् तो सभी के गुरु हैं।[४९] ब्रह्माजी ने सर्ग के आरम्भ में श्री विष्णु भगवान से ही वेद–विद्या प्राप्त की थी।[५०] श्री कृष्ण ने गीता में कहा है – गुरुभाव एवं गुरु की कृपा से ही तत्वज्ञान प्राप्त होता है।[५१] शिष्यों की भांति गुरुओं को भी कर्तव्यपालन के निर्देश थे ।[५२] मनु जी विद्या सम्बन्ध को एवं आचार्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।[५३]

जो धर्म गुण सेवी, श्रेष्ठ आचार पदार्थ को ग्रहण करे, दुर्गुण, दुराचार को त्याग कर ईश्वर–शास्त्रादि में श्रद्धा करे वही पंडित है। शिष्य के पाप का भी भागी गुरु होता है अतः योग्य शिष्य का चयन करना आवश्यक होता है।[५४] कालिदास की मान्यता है कि उत्तम पात्र को दी गयी शिक्षा अवश्य उत्कर्ष प्रदान करती है।[५५] ऋषि विश्वामित्र ने कहा है कि सन्ध्या व स्नान के बाद ही अध्ययन करना चाहिए।

यह नियम था कि शिष्य को हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।[५६] ब्रह्मवेला दत्तात्रेय जी ने २४ गुरुओं से शिक्षा प्राप्त किया था।[५७] ये गुरु थे, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, चन्द्रमा, अग्नि, सूर्य, कबूतर, अजगर,

समुद्र, पतंग, मधुमक्खी, हॉथी, मधु निकालने वाला, हरिन, मछली, पिंगल वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृंगड़ी कीट।

ज्ञान–विज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता और सद्‌गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।[५८] शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण के लिए उत्तम गुरु से ही शिक्षा शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।[५९] वर्णों का सम्यक् प्रयोग करने वाला विद्वान ब्रह्मलोक में भी सम्मान पाता है।[६०]

शिक्षा पद्धति के समान ही सही शिक्षा परीक्षित होने पर उसी प्रकार खरी उतरती है, जिस प्रकार अग्नि में डाला गया सोना।[६१] रघुवंश में आचार्य वरतन्तु ने अपने शिष्य कौत्स के विद्याध्ययन के प्रति अपना पूर्ण सन्तोष व्यक्त किया था।[६२] एक अच्छे शिक्षक के विषय में महाकवि कालिदास ने कहा है कि उच्चकोटि की अध्यापन क्षमता के साथ–साथ उसको अपने विषय पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए।[६३]

'छात्र' उन्हें कहते थे जो केवल स्वाध्यायरत होकर गुरुजनों के दोषों पर भी क्षत्रवर्त आवरण देकर, उनके यश को फैलाते थे।[६४] 'विद्यार्थी' उसे कहते थे जो गुरु को विद्या का धनी समझकर उनसे विनम्रतापूर्वक विद्या की याचना करता था।[६५] अन्तेवासी उसे कहा जाता था जो गुरु के समीप रहकर विद्याध्ययन करता था।[६६] शासन करने योग्य को शिष्य कहते थे।[६७] अयोग्य उच्छृखंल, अनवदित शिष्यों के लिए तीर्थध्वाऽश्च, तीर्थकाल, जाल्म आदि शब्द प्रयुक्त हुए है।[६८]

जिसका मन नित्य निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्म में विचरण करता है वही सच्चा ब्रह्मचारी है श्री हनुमानजी एवं भीष्म पितामह इसके उत्तम उदाहरण हैं।[६९] पुरुष को चाहिए कि माता, बहन, पुत्री ही क्यों न हो एकान्त में उसके साथ कभी न रहे।[७०] आचार्य द्रोण द्वारा अपने शिष्यों को लक्ष्य प्राप्ति में पूरी एकाग्रता का निर्देश दिया गया है।[७१] अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्‌देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[७२]

व्रतों के पालन से संयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का भान होता है जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है। आचार्य–कुल में रहते हुए अग्नि–परिचर्या के नैतिक नियम का पालन भी ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था, और अनुशासन का एक अंग भी।[७३] मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान–क्रिया आदि, अग्निकार्य और संध्योपासन ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे।[७४]

गुरूकुल अथवा गुरू के सान्निध्य में रहने वाला ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशों का पालन करता था। उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर दोष का आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार में तुम्हें ऊपर बताये गये गुणों से युक्त ब्राह्मण विद्वानों के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए।[७५]

सामान्यतः विद्यार्थी के लिए सन्ध्या–वन्दन, पूजा–पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गये थे। सत्य भाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से भी धर्मों का क्षय हो जाता है। मनुष्य के जीवन में तप, दान, आर्जव(सरलता), अहिंसा और सत्यवचन–जैसे तत्व अनिवार्य माने गए।[७६]

छांदोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध अथवा आधार–स्तम्भ बताये गये हैं। पहला स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन और दान था, दूसरा स्कन्ध तप अथात् कष्ट–सहिष्णुता और तीसरा स्कन्ध आचार्य–कुल (गुरूकुल) में रहते हुए अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना। अतः इन धर्म–स्कन्धों का अनुगमन करने वाले सभी लोग पुण्यलोक प्राप्त करते थे।[७७]

उन दिनों गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पंडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूज्यनीय था।[७८] सहिष्णुता और सौहार्द्र, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्धन था, वही पण्डित था।[७९]

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था और उसमें समस्त देवता अधिवास करते थे।[८०] समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था।[८१] ब्रह्मचारी द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप में शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था।[८२] चरित्र और आचरण के उत्थान में ब्रह्मचारी का व्रत अनिवार्य था, इसीलिए शिक्षार्थी को 'ब्रह्मचारी–व्रती' कहा गया था।

ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक इंद्रिय–निग्रह और व्रत–पालन का विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संयुक्त हो गया था।[८३] वस्तुतः चरित्र के उत्थान में ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय अर्थात् वेद, अथवा दूसरे शब्दों में, ज्ञान को प्राप्त करना था जो शाश्वत और दिव्य था। तप तो ब्रह्मचर्य–जीवन का आवश्यक महिमामय अंग ही था।[८४] शौच, पवित्रता, आचार, स्नानक्रिया अग्निकार्य और संध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार–तत्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था।[८५] अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का पर्याय समझा जाने लगा था।[८६] ब्रह्मचर्यरूपी तपोबल से विद्वान लोगों ने मृत्यु को जीता है।

शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था, उसी समय उसका आत्मविश्वास जगाया जाता था तथा अग्नि से यह प्रार्थना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति में वृद्धि करे[८७] जिससे अग्नि–शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति की कीर्ति सभी दिशाओं में प्रसरित हो। अनेक देवताओं के पूजन के साथ उसमें यह भावना दृढ़ हो जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेंगे। ब्रह्मचारी की चोट, रोग और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था।[८८]

गीता में कहा गया है कि संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दुःखों को दूर करता है जो यथायोग्य आहार–विहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्य रत करने वाला तथा यथायोग्य सोनेवाला और जागने वाला होता है।[८९] इस तरह ब्रती, नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्मसंयम का महत्वपूर्ण आधार था।

विद्यार्थी के समावर्तन समारोह के उपदेश में उसके लिए इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया था, "सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद न करना। आचार्य की दक्षिणा दे लेने पर सन्तति–उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। लाभ कार्य में प्रमाद न करना। महान् बनने के सुअवसर से न चूकना। पठन–पाठन के कर्तव्य में प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) से प्रमाद न करना। माता को देवी समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना। अन्यान्य दोष–रहित कार्यों को करना।"[६०]

शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर इस संसार में और परलोक में जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकता था।[६१] वैदिक ग्रंथों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए ऋग्वेद में ब्रह्मचारी शब्द प्रयुक्त हुआ है।[६२]

ऋग्वेद के एक सूक्त से यह स्पष्ट है कि विद्यार्थी पिता या गुरू से मौखिक शिक्षा प्राप्त करते थे और अपने पाठ को बार–बार दोहराकर कंठस्थ करते थे।[६३] गुरू विद्या समाप्ति पर शिष्य को जो अनुशासन देता है उससे उपनिषद काल में शिक्षा के उद्देश्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[६४] गुरू कहता है : 'हे शिष्य, तू सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत कर।[६५]

जब विद्यार्थी वैदिक ग्रंथों का अध्ययन प्रारंभ करता था, विद्वान कुछ मंत्रों का उच्चारण करते थे जिनमें प्रार्थना की जाती थी कि ईश्वर उसे मेधावी बनावे, धार्मिक साहित्य को स्मरण करने की शक्ति दे और विद्या प्राप्ति में सफलता प्रदान करे।[६६] स्मृति और मेधा ही विद्यार्थी के लिए पर्याप्त नहीं समझे जाते थे उसका शारीरिक विकास होना भी उतना ही आवश्यक समझा जाता था।[६७] इसके लिए उपयुक्त निवास स्थान मिलना भी आवश्यक था।[६८]

शिक्षा में आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक जीवन मूल्यों से सम्बन्धित सुसंस्कृत मानव की परिकल्पना ही मानवीय आदर्शों से युक्त शिक्षा–दर्शन का उद्देश्य था। राधा कुमुद मुखर्जी ने गुरु और शिष्य के सम्बन्धों को पिता–पुत्र जैसा बताया है।[६९]

जब विद्यार्थी गुरूकुल में प्रविष्ट होता था गुरू उसे दण्ड[100] और मेखला[101] देता था। कुछ मंत्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थी अपने शरीर को देवताओं को अर्पण कर देता था और फिर उनसे, बुद्धि, विद्वता, अनुशासन, राजाओं के समान तेजस्विता सहित पुर्नजीवन प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता था।[102]

दीक्षांत समारोह के समय वह वैदिक ग्रंथों के प्रति आदर प्रकट करता था और तेज, यश, दीर्घ जीवन, शक्ति, पशु, संपत्ति और संतान प्राप्ति की प्रार्थना करता है।[103] जल से प्रार्थना करता है कि उसके हृदय में घृणा, असत्य की भावना न रहे और सदा वीर्य की वृद्धि हो।[104] उसी समय भावी वैवाहिक जीवन की समृद्धि और प्रसन्नता के लिए भी प्रार्थना की जाती है।[105] बिना वैदिक ज्ञान की प्राप्ति के कन्याएं भी सफल दाम्पत्य जीवन नहीं बिता सकती थीं।[106]

अथर्ववेद में हमें ब्रह्मचारी जीवन की एक झलक भी मिलती है। गुरू के लिए वह अग्निहोत्र के लिए समिधा इकट्ठी करके लाता था और उसके लिए गृहस्थों से भिक्षा मांग कर लाता था।[107] भिक्षा में जो भी अन्न विद्यार्थी प्राप्त करते थे उसमें से कुछ अग्नि को अर्पण करके ही वे उसका उपयोग करते थे।[108] अनेक राजा ऋषियों के आश्रमों पर आक्रमण करते थे उस समय विद्यार्थी निर्भीकतापूर्वक इन आश्रमों की रक्षा करते थे।[109] इस काल में विद्वान वाद–विवाद के द्वारा विचारों का आदान–प्रदान करते थे।[110]

अथर्ववेद के एक प्रकरण में मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप के विषय में अनेक शंकाएं की गई हैं–जैसे कि मनुष्य में प्रेम और घृणा, निद्रा, स्वप्न, दुःख, थकावट, हर्ष और सुख की अनुभूति किसने उत्पन्न की।[111] एक दूसरे प्रकरण में विश्व और पुरुष के स्वरूप का विवेचन किया गया है जिसके अनुसार 'पुरुष' को जानने वाला व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है क्योंकि सभी वेदताओं का निवास 'पुरुष' में है।[112] विद्यार्थी इस आश्रम में मृगचर्म ओर मेखला धारण करता था।[113] इस काल में विद्यार्थी अतिथि सत्कार का पूर्ण ध्यान रखते, सबके साथ उदारता का व्यवहार करते और धर्म में आस्था रखते थे।

स्मृतियों में शिक्षा के उद्देश्य का निरूपण किया गया है। शिक्षा ज्ञानोदय की प्रक्रिया समझी जाती थी। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति कर सकता था। महाभारत के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में धार्मिक प्रवृत्ति की वृद्धि करना है।[११४]

मनु उपनयन संस्कार को 'ब्रह्मजन्म' अर्थात आध्यात्मिक जन्म कहता है जिसमें माता सावित्री (गायत्री मंत्र) और पिता आचार्य होता है।[११५] उसने जो अध्यापक शुल्क लेकर पढ़ाते हैं उन्हें उपपातकी (छोटा पाप करने वाला) कहा है। उशनस ने ऐसे अध्यापक को वृत्तिक कह कर उसकी निंदा की है।[११६]

जो विद्यार्थी गुरू के अनुशासन में नहीं रहते थे या पढ़ाई पर ध्यान नहीं देते थे उन्हें पतंजलि ने 'खट्वारूढ़' अर्थात खाट में पड़े रहने वाला कहा है।[११७] जो विद्यार्थी बार–बार अध्यापक बदलते थे उन्हें पतंजलि ने 'तीर्थकाक' कहा है। पतंजलि ने निंदनीय विद्यार्थियों के लिए कुछ अन्य विशेषण दिए हैं जैसे कि कन्याओं के कारण दाक्ष के शिष्य बनने वाले 'कुमारीदाक्ष', भिक्षा का माल हड़पने की इच्छा से बने शिष्य 'भिक्षा माणव', भात खाने की इच्छा से बने पाणिनि के शिष्य 'ओदन पाणिनीया', घी के लिए बने शिष्य 'घृत–राढीयाः', और कंबल लेने की इच्छा से बने शिष्य 'कंबल चारयणीयाः'।[११८]

किसी ऐसे प्रसिद्ध अध्यापक के लिए जिसके पास सैकड़ों मील से विद्यार्थी पढ़ने आते थे पतंजलि ने 'यौजन शातिक' पद प्रयुक्त किया है।[११९] शिष्य आचार्य को शिक्षा समाप्ति पर गुरू दक्षिणा के रूप में भूमि, सुवर्ण, गाय, घोड़ी, छत्री, जूते, अनाज, शाक या वस्त्र देते थे। शुल्क लेने वाले अध्यापक और शुल्क देने वाले शिष्य का समाज में आदर नहीं था। उसे श्राद्ध भोजन का निमंत्रण भी नहीं दिया जाता था।[१२०] भगवान श्री कृष्ण ने गुरु पत्नी के आदेश का पालन करते हुए सयंमनी से उनकी दिवंगत सन्तान लाकर दी थी।[१२१]

वशिष्ठ और आपस्तंब के धर्मसूत्रों में लिखा है कि आर्य विद्यार्थी को बर्बर लोगों की भाषा नहीं सीखनी चाहिए। वशिष्ठ धर्मसूत्र भाषा–विज्ञान (शब्द–शास्त्र) के अध्ययन

के भी विरूद्ध है।[१२२] हनुमान की शिक्षा के विषय में राम के शब्दों से ऐसा आभास मिलता है कि वह वेद और वेदांगों का ज्ञाता थे।[१२३] वह राजनीति के पंडित थे।[१२४]

रावण राक्षस जाति का होते हुए भी वेद विद्या में पारंगत था।[१२५] राम ने भी उसके छात्र गुणों की प्रशंसा की है।[१२६] उसके पुत्र इंद्रजीत और अतिकाय भी उसी की भांति विद्वान और शास्त्रविद्या में निपुण थे।[१२७]

इस काल के राक्षस जाति तथा वानर जाति के लोग आश्रम जीवन से पूर्णतया परिचित थे क्योंकि विन्ध्याचल से दक्षिण में श्रीलंका तक अनेक ऋषियों के आश्रम स्थित थे।[१२८] राम के गुरु भी आश्रम में रहते थे।[१२९] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय, काठक और मानव[१३०] शाखाओं के विद्वान भी अयोध्या में रहते थे।

मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि उस समय अधिकतर विद्यार्थी वैदिक साहित्य के अतिरिक्त स्मृतियां,[१३१] इतिहास और पुराण पढ़ते थे।[१३२] वानप्रस्थी वैखानस–सूत्र[१३३] का अध्ययन करते थे। कुछ अन्य विद्यार्थी नास्तिक संप्रदायों के शास्त्र,[१३४] अर्थशास्त्र और उससे संबद्ध विषय।[१३५] तर्कशास्त्र (आन्वीक्षकी) और राजनीतिकशास्त्र (दंडनीति)[१३६] का अध्ययन करते थे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तीनों वेदों के ज्ञान, अर्थशास्त्र आन्वीक्षिकी और दंडनीति को सबसे महत्वपूर्ण विद्याएं बतलाया गया है।[१३७] इसी ग्रंथ में लिखा है कि राजा मिलिंद श्रुति, स्मृति, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, दर्शन, गणित, संगीत, आयुर्वेद धनुर्विज्ञान, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, इंद्रजाल, कारण–कार्य संबंध, मंत्र–संत्र, युद्ध कला, कविता और मुद्रा–विज्ञान इन १६ कला और विज्ञानों के ज्ञाता थे।[१३८] दिव्यावादन (चौथी शती ई०) से हमें ज्ञात होता है कि वैश्य विद्यार्थी लेखन कला, गणित, मुद्राशास्त्र, ऋण निधि, मणि परीक्षा और अश्व हस्ति विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते थे। वैश्यों और शूद्रों को कृषि विज्ञान और पशुपालन विज्ञान सीखना पड़ता था।

मनु के अनुसार वैश्यों को मणियों, मोतियों, मूंगों, धातुओं, वस्त्रों, इत्र, मसालों, बीजों के बोने का ढंग, मिट्टी के विभिन्न प्रकार, नाप–तोल, पण्य–वस्तुओं के लाने व

ले जाने में छीजन (हानि), पशुपालन, सेवकों के वेतन, विभिन्न भाषाओं और विभिन्न देशों के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[१३९]

गुप्त काल में भी ब्राह्मण विद्यार्थी चौदह या अठारह विद्याओं का अध्ययन करते थे।[१४०] वायुपुराण के अनुसार अठारह विद्याओं में चार वेद, छः वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और अर्थशास्त्र सम्मिलित थे।[१४१] अभिजात–कुल की कन्याओं को संस्कृत साहित्य की शिक्षा दी जाती थी, वे संगीत नृत्य और चित्रकला में भी निपुणता प्राप्त करती थीं।[१४२] किन्तु अब भी कुछ स्त्रियाँ धर्म और दर्शन में रुचि रखने वाली थीं। महाभाष्य में मीमांसा दर्शन पढ़ने वाली कन्याओं का स्पष्ट उल्लेख है।[१४३]

नारद स्मृति से हमें तत्कालीन औद्योगिक शिक्षा–प्रणाली का पता लगता है।[१४४] बालक ५ वर्ष की अवस्था में अपनी शिक्षा प्रारंभ करता था। उसे अक्षरों और शब्दों का ज्ञान कराया जाता था और गणित पढ़ाया जाता था।[१४५]

युवानच्वांग ने ब्राह्मणों की विद्वता और उनके शिक्षा देने के उत्साह की बहुत प्रशंसा की है। उसने ऐसे अध्यापकों का भी उल्लेख किया है जो जीवन–भर अध्ययन और अध्यापन के लिए निर्धन रहकर सादा जीवन बिताते थे।[१४६] कदंबवंशीय मयूर शर्मा ने भी कांची की घटिका में धर्मग्रंथों का अध्ययन किया था। घटिकाएं वे शिक्षा संस्थाएं थीं जिन्हें राजा या धनी व्यक्ति स्थापित करते थे।[१४७]

मेधातिथि ने प्राचीन स्मृतिकारों की परम्परा का अनुसरण करके दो प्रकार के विद्यार्थियों का उल्लेख किया है :'नैष्ठिक' जो जीवनभर शिक्षा प्राप्त करते थे और 'उप–कुर्वाण' जो शिक्षा समाप्ति पर गुरु दक्षिणा देकर गृहस्थ जीवन बिताने की इच्छा से घर लौट आते थे।[१४८] किन्तु नारदीय पुराण के अनुसार जीवन–भर विद्यार्थी रहना[१४९] और आदित्य पुराण[१५०] के अनुसार दीर्घकाल तक विद्यार्थी रहना कलिवर्ज्य है।

मेधातिथि के अनुसार विद्यार्थी को प्रतिदिन भिक्षा करके भोजन प्राप्त करना चाहिए।[१५१] वराह पुराण में लिखा है कि जो ब्राह्मण अध्यापन कार्य के लिए शुल्क ले उसे श्राद्ध में आमंत्रित न किया जाए।[१५२] किन्तु मत्स्य पुराण अध्यापकों को पढ़ाने के

लिए शुल्क लेने की अनुमति देता है।[१५३] मेधातिथि के अनुसार यदि कोई अध्यापक पहले शुल्क निश्चित करके पढ़ाना आरंभ करे तो यह पाप है किन्तु यदि शिक्षा–समाप्ति पर शिष्य अध्यापक को कुछ धन दे तो यह धन लेना धर्म–विरुद्ध नहीं है।[१५४] मेधातिथि के अनुसार शिक्षा समाप्त करने के बाद विद्यार्थी शहद, मांस आदि का भोजन तो कर सकता था किन्तु जब तक उसका विवाह न हो ब्रह्मचारी ही रहता था।[१५५]

स्मृतिचंद्रिका के अनुसार विद्यार्थी को ब्राह्मण अध्यापक से ही शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। केवल आपातकाल में वह क्षत्रिय या वैश्य अध्यापक से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। किन्तु पालकाप्य संहिता में लिखा है कि ब्राह्मण अध्यापक तीनों वर्णों के, क्षत्रिय अध्यापक दो वर्णों के और वैश्य एक वर्ण के विद्यार्थियों को पढ़ाने के अधिकारी हैं। इसी ग्रंथ के अनुसार उन्हें गुणवान शूद्र को भी शिक्षा नहीं देनी चाहिए।[१५६] इसका अर्थ यह है कि इस काल में भी कुछ क्षत्रिय और वैश्य भी अध्यापन कार्य करते थे। यम[१५७] और कर्म पुराण[१५८] ऐसे अध्यापकों की निन्दा करते हैं जो अपने पास एक वर्ष से रहने वाले विद्यार्थी को भी शिक्षा नहीं देते।

मेधातिथि के अनुसार यदि कोई विद्यार्थी भूल करे तो पहली बार उसे समझा–बुझाकर ठीक मार्ग पर लाना चाहिए। इस पर भी यदि वह ठीक मार्ग का अनुसरण न करे तो अंत में डंडे का प्रयोग धीरे से करना चाहिए।[१५९] इस काल के साहित्य और अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण विद्यार्थी वेद, शास्त्र और छः दर्शन पढ़ते थे। वे तर्कशास्त्र, पुराणों, नाटकों, स्मृतियों और काव्यग्रंथों का भी अध्ययन करते थे। व्याकरण, साहित्य और तर्कशास्त्र की शिक्षा पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता था।[१६०]

युवानच्वांग के वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि सातवीं शती ईसवी में भी ब्राह्मण विद्यार्थी वेदों और १८ विद्याओं का अध्ययन करते थे। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्यार्थी नाट्य–कला, चित्र–कला, फलित–ज्योतिष, कुक्कुट–विद्या, अश्व विद्या, हस्तिविद्या, राजनीतिक–विज्ञान, ज्योतिष व्याकरण, गणित और पराविद्या की भी शिक्षा प्राप्त करते थे।[१६१]

वेद, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ललित कलाओं, धनुष आदि के प्रयोग आदि में भी राजकुमारों की परीक्षा ली जाती थी।[१६२] वशिष्ठ और कात्यायन की स्मृतियों के अनुसार विद्यार्थी को केवल अपनी ही शाखा का वैदिक साहित्य पढ़ना चाहिए।[१६३] किन्तु मेधातिथि का मत है कि विद्यार्थी को एक वेद की एक, दो या तीन जितनी शाखाओं के साहित्य को वह भली–भांति पढ़ सके पढ़ना चाहिए।[१६४]

'भविष्यत्त कथा' से हमें ज्ञात होता है कि धनी व्यापारियों के पुत्र इस काल में भी पढ़ने के लिए गुरु के घर जाकर रहते थे। वैश्यों को बाजारों के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती थी।[१६५] मेधातिथि के अनुसार वैदिक साहित्य के विद्यार्थी को विवाह के बाद भी इन शास्त्रों में अधिक निपुणता प्राप्त करने के लिए विदेश जाना चाहिए।[१६६] कुट्टनीमतम् की एक उपमा से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस काल के विद्वान भली–भांति जानते थे कि विश्वयात्रा से मनुष्य साधारण बातों का बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस काल में भी कुछ ऐसे शिक्षक थे जो देश में घूम–घूम कर शिक्षा देते थे।[१६७]

एक मनीषी का कथन है कि ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से आच्छन्न रहता है। गुरू इस आवरण को हटा देता है और तब प्रकाश की किरणें फूट निकलती हैं।[१६८] वैदिक काल से ही आचार्य को शिष्य का मानस–पिता माना गया है।[१६९] बौद्ध और जैन सम्प्रदाय में भी गुरू का समान आदर है। गुरू के इस सम्मान से हमें आश्चर्य न करना चाहिए क्योंकि सभी मानते हैं कि स्कूल की इमारत और सजावट का छात्रों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना एक योग्य और सदाचारी अध्यापक का जो कि उनको उपदेश और प्रेरणा देते हैं।

उपनिषदों का विश्वास है कि मुक्ति का मार्ग तो गुरु ही दिखला सकता है।[१७०] एक बात और ध्यान देने की है। उस युग में पुस्तकें महँगी और दुर्लभ थीं। अतः उस काल के विद्यार्थी आज की अपेक्षा अपने गुरुओं पर अधिक निर्भर थे।[१७१]

प्राचीन भारत के अध्यापक अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते समय हर एक को पृथक–पृथक शिक्षा देते थे। वेदों के विद्यार्थी अपने अध्ययन काल में ही आचार्य के मुख से सुनकर वैदिक मंत्रों का शुद्ध पाठ और तत्संबंधी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

व्याकरण, न्याय, छंद, दर्शन आदि विषयों का विशेषाध्ययन करने वाले स्नातकों को सूत्रों की व्याख्या आदि के लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता न थी। अनेक पाठशालाओं में ज्येष्ठ और योग्य छात्रों को नये विद्यार्थियों को पढ़ाने का अवसर दिया जाता था।[१७२]

सर्वोपरि उसे अपने शास्त्र में पारंगत होना चाहिए तथा यावज्जीवन स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिए। उसे वाक्चतुर, वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन पुस्तकों का तत्काल अर्थ कर देने वाला होना चाहिए।[१७३] संक्षेप में कालिदास के मतानुसार[१७४] आचार्य को विद्वान ही नहीं अपितु पटु अध्यापक भी होना चाहिए। जब अध्यापक को यह विश्वास हो जाता कि उसका छात्र विद्या–दान के लिए उपयुक्त पात्र है तो वह तत्काल उसे पढ़ाना शुरू कर देता था। अकारण ही वह उसकी पढ़ाई न रोक सकता था।[१७५] प्राचीन भारत में अध्यापन अनिवार्य कर्तव्य माना गया था।

कोई भी अध्यापक इस भय से कि उसका शिष्य एक दिन अपनी विद्वता से उसे हतप्रभ कर उसकी वृत्ति पर आघात पहुँचा सकता है उससे कुछ भी न छिपाता था।[१७६] यदि वह कुछ भी छिपाता, तो वह 'आचार्य' पद का अधिकारी न था।[१७७] प्राचीन भारत के आचार्य कितने उदार और विशाल हृदय वाले होते थे इसका अनुमान अलार कलाम के इस वचन से लगाया जा सकता है। स्नातक बोधिसत्व से उन्होंने कहा था :– 'भंते ! आप जैसे आदरणीय और मित्र यति को पाकर हम कितने प्रसन्न हैं। जो ज्ञान मुझे प्राप्त है वही आपको है, जो ज्ञान आपको प्राप्त है वही मुझे। जैसा मैं हूँ, वैसे आप हैं। जैसे आप हैं, वैसे मैं हूँ। भंते, कृपया इस गुरुकुल के संचालन में आप मेरे सहायक हों।

हिन्दू और बौद्ध दोनों संप्रदायों के विचारकों ने गुरू और शिष्य के बीच पिता–पुत्र के संबंध की कल्पना की है। अतः नैतिक दृष्टि से शिष्य के समस्त दोषों का उत्तरदायित्व उस पर था।[१७८] शिष्य के चरित्र पर सर्वदा ध्यान रखना उसका कर्तव्य था। अतः वह उसे बतलाता था कि कौन सी आदतें डालनी चाहिए तथा कौन सी छोड़नी चाहिए, किस कार्य में उसे तत्परता दिखलानी चाहिए तथा किसमें उपेक्षा, अपना

स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए उसे कैसे सोना चाहिए, कैसे और क्या भोजन करना चाहिए, किसका साथ करना चाहिए तथा किन स्थानों में जाना चाहिए।[१७६] छात्र को रुग्णावस्था में पिता की भांति उसकी चिकित्सा और सुश्रुषा का भार भी उसे ही वहन करना पड़ता था।

तक्षशिला के अध्यापकों की ख्याति विश्व भर में थी। उनकी अध्यक्षता में प्रायः पांच–पांच सौ विद्यार्थी पढ़ते थे और धनी छात्र हजार–हजार मुद्राएँ दक्षिणा में देते थे–ऐसा जातक कथाओं में कहा गया है। विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करने वाले प्रत्येक भिक्षु को भरण–पोषण के लिए उतना ही धन मिलता था जिससे चार छात्र गुजर कर सकते थे।[१८०] दक्षिण भारत के बड़े–बड़े विद्यालयों में अध्यापकों की योग्यता और अध्यापन के विषयों को दृष्टि में रखते हुए प्रतिवर्ष १६० से २०० मन चावल मिलता था।[१८१]

राजा, माता–पिता तथा देवता की भांति गुरू का सम्मान और आदर करना छात्रों का कर्तव्य माना जाता था।[१८२] बुद्ध और आपस्तम्ब[१८३] दोनों गुरू के प्रति उच्च सम्मान का उपदेश करते हैं पर साथ ही यह भी व्यवस्था देते हैं कि आचार्य में बुराईयाँ हों तो शिष्य उनकी ओर एकान्त में गुरू का ध्यान आकर्षित करें तथा यदि उसकी दृष्टि बुरे कार्यों में लग गयी हों तो शिष्य का कर्तव्य है कि आचार्य को बुरे रास्ते पर जाने से रोके। यदि आचार्य धर्माचरण से च्युत हो जाय तो शिष्य उनकी आज्ञा मानने या न मानने के लिए स्वतन्त्र हैं।[१८४]

बौद्ध विहारों और हिन्दू गुरुकुलों के छात्रों का अपने आचार्य की सेवा करना कर्तव्य माना गया था। आचार्य को प्रतिदिन समय से जल, दातौन पहुँचाना, उसका आसन उठाना, स्नान के लिए जल की व्यवस्था करना शिष्य का कर्तव्य था (म० व० १. २५. ११–१२)। आवश्यकता पड़ने पर उसे आचार्य के बर्तन और वस्त्र भी साफ करने पड़ते थे। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि गुरू–सेवा बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[१८५]

'धम्मान्तेवासी' अर्थात् मुक्तशुल्क विद्यार्थी आचार्य की गृहस्थी में परिश्रम के सभी काम करते थे। छात्रों के अध्ययन की हानि न हो इसलिए इन्हें रात में पढ़ाया जाता

था।[१८६] नालन्दा में भी लौकिक विषयों के उन विद्यार्थियों को जो निःशुल्क आवास और भोजन आदि की व्यवस्था चाहते थे विहारों में परिश्रम के कुछ काम करने पड़ते थे।[१८७] परस्पर पठनपाठन करने वाले अध्यापकों में भी कोई एक दूसरे की सेवा न करता था।[१८८]

यदि अध्यापक छात्र से अध्यापन–शुल्क लेता तो छात्र को ये काम बहुत कम करने पड़ते थे।[१८९] निर्धन विद्यार्थियों से भी सेवा के कार्य कम–से–कम लिये जाते थे। इस प्रकार स्वभावतया गुरू और शिष्य में बड़ा ही घनिष्ठ और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध था। बुद्ध के शब्दों में वे 'परस्पर सम्मान, विश्वास, एकत्रित जीवन' के कारण अभिन्न हो गये थे।[१९०] कतिपय आचार्यों के परिवारों में तो यह प्रथा इतनी दृढ़ हो गयी थी कि शिष्यों को उनकी इच्छा के विपरीत गुरूकन्याओं को पाणिग्रहण करना पड़ता था।

हिन्दू मनीषियों ने यह नियम बना दिया था कि विद्यार्थी को भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था। अपने इस कर्तव्य से इनकार करने वाले गृहस्थ को दैवी–कोप का भय दिखलाया गया था।[१९१] विद्यार्थी उतनी ही भिक्षा मांगे जितनी उसकी आवश्यकता हो। अधिक के संचय से उसे चोरी का पाप लगता है। भिक्षा में प्राप्त वस्त्र या मुद्रा गुरू–दक्षिणा के रूप में आचार्य को सौंप देना चाहिए।[१९२] प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने नियम बना दिया था कि छात्र–जीवन समाप्त हो जाने पर कोई भी विद्यार्थी भिक्षा मांगने का अधिकारी नहीं।[१९३] हाँ ! गुरू–दक्षिणा के लिए भिक्षा इसका अपवाद अवश्य है। ऐसी भिक्षा में मिली सारी निधि आचार्य को दे देना शिष्य का कर्तव्य माना गया था। यदि किन्हीं कारणों से आचार्य उसे अंगीकार न करें तो किसी धार्मिक कार्य में उसके सदुपयोग की व्यवस्था दी गयी थी। छात्र तथा उसके माता–पिता उस धन का अपने लिए उपयोग न कर सकते थे।[१९४]

स्मृतियों ने व्यवस्था दी है कि यदि विद्यार्थी सप्ताह में एक बार भी भिक्षा मांग ले तो कोई दोष नहीं। अन्यथा थोड़े से प्रायश्चित मात्र से भी काम चल सकता है।[१९५] इससे यह ज्ञात होता है कि धनी विद्यार्थियों के लिए यह नियम नाम–मात्र को ही था पर निर्धन छात्रों के लिए यह आवश्यक था।[१९६] स्मृतियों ने यह भी छूट दी है कि यदि सम्भव हो तो विद्यार्थी आचार्य के घर में ही भोजन कर सकता है।[१९७] दयालु धनी–मानी

सज्जन स्वयं इसका प्रबन्ध करते थे। उदाहरणार्थ काशी में छात्रों के लिए अन्नछत्र खुले हुए थे। अतः इन स्थानों में विद्यार्थियों को भिक्षा मांगने की आवश्यकता न थी। चीनी प्रवासी युवांग–च्वांग का मत है कि भारत में ज्ञान–विज्ञान के व्यापक प्रचार का रहस्य यह है कि यहाँ के विद्यार्थियों को भोजन–वस्त्र, औषधि आदि के लिए सर नहीं खपाना पड़ता था।[१९८]

अब हम विद्यार्थियों के लिए निर्मित सदाचार नियमों की चर्चा करेंगे।[१९९] प्राचीन भारतीय चाहते थे कि विद्यार्थी का जीवन शिष्टाचार, मर्यादा और आत्मसंयम से पूर्ण हो। उसका ध्येय केवल विद्या की प्राप्ति नहीं अपितु देश की सभ्यता, संस्कृति और धर्म का समुन्नयन हो। उन्हें असत्य भाषण, गाली–गलौज और चुगलखोरी से दूर रहने की शिक्षा दी जाती थी। भाषण और विचारों में भी ब्रह्मचर्य के कड़ाई से पालन पर जोर दिया जाता था। कामवासनाओं के दमन से ही मन और चरित्र दृढ़ होता है।[२००] युवावस्था में मांस–मदिरा, मिष्ठान्न, आभूषण आदि की ओर विशेष आकर्षण रहता है। इनके सेवन से काम–वासना उद्दीप्त होती है। अतः छात्रों के लिए इनका सेवन वर्जित कर दिया गया था।

गुरूकुलों में रहने वाले राजकुमारों को भी अपने पास धन रखने की आज्ञा न थी। चुपके से भी वे ये वस्तुएँ न खरीद सकते थे।[२०१] छात्र जीवन का आदर्श जीवन में सादगी तथा विचारों की उदात्तता माना गया था। कंटीले जंगलों से यज्ञ की समिधा चुनने तथा उत्तरी भारत की मरुभूमि को पार कर अध्ययन के लिए तक्षशिला जाने वाले विद्यार्थियों को जूते और छाते के उपयोग की अनुमति थी।[२०२] कतिपय स्थानों में सप्ताह में एक बार–सम्भवतः केश मुण्डन के बाद–तैल के उपयोग की भी अनुज्ञा थी।[२०३]

एक आधुनिक लेखक का मत है कि प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का जीवन बड़ा ही कटु था। उन्हें अनजाने स्थान में रहना पड़ता था। भोजन के लिए भिक्षा मांगनी पड़ती थी या परिश्रम के काम करने पड़ते थे। जीवन में आनन्दों के सभी द्वार उनके लिए बन्द थे।

राधा कुमुद स्वामी मुखर्जी ने भी प्राचीन भारत में विद्यार्थियों की स्थिति का वर्णन किया है। प्रायः छात्र उपनयन संस्कार के पश्चात् गृह त्यागकर गुरू के सान्निध्य में जाता था तथा यहीं गुरूकुल में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था।[२०४]

गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचारी के शिक्षा–ग्रहण करने पर विस्तार से विचार किया गया है। पारस्पर गृह्यसूत्र में यह उल्लिखित है कि आचार्य के सम्मुख जब विद्यार्थी शिक्षा–ग्रहण के निमित्त उपस्थित होता था तब आचार्य उससे पूछता था कि तुम किसके ब्रह्मचारी हो।[२०५] इस पर विद्यार्थी स्वभावतः उत्तर देता है कि आपका ही ब्रह्मचारी हूँ। तत्पश्चात् आचार्य कहता था, "नहीं, तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो; पहले अग्नि तुम्हारा आचार्य है, बाद में हम।" फिर, विद्यार्थी का दायां हाथ ग्रहण कर आचार्य उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करते हुए कहता था, मैं सविता की आज्ञा से तुम्हें शिष्य के रूप में स्वीकार कर रहा हूँ।"

छांदोग्य उपनिषद् में 'आचार्य–कुलवासी', 'अन्तेवासी' जैसे शब्दों के साथ–साथ 'ब्रह्मचर्यवास' (अर्थात् गुरूकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याग्रहण करना) का भी उल्लेख हुआ है।[२०६] कृष्ण और बलराम ने सान्दीपनि मुनि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण की थी।[२०७] कच ने शुक्राचार के कुल में विद्यार्जन किया था।[२०८]

भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रम उच्च कोटि के गुरूकुल थे।[२०९] महाभारत में उल्लिखित है कि मार्कण्डेय और कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान विद्या–स्थल थे।[२१०] स्मृतियों के अनुसार भी छात्र गुरूकुल में रहकर विद्याग्रहण करता था।[२११] विद्यार्थी का गुरूकुल में प्रवेश करना उसके नवीन जन्म के समान था[२१२], जो उसके जीवन की गौरवमयी घटना माना जाता था।

सत्यकाम, जाबाल स्वयं आचार्य हारिद्रुमत गौतम के कुल में अन्तेवासी बनकर ज्ञान–प्राप्ति के निमित्त गया था।[२१३] गुरूकुल अथवा आचार्य–कुल में रहकर शिक्षा गृहण करने की प्रथा प्राचीन काल में बराबर चलती रही। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला में चाणक्य के सान्निध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्ध ग्रन्थों से भी ब्राह्मण आचार्यों के कुलों का विवरण मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस युग में भी लोग गुरूकुलों में रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे।[२१४] कोशल के सुनेत्त और सेल उस युग के

अत्यन्त विख्यात आचार्य थे। मिथिला का ब्रह्मायु ब्राह्मण अनेकानेक शिष्यों का आचार्य था जिसके अन्तेवासी भी उसी कोटि के विद्वान् थे।

आचार्य देवशर्मा को ब्रह्मपूरक ग्राम दान में प्रदान किया गया था।[२१५] ग्यारहवीं सदी का लेखक अलबरूनी भी गुरूकुल का उल्लेख करता है। उसके अनुसार शिष्य दिन–रात गुरू की सेवा में तल्लीन रहा करता था।[२१६] मध्यकालीन अनेक लेखकों से विदित होता है कि गुरूकुल की परिपाटी समाज में थी।

गुरू दीपक के आवरण को हटाकर ज्ञान की किरणें विकीर्ण कर देता है।[२१७] गुरु के लिए कहा गया था कि आचार्य देवता है। यह सही बात है कि अच्छे आचार्य के सम्पर्क से मनुष्य को सच्चे अर्थों में ज्ञान की प्राप्ति होती थी।[२१८] अथर्ववेद में आचार्य के लिए यह विवृत है कि वह उपनयन संस्कार के समय शिष्य को गर्भ में धारण करता था और तीन रात तक अपने उदर में उसे धारण करके उसका पोषण करता था तथा चौथे दिन उसको जन्म प्रदान करता था।[२१९]

जो गृहस्थ विद्वान् शिक्षा प्रदान करता था, वह 'गुरू' की श्रेणी में आता था। पिता भी 'गुरू' की श्रेणी में गृहीत किया जाता था। मनु का कथन है कि जो शास्त्रानुसार गर्भाधानादि संस्कारों को करता था और अन्नादि के द्वारा अपने परिवार का संवर्द्धन करता था, वह ब्राह्मण 'गुरू' कहा जाता था।[२२०]

जो ब्राह्मण वृत होकर (वरण–संकल्पपूर्वक पादपूजनादि कराकर) अग्न्याधान (आहवनीय आदि अग्नि को उत्पन्न करने का कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादि) और अग्निष्टोम आदि का यज्ञ करता था, वह 'ऋत्विक्' के नाम से विख्यात था।

प्राचीन काल में ऐसे भी अध्यापक थे जिनका जीवन भ्रमण और यायावर का था। वे घूम–घूमकर अपने शिष्यों का स्वयं चुनाव करते थे तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार स्थान–स्थान पर विचरण करने वाले ऐसे अध्यापक 'चरक' कहे जाते थे।[२२१]

आचार्य का अपने समीप आने वाले शिष्य के प्रति स्नेहसिक्त सम्मान भी अभिव्यक्त होता था। श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ज्ञान–प्राप्ति के लिए पांचाल परिषद्

के अध्यक्ष प्रवाहण जैबलि के पास गए। उसने स्वयं ससम्मान उन्हें आसन, उदक और अर्घ्य प्रदान किया और तत्पश्चात् अपना अन्तेवासी अथवा आचार्य–कुलवासी बनाकर उनकी जिज्ञासाओं का समाधान किया।[२२२]

एक बार उद्दालक और प्राचीलशाल अनेक विद्वानों के साथ केकय–नरेश अश्वपति के यहाँ वैश्वानर विद्या के अध्ययनार्थ गये। केकय–नरेश ने उन सबका अलग–अलग स्नेहपूर्वक सम्मान किया और तब उपदेश दिया।[२२३] इसी प्रकार जब आचार्य नचिकेता महराज के यहाँ अध्यात्म ज्ञान के लिए अपने पिता द्वारा भेजे गये थे। यमराज के न रहने पर नचिकेता ने तीन दिन तक उनके गृह द्वार पर ही उनकी प्रतीक्षा की। यमराज जब लौटे तब उन्होंने नचिकेता का स्वागत–सम्मान किया और अध्यात्म का ज्ञान कराया।[२२४]

प्राचीन कालीन आचार्य अथवा अध्यापक अपने विषय का पूर्ण ज्ञानी और विद्वान होता था। वह शिष्य को मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाला सुज्ञानी होता था।[२२५] वाक्चातुर्य, भाषण–पटुता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, तार्किकता और रोचक कथाओं में दक्ष तथा ग्रन्थों का अर्थ करने में वह आशु पण्डित और वक्ता होता था।[२२६]

मुद्गल के पुत्र नाक का मत है कि 'स्वाध्याय और प्रवचन को ही मुख्य कर्तव्य मानना चाहिए, क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुपालन ही वास्तविक तप है।"[२२७] आचार्य अपने परम्परागत पांडित्य और ज्ञान से वह शिष्य को लाभान्वित करें।[२२८] अध्यापक के लिए कालिदास ने यह कहा है कि वह विद्वान् ही नहीं होता बल्कि शिष्ट–क्रिया–युक्त साधु प्रकृतिवाला पटु शिक्षक होता है।[२२९]

स्पष्ट है कि आचार्य की योग्यता उसके स्वाध्याय और प्रवचन में निहित थी। किन्तु इसके साथ–साथ उसमें अनुशासन, सत्यचरण, सत्यभाषण, कष्ट–सहिष्णुता, संयम और चित्त की एकाग्रता का होना भी अनिवार्य था। उसका रहन–सहन गरिमामय हो। वर्षा एवं शरद् ऋतुओं में वह स्त्री से अलग ब्रह्मचारी के रूप में रहे। वह चारपाई पर अथवा लेटे–लेटे अध्ययन न करे। इसके अतिरिक्त वह माला या अनुलेपन से अपने शरीर का अलंकरण नहीं करता था। वह मध्य रात्रि के पश्चात् नहीं सोता था। उसी समय अपने शिष्यों को निर्देश देता था तथा स्वयं स्वाध्याय में तल्लीन होता था।

रात्रि के तीसरे पहर से वह अध्ययन–कार्य प्रारंभ कर देता था। इसके बाद वह सोता नहीं था। अगर उसे कुछ निद्रा लगती भी तो वह खंभे का सहारा लेकर ऊँघ लेता था। हीन व्यक्तियों से मिलना उसके लिए वर्जित था। वह भीड़–भाड़ से दूर रहता था। वह तैरकर नदी नहीं पार करता था बल्कि नाव द्वारा नदी पार करता था। वह इधर–उधर थूकता नहीं था। यही नहीं, उसके लिए घास काटना और ढेला फोड़ना भी निषिद्ध माना गया था।[२३०] महाभारत में भी यह कहा गया है कि वह पढ़ने की दीक्षा लेने आए ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है।[२३१]

मनु के अनुसार द्विज बालक के दो जन्म होते हैं। इसी से उसे 'द्विज' कहा जाता है। पहला जन्म माता के गर्भ से होता है और दूसरा जन्म उपनयन संस्कार से। द्वितीय जन्म ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है और इस द्वितीय जन्म में उसकी माता गायत्री (मन्त्र) होती है और पिता आचार्य होता है।[२३२] उपनिषदों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य और शिष्य दोनों एक दूसरे के प्रति निष्ठावान् और आदरवान् थे। मुकेशा भारद्वाज ने अपनी जिज्ञासा का समाधान पा जाने पर अपने आचार्य पिप्पलाद का अर्चन करते हुए कहा था, "आप हमारे पिता हैं, क्योंकि आप मुझे अविद्या के परे, पार ले जाकर तार देते हैं।"[२३३]

आचार्य अपने पुत्र और अन्तेवासी को एक ही कोटि में रखता था।[२३४] कालान्तर में कभी–कभी गुरू अपनी पुत्रियों के लिए अपने शिष्यों में से योग्य शिष्य को पति चुन लेते थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण जातकों से भी मिलते हैं। गुरू–शिष्य के सम्बन्ध को लेकर पाणिनि का यह कथन युक्तियुक्त है कि दोनों एक दूसरे की परस्पर छाते के समान रक्षा करते थे।[२३५]

कालिदास ने गुरू–शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को 'गुरूवो गुरूप्रियम्' कहा है।[२३६] चन्द्रापीड़ ऐसा एक कर्तव्यनिष्ठ शिष्य था।[२३७] गुरू और शिष्य के सम्बन्ध में इत्सिंग लिखता है, "शिष्य गुरू के पास रात्रि के पहले और अन्तिम पहर में जाता है, उसके शरीर की मालिश करता है, वस्त्र आदि संभालकर रखता है। शिष्य अपने से बड़े के प्रति आदर प्रदर्शित करता है।" इसी प्रकार गुरू भी "शिष्य के रोगग्रस्त हो

जाने पर सेवा करता है, उसे औषधि देता है और उसके साथ पितावत् व्यवहार करता है।''

वैदिक युग से ही रूचि के अनुसार छात्रों को शिक्षा प्रदान की जाती थी और उनके व्यवसाय का निर्धारण किया जाता था। आचार्य उसके अध्ययन की अभिरूचि और उसकी वृत्ति का निरीक्षण करता था और संतुष्ट होने के पश्चात् उसे शिष्य–परम्परा में गृहीत करता था।[२३८] ऐसे शिष्यों को अपने गुरूकुल में स्थान देने के पहले सर्वप्रथम आचार्य उसके आचरण और शील के विषय में निरीक्षण करके आश्वस्त होता था। तत्पश्चात् उसे उपनयन विधि के अनुसार ब्रह्मचारी बनाकर गुरूकुल में गृहीत करता था।

एक ही गुरू के सान्निध्य में रहकर जो छात्र शिक्षा ग्रहण करता था, वह 'सतीर्थ्य' कहा जाता था।[२३९] ऐसे एकनिष्ठ छात्र की योग्यता गुरू जान लेता था। निरुक्त में उल्लिखित है कि जो नम्रता के साथ उपस्थित नहीं होता था, जो अपने विशिष्ट विषय के महत्व को नहीं समझता था, ऐसे शिष्य को स्वीकार नहीं किया जाता था।[२४०]

मनु के अनुसार आचार्य–पुत्र, सेवा करने वाला, अन्य विषय की शिक्षा देने वाला, धर्मात्मा, पवित्र, बांधव, ज्ञान के ग्रहण–धारण में समर्थ, धन प्रदान करने वाला, हिताभिलाषी और स्वजातीय इन दस विशेषताओं से युक्त छात्र गुरू द्वारा धर्मानुसार पढ़ाने योग्य थे। सदाचारी प्रतिभावान् और सुयोग्य शिष्य को चुनना गुरू की कुशलता का द्योतक था।[२४१] यह गुरू की विशेष कुशलता होती थी जब वह मन्दबुद्धि छात्र के मस्तिष्क में ज्ञान का मंत्र फूंक सकने में समर्थ होता था।[२४२]

नचिकेता की यथोचित परीक्षा लेने के बाद ही यम ने उसे उपदेश दिया था।[२४३] शुक्र जब पूर्णरूपेण कच के शील और स्वभाव से संतुष्ट हो गये तब उन्होंने उसे अपना शिष्य स्वीकार किया।[२४४] कृष्ण और बलराम के आचरण से तुष्ट होकर ही सान्दीपनि ने उन्हें वेद–शास्त्र का ज्ञान कराया।[२४५]

मनु का कथन है कि जिस शिष्य में धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो, उसे ऊपर समझकर विद्या—रूपी बीज का दान नहीं करना चाहिए।[२४६] गुरू—पुत्र भी अगर गुरू सदृश हुआ तो उसका भी उच्छिष्ट भोजन और पाद—संवाहन सवर्था उचित माना जाता था।[२४७] गुरु के समीप निवास करता हुआ ब्रह्मचारी इंद्रिय—समूह को वश में करके तपोवृद्धि के लिए नियमों का पालन करता था।[२४८] उपनिषद् कालीन ऐसे अनेकानेक उदाहरण है, जो इस पक्ष पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं कि जाति के आधार पर विद्या नहीं प्रदान की जाती थी।

महाश्रोत्रिय प्राचीलशाल ने अन्य ज्ञानेच्छुक ब्राह्मणों के साथ केकय—नरेश क्षत्रिय अश्वपति से ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण किया था, जिनमें उद्दालक आरुणि जैसे ज्ञानवान् ब्राह्मण भी सम्मिलित थे।[२४९] पांचाल नरेश के शासक प्रवाहण जैबलि के यहाँ से श्वेतकेतु के बिना उपदेश प्राप्त किये लौटने पर उसके पिता आरुणि ने स्वयं पांचाल—नरेश के यहाँ जाकर पंचाग्नि विद्या सीखने का निश्चय किया था। प्रवाहण ने आरुणि का स्वागत करते हुए उसे शिक्षा प्रदान की।[२५०] विख्यात दार्शनिक ब्राह्मण गार्ग्य बालाकि ने काशी—नरेश अजातशत्रु से ब्रह्मविद्या का उपदेश लिया था[२५१], जो स्वयं ब्रह्मविद्या में निष्णात् था और जिसकी ख्याति उशीनर, सात्वत—मत्स्य, कुरु—पांचाल और काशी—विदेह तक फैली हुई थी। राजा बृहद्रथ भी विद्वान क्षत्रिय थे जहाँ अनेक ब्राह्मण विद्या प्राप्त करने के लिए रहते थे।[२५२]

सूत्रयुग में द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के साथ शूद्रों का भी समावर्तन संस्कार होता था। सुत्तनिपात में विवरण है कि मातंग नामक चांडाल विख्यात ज्ञानी था जिसके यहाँ दूर—दूर से उच्च वर्ण के लोग आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। हरिकेशबल जाति का चांडाल था किन्तु अपने गुणों और ज्ञान के कारण ऋषि रूप में ख्यात था।[२५३] बाद में आकर यह प्रथा बन्द हो गई तथा समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णो को ही ब्रह्मचारी बनने का अधिकार प्राप्त था, जो 'वर्णी' कहे जाते थे।[२५४]

उपनिषद्—काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी, न कि वर्ण अथवा जाति। विदेह का शासक जनक, काशी का शासक अज्ञातशत्रु, केकय—नरेश अश्वपति,

पंचाल–नृपति प्रवाहण जैबलि, सनत्कुमार सम्राट प्रतर्दन, जानश्रुति पौत्रायण, बृहरथ आदि ऐसे क्षत्रिय राजा थे जो ज्ञान और दर्शन के अप्रतिम विद्वान थे और उन्होंने अनेक ब्राह्मण आचार्यों को अध्यात्मज्ञान कराया था।[२५५]

शिष्य अपने आचार्य अथवा गुरू का सर्वदा सम्मान और आदर करता था। ब्रह्मचर्य का पालन करना उसका परम कर्तव्य था। इसका पालन करने वाले में ही तेजोमय ब्रह्म और देवता अधिवास करते थे।[२५६] समिधा, मेखला, मृगचर्म (कार्ष्ण वसानः) आदि धारण करते हुए ब्रह्मचारी अपने व्रतों का पालन करता था। वह लम्बे बाल रखता था तथा श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था।[२५७]

आचार्य–कुल में रहते हुए वह आचार्य के लिए भिक्षाटन करता था। आचार्य के लिए गोसेवा करता था।[२५८] जब वह आचार्य का गोचारण करता था तब वह स्वच्छ वायु और सुन्दर प्रकृति में भ्रमण करके वातातपिक जीवन जीता था।[२५९] वह गुरू की निन्दा नहीं करता था, न सुनता था; साथ ही, अपने तप से आचार्य को तृप्त करता था।[२६०] गुरू की त्रुटियों को शिष्य अत्यन्त विनयपूर्वक एकान्त में उसे बताता था।[२६१] वैसे, शिष्य के लिए यह स्वतन्त्रता थी कि वह धर्मच्युत गुरू की आज्ञा न माने।[२६२] इसके विपरीत, अगर शिष्य कोई पाप करता था तो उसके लिए आचार्य ही उत्तरदायी होता था।[२६३]

प्रायः शिष्य आचार्य को ब्रह्मा की मूर्ति के समान मानता था।[२६४] इसी रूप में वह गुरू की सेवा करता था। वह अपने गुरू के लिए नित्य जल, दातुन, आसन आदि सुलभ करता था। गुरू की सुश्रुषा करना उसका प्रधान कर्तव्य था।[२६५] वह पूर्णरूपेण आचार्य के कहने या न कहने पर अध्ययन की ओर प्रवृत्त होता था अथवा अन्य कार्य करता था तथा वह आचार्य के हित में सर्वदा यत्नशील रहता था।[२६६] वह दिन–रात गुरू की सेवा में ही रहता था।[२६७] परिणामस्वरूप उसे अभीष्ट (विद्या) की प्राप्ति होती थी।[२६८]

आचार्य अपने शिष्य के प्रति सहृदय और स्नेह–संवलित व्यवहार करता था। प्रवाहण जैबलि ने शिष्य रूप में आए उद्दालक का सस्नेह सम्मान किया था।[२६९] अश्वपति ने अध्ययनार्थ आए उद्दालक सहित अन्य विद्वानों का स्वागत किया था।[२७०] नचिकेता जब ज्ञान–प्राप्ति के लिए यमराज के यहाँ गए तो उन्होंने उनका हार्दिक अभिनन्दन किया था।[२७१] प्रायः आचार्य अपने शिष्य को 'सौम्य' कहते थे[२७२] जिसका

अभिप्राय था, चन्द्रमा के सदृश आकर्षक और मधुर–गुण–सम्पन्न। बृहदारण्यक उपनिषद् में विवृत है कि मद्र देश निवासी प्रसिद्ध आचार्य पतंजलि से उनके शिष्य कबन्ध आथर्वण ने बार–बार अपने प्रश्न पूछे किन्तु उन्होंने नम्रतापूर्वक प्रत्येक बार उत्तर दिया।[२७३] लगभग दस बार आचार्य ने श्वेतकेतु को समझाया था।[२७४]

गुरू की शिष्य के प्रति सदा अभिन्नता रहती थी। यह शिष्य के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था।[२७५] कोई भी अध्यापक विद्या को छिपाता नहीं था, बल्कि वह उसे धरोहर समझता था।[२७६] कादम्बरी से विदित होता है कि चन्द्रापीड़ के प्रति गुरूजनों का स्नेह–भाव था।[२७७] वाल्मीकि अपने शिष्य लव और कुश के हित की सर्वदा चिन्ता करते थे।[२७८] भारद्वाज का अपने शिष्य द्रोण और द्रुपद के प्रति अपार स्नेह भाव था।[२७९]

अपनी निष्ठा और सदाशयता से शिष्य अपने गुरू का प्रिय होता था। उसके व्रत में भिक्षाटन भी था, जिसे वह सुबह–शाम सम्पन्न किया करता था।[२८०] मनु के अनुसार वह गुरू के कुल में, अपनी जातिवालों में और कुल–बांधवों में जाकर भिक्षा नहीं मांगता था।[२८१] वह श्रेष्ठ लोगों के घर से भिक्षा मांगता था अथवा योग्य गृहों के अभाव में मौन धारण करके, महापातकियों के घर को छोड़कर, पूरे ग्राम से भिक्षा मांगता था।[२८२] वह दोहपर के समय भिक्षा नहीं मांगता था, क्योंकि वह काल अपवित्र समझा जाता था।[२८३] प्रायः गृहस्थ भोज्य पदार्थ का अंश विद्यार्थी को दान दिया करता था[२८४] जिसे वह ग्रहण करता था।[२८५]

विष्णु जैसे शास्त्रकारों का यह विधान था कि ब्रह्मचारी, यति और भिक्षु की जीविका गृहस्थ पर निर्भर करती थी।[२८६] अगर शिष्य आवश्यकता से अधिक भिक्षा प्राप्त करता था तो उसे गुरू को सौंप देता था।[२८७] भिक्षा–व्रत का ठीक से पालन न करने पर सप्ताह में एक बार भिक्षा मांगने की व्यवस्था की गई थी।[२८८] श्वानच्वांग ने लिखा है कि यहाँ के विद्यार्थियों के लिए भोजन, वस्त्र और औषधि की कोई समस्या नहीं।[२८९]

इन्द्रिय–निग्रह छात्र के लिए अनिवार्य था, क्योंकि इन्द्रियों में अगर एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उक्त मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार चमड़े के बर्तन के एक ही छिद्र से सब पानी बहकर नष्ट हो जाता है।[२९०]

मनु का कथन है कि जो विद्यार्थी प्रातः और सायं सन्ध्योपासन कर्म नहीं करता था, वह शूद्रों के सदृश माना जाता था।[२९१] प्रायः उस जूते, छाते और रथ आदि के उपयोग की अनुमति नहीं दी गई थी।[२९२] आश्रम में रहकर छात्र अनेक प्रकार के नियम–संयम से परिचित हो जाता था।[२९३] प्रायः खट्वारोहण (खाट पर सोना) का सामान्य अर्थ बिना विद्या पूर्ण किये गृह वापस चला जाना माना जाता था।[२९४] जितेन्द्रिय, आत्मविजयी, कर्तव्यपरायण, विनीत, शीलवान् और प्रतिभा–सम्पन्न छात्र शास्त्र का अध्ययन करने के पात्र होते थे। छात्र निष्ठा–भाव से आश्रम के नियमों का पालन करता था। वह गुरू को सादर प्रणाम और अभिवादन करता तथा गुरू का आशीर्वाद प्राप्त करता था। बाण ने अपने गुरू की वन्दना की थी।[२९५]

प्राचीन काल में आचार्य की कोई निश्चित आय नहीं थी। शिष्यों द्वारा भिक्षाटन में लाया गया अन्न तथा दान–दक्षिणा में प्राप्त धन ही आचार्य की आय थी। अथर्ववेद के एक मंच से विदित होता है कि आचार्य को अपने ब्रह्मचारी से दक्षिणा मिली थी।[२९६] तक्षशिला के आचार्यों को कभी–कभी एक–एक हजार मुद्राएँ दक्षिणा में प्राप्त हो जाया करती थी।[२९७]

राज्यसेवा में रह रहते हुए अध्यापन कार्य करने वाले आचार्यों को राज्य की ओर से प्रायः वेतन मिलता था।[२९८] जीविका के लिए जो अध्यापक ज्ञान का मूल्य लेते थे उनके ज्ञान को ज्ञान न मानकर विक्रय की वस्तु माना जाता था।[२९९]

विद्यार्थी का यह हार्दिक प्रयास होता था कि वह अपने आचार्य को गुरूदक्षिणा प्रदान करके घर की ओर प्रस्थान करें।[३००] अपने गुरू से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त कृष्ण और बलराम ने उन्हें गुरूदक्षिणा अर्पित की थी।[३०१] केशिध्वज ने अध्ययनोपरांत अपने गुरू खाणिक्य को गुरूदक्षिणा अर्पित की थी।[३०२]

भीष्म ने जब कौरवों और पांडवों को शिक्षा प्रदान करने के लिए द्रोणाचार्य को नियत किया तब उन्हें धन–धान्य से पूर्ण कर एक आवास भी प्रदान किया था।[३०३] जातकों से विदित होता है कि ऐसे अनेक छात्र अध्ययनार्थ तक्षशिला भेजे गए थे, जो निर्धन थे किन्तु मेधावी थे।[३०४] भीम द्वादशी के दिन उपाध्याय को अंगूठी, कटक,

सुवर्णसूत्र, सुवस्त्रादि दान में मिलते थे।[३०५] श्वानचवांग ने लिखा है कि विद्यार्थी गुरू द्वारा मांगी गई दक्षिणा प्रदान करता था।[३०६]

सोमेश्वर ने लिखा है कि राजकुमार अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद आचार्य को वस्त्र, स्वर्ण–भूमि और कभी–कभी गांव दक्षिणा में प्रदान कर दिया करते थे।[३०७] कल्हण ने भी गुरू के निमित्त दान–प्रवृत्ति की प्रशंसा की है।[३०८] सौराष्ट्र के शासक गोविन्दराज ने अनेक शिष्यों की देख–भाल करने वाले ब्राह्मण आचार्यो को अनेक भूमिखण्ड दान में प्रदान किए थे।[३०९]

प्राचीन काल में छात्रों को वेदों के अतिरिक्त अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विद्या के अध्ययन में पहले तीन वेदों (त्रयी) को समाविष्ट किया गया था और बाद में अथर्ववेद को जोड़कर चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) पूर्ण किये गए थे। वेदों के मन्त्रों के अध्ययन में ऐतिहासिक काव्य, पौराणिक गाथाएँ और वीर काव्य समाविष्ट थे।[३१०] धर्म और ब्रह्मा का ज्ञान वेदों के माध्यम से ही सम्भव था।[३११]

प्रातःकाल पक्षियों के कलरव और गुंजन के पूर्व ब्रह्मचारी वेदमंत्रों का पाठ प्रारम्भ कर देता था।[३१२] राम का जब राज्याभिषेक हुआ था तब कुल–पुरोहितों ने मिलकर चारों वेदों के साथ स्तुति की थी।[३१३] देश के अध्येता वेद का अध्ययन करके सोल्लास वैदिक यज्ञ करते और वेद की शिक्षा प्रदान करते थे।[३१४] आचार्यकुल में निवास करने वाले वेदों की विभिन्न शाखाओं के अनुयायी अपनी–अपनी शाखाओं में प्रचलित पाठों को कुशलतापूर्वक कंठस्थ करके गान करते थे।[३१५] अनुदत्त उच्चारण करने वाले के गाल पर थप्पड़ लगाया जाता था।[३१६] अपूत वाक् उच्चरित (अशुद्ध उच्चरण) करने वाले ब्राह्मण का कुल ऋत्विक बनने से वंचित कर दिया जाता था।[३१७] यारक ने वेदमंत्रों के अर्थ को न जानने वाले व्यक्ति को 'स्थाणु' (ठूँठ) और 'भारहार' (बोझ ढोने वाला) कहा है।[३१८]

मेधातिथि, विश्वरूप, अपरार्क आदि पूर्वमध्ययुगीन लेखकों के अनुसार छात्र को गुरू के सान्निध्य में रहकर वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित था तथा साथ ही धर्म की समस्त धाराओं को समझना भी आवश्यक था।[३१९] लक्ष्मीधर ने बृहस्पति को

उद्धृत करते हुए यह सलाह दी है कि ब्राह्मणों का पहला कर्तव्य था कि वेद पढ़े, तदन्तर 'स्मृति' और 'सदाचार' का अनुपालन करें।[320]

केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वेद का अध्ययन कर सकते थे, अन्य कोई वर्ण नहीं।''[321] मध्यकालीन लेखक लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मण ही वेद की शिक्षा देता था।[322] वेदों के मौखिक ज्ञान का प्रचलन बहुत बाद तक बना रहा।[323] पाठ के आधार पर, बिना अर्थ जाने, बोला जा सकता है किन्तु उससे बुद्धि आलोकित नहीं हो सकती। वह तो सूखे ईधन के समान होता है, जो बिना अग्नि के नहीं जल सकता।[324]

अपरार्क ने मात्र वेद कंठस्थ करने की रीति की आलोचना की है।[325] मेधातिथि ने भी इसी प्रकार का विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि स्मरण के आधार पर वेद का अध्यापन त्रुटिपूर्ण है।[326] अलबरूनी लिखता है, कि वेद में कुछ ऐसे अंश है जिनका वर्णन रहने वालों के बीच नहीं होना चाहिए[327] लक्ष्मीधर के अनुसार वेद न मार्ग में, न नगर में और न शूद्र के सम्मुख पढ़ा जाना चाहिए, बल्कि उन्मुक्त स्थान पर पढ़ा जाना चाहिए।[328] बाण ने स्वयं वेदाध्ययन गुरुकुल में रहकर किया था।[329]

वेद (चार), इतिहास पुराण, व्याकरण, भूत विद्या, क्षात्र विद्या, वाकोवाक्यम्, तर्कशास्त्र, शिक्षा, निरुक्त, छन्द, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, राशि, एकायन आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी।[330] सत्य ज्ञान का अन्वेषण तथा उसका अनुपालन उपनिषद्–युग में किया जाता था।[331] आत्मा से सम्बन्धित विद्या आत्मविद्या कही जाती थी, जो उपनिषद्काल के छात्रों का प्रधान विषय होती थी। वेद युग में वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, संहिता, उपनिषद्, शिक्षा, अर्थशास्त्र, शिल्प, वार्ता, व्याकरण, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि प्रमुख थे।[332] कौटिल्य ने भी आन्वीक्षकी (तर्क और दर्शन),, त्रयी (तीन वेद – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और उनके ब्राह्मणादि), वार्ता (कृषि, पशु–पालन, चारा–भूमि, वाणिज्य–व्यापार) और दंडनीति (राजशास्त्र और शासन) का उल्लेख किया है।[333]

कालिदास ने चौदह विद्याओं का उल्लेख किया है–सांगोपांग वेद (चारों वेद और छहों वेदांग), मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र। वेदांगों में छन्द (पिंगलादि), मन्त्र, निरुक्त (शब्दों का अर्थ), ज्योतिष (गणित और फलित), व्याकरण और शिक्षा (उच्चारण)

गृहीत किये जाते थे। इनके अतिरिक्त उपवेदों (धनुर्वेद, आयुर्वेद और गांधर्ववेद)[३३४] का भी अध्ययन किया जाता था।

वात्स्यायन ने ६४ विद्याओं का उल्लेख किया है। उस समय पुराण, इतिहास के साथ महाकाव्यों का पारायण किया जाता था। श्वानच्वांग ने व्याकरण, शिल्प, आयुर्वेद, तर्क, आत्मविद्या आदि का उल्लेख विद्यार्जन के अन्तर्गत किया है।[३३५] राजाओं के लिए कालिदास का कथन है, शास्त्र को नेत्र बनाकर ही वे अपने प्रयत्नों के सूक्ष्म परिणाम को उसके चरितार्थ होने के पूर्व ही देख सकते थे।[३३६] दंडी ने पाठ्य विषयों की सूची इस प्रकार दी है–सभी लिपियाँ, भाषाएँ, वेद, वेदांग, उपवेद, काव्य, नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसशास्त्र, युद्धविद्या, द्यूत, चौर्य विद्या आदि।[३३७]

बाण के अनुसार ब्राह्मण गुरु अपने शिष्यों को नियमित रूप से वेद, व्याकरण, मीमांसा आदि की शिक्षा देता था। ब्राह्मण उपाध्याय ब्रह्मचारियों को पढ़ाने में संलग्न रहते थे।[३३८] इस संबंध में अलबरूनी लिखता है, "विज्ञान और साहित्य की अन्य अनेक शाखाओं का विस्तार हिन्दू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यतः अपरिसीम है। इस प्रकार मैं अपने ज्ञान के अनुसार उनके साहित्य को न समझ सका।"[३३९]

अलबरूनी ने ज्ञान–विज्ञान के विविध विषयों और विभिन्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उसने चारों वेदों, अठारह पुराणों, बीस स्मृतियों, रामायण, महाभारत, गौड़–कृत ग्रंथ, पतंजलिकृत ग्रन्थ कपिलकृत कातंत्र, शशिदेववृत्त, उग्रभूति–कृत शिष्यहितावृत्ति, पुलिश का गणित विषयक सिद्धान्त, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, आदि के विभिन्न विषयगत मतों और ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि तद्युगीन भारतीय समाज में अनेकानेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[३४०]

जैनेन्द्र, कातंत्र और हेमचन्द्र के व्याकरण के नवीन समुदाय का प्रभाव बढ़ गया था।[३४१] आश्वलायन, वाजसनेय, छान्दोग्य, सांख्य आदि की अपनी अलग–अलग शाखाएँ थीं।[३४२] ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अध्ययन प्रायः किया जाता था।[३४३] वेदों के अध्ययन के आधार पर ब्राह्मणों के पारिवारिक और वंशगत नाम रखे जाने लगे थे, जैसे–द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी।[३४४] 'त्रिवेदी' को 'त्रिपाठी' भी कहते थे। वेदांग के

अन्तर्गत शिक्षा, निरुक्त, छन्द व्याकरण, कल्प और ज्योतिष का नियोजन किया जाता था।[३४५] मीमांसा, सांख्य, चार्वाक–सिद्धान्त आदि दर्शन शास्त्रों का अध्ययन भी उस युग में किया जाता था।[३४६]

मनु का यह निर्देश था कि अपात्र शिष्य को गुरू द्वारा शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए।[३४७] ऐसे कुत्सित छात्र को पाणिनि ने 'तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक' (अर्थात् जो अपने तीर्थ या गुरू के प्रति कौए की तरह चंचल व्यवहार करे, या गुरूकुल में पूरे समय तक निवास न करके शीघ्रतापूर्वक स्थान बदलता रहे) की संज्ञा दी है।[३४८] प्रायः हठी शिक्षार्थियों को गुरु दंड–स्वरूप अपने यहाँ से हटा देता अथवा उनसे उपवास करवाता था।[३४९] आचार्य द्वारा उद्दंड छात्र को प्रायः रज्जु अथवा छड़ी से दंड दिया जाता था।[३५०] काशी का एक राजकुमार आचार्य के मना करने पर भी वह बार–बार चोरी किया करता था। इस पर आचार्य ने उसे शारीरिक दंड दिया था।

अध्ययन काल में छात्र को छुट्टी भी मिलती थी। बौधायन और गौतम दोनों विचारकों ने अवकाश का निर्देश दिया है।[३५१] मनु के अनुसार अस्थिर मौसम, जैसे वर्षाकाल और आकस्मिक प्रकृति–प्रकोप होने के कारण तथा अन्य अनुपयुक्त समय में अनध्याय करना चाहिए।[३५२]

प्रायः दैव–प्रकोप होने पर और श्रृगाल, उलूक, गर्दभ, श्वान जैसे जीवों के बोलने पर अध्ययन–अध्यापन स्थगित कर दिया जाता था। ऐसा लोगों का विश्वास था कि ऐसे क्षण में वेदों के अध्ययन से अपवित्रता हो जाती है, जिससे भगवान रुष्ट हो जाते हैं।[३५३] प्रायः मेघ–गर्जन, पर्व, ग्रहण और अशौच के दिनों में अध्ययन न करने का निर्देश था।[३५४] याज्ञवल्क्य ने मेघ–गर्जन, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन अनध्याय की सलाह दी है।[३५५] मनु ने शिक्षा आदि वेदांगों में, नित्य किये जाने वाले ब्रह्मयज्ञ, स्वाध्याय और हवनकर्म में उपर्युक्त समयों को अनध्याय का नहीं माना है।[३५६]

प्रायः दो प्रकार के विद्यार्थी गुरूकुल में हुआ करते थे, एक तो वे विद्यार्थी[३५७], जो कुछ वर्षो तक गुरू के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे वे उपकुर्वाण कहे जाते थे; और दूसरे ऐसे विद्यार्थी थे जो आजन्म आचार्य के आश्रम में रहकर विद्यार्थी बने रहते थे, वे नैष्ठिक कहे जाते थे। 'नैष्ठिक' का अर्थ था जीवन भर ब्रह्मज्ञान के निमित्त

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाला। नैष्ठिक ब्रह्मचारी को 'बृहद्व्रतधारी' भी कहा जाता था।

पाणिनि ने दो प्रकार के छात्रों का संकेत दिया है—एक दण्डमाणव और दूसरे अन्तेवासी।[३५८] इत्सिंग ने विद्यार्थियों के दो भेद किये हैं, माणव और ब्रह्मचारी। माणव वे थे जो भविष्य में संघ में दीक्षा ले लेते थे और ब्रह्मचारी वे थे जो प्रव्रजित नहीं होना चाहते थे।[३५९]

केवल द्विज वर्ण के लिए ही वेद तथा अन्य विषयों की शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। प्रायः सभी शास्त्रकारों ने शूद्रों की शिक्षा का निषेध किया है। उनके लिए समस्त संस्कार भी वर्जित थे। गौतम ने यह व्यवस्था दी है कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने वाले शूद्र की जिह्वा काट देनी चाहिए।[३६०] जैमिनि के अनुसार कोई भी शूद्र अग्निहोत्र और वैदिक यज्ञ नहीं कर सकता था।[३६१] वस्तुतः शूद्र संस्कारहीन थे, इसलिए चतुराश्रमों की व्यवस्था उनके लिए नहीं थी।[३६२] वेदाध्ययन और यजन उनके लिए पूर्णतः वर्जित था।[३६३] वेदाध्ययन के निमित्त कोई भी शूद्र कुलपति के आश्रम में नहीं प्रवेश कर सकता था।[३६४] मनु के अनुसार वह हवि, उपदेश, धर्म और व्रत के अनुपयुक्त था।[३६५]

अलबरूनी ने भी लिखा है कि उसे वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं था।[३६६] अपरार्क का भी यही मत है कि शूद्रों को वेदाध्ययन का कोई अधिकार नहीं था।[३६७] गुरुकुल में ब्रह्मचारी की शिक्षा की समाप्ति पर समारोह आयोजित किया जाता था, यह आयोजन 'समावर्तन' या 'स्नान—संस्कार' के नाम से सम्पन्न होता था। शिक्षा के अन्त में विद्यार्थी के स्नान के कारण उसे 'स्नातक' कहा जाता था। पाणिनि ने ब्रह्मचारी के अध्ययन की समाप्ति को 'समापन' कहा है[३६८] तथा ब्रह्मचारी को 'स्रग्वी'।

समापवर्तन के समय ब्रह्मचारी को सूर्य का दर्शन कराया जाता था, जो उसके तेज और प्रकाश का द्योतक था। समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य उसे शिक्षा देता था कि वह सत्य बोले। धर्म का अनुसरण करे। स्वाध्याय के प्रति सावधान रहे। माता, पिता, आचार्य और अतिथि की देवता के रूप में सेवा करे।[३६९] इस समारोह के समय सम्पन्न होने वाले होम के साथ यह कामना की जाती थी कि उसे अधिक संख्या

में शिष्य मिले।[३७०] उसी समय ब्रह्मचारी स्नातक को आचार्य द्वारा 'मधुपर्क' प्राप्त होता था।[३७१] आचार्य उसे स्नेहपूर्वक जीवन में पदार्पण करने के लिए आवाहित करता था।[३७२]

जनक से याज्ञवल्क्य ने कहा था कि मेरे पिता का यह विचार है कि बिना पूरी तरह शिक्षा प्रदान किये शिष्य से कुछ भी नहीं ग्रहण करना चाहिए।[३७३] कात्यायन को उद्धृत करते हुए अपरार्क ने लिखा है कि गुरु को ब्राह्मण छात्र गाय दे, राजन्य अथवा क्षत्रिय गाँव दे तथा वैश्य घोड़ा दे।[३७४] मनु, शंख ओर विष्णु जैसे शास्त्रकारों का यह विचार था कि जो गुरु धन की लालसा में शिक्षा प्रदान करते थे वे 'उपाध्याय' कहे जाते थे।[३७५] कौरव और पांडव राजकुमारों को शिक्षा प्रदान करने के लिए नियुक्त द्रोणाचार्य को भीष्म पितामह ने निःशुल्क सज्जित आवास आदि सुलभ कराया था।[३७६] राजा का यह परम कर्तव्य था कि वह देखे कि कोई ब्राह्मण अध्यापक पोषण के अभाव में भूखा तो नहीं रह रहा है।[३७७]

पूर्ववैदिक युग में बहुधा विद्वत्सभाएँ हुआ करती थीं, जिनमें स्त्रियाँ भी ऋक्गान किया करती थी।[३७८] परवर्ती काल में, विशेषकर उपनिषद् युग में, तो ऐसी विद्वत्गोष्ठियाँ शास्त्रार्थ–सभाओं के रूप में विकसित हुईं। याज्ञवल्क्य का शाकल्य से शास्त्रार्थ इसी प्रकार का था।[३७९]

गार्गी ने अनेक प्रश्नों से याज्ञवल्क्य को चकित कर दिया, यद्यपि अन्ततः याज्ञवल्क्य ही शास्त्रार्थ के विजेता घोषित किये गए और इसके उपलक्ष में उन्हें एक सहस्र गौएँ, जिनकी सीगों में पांच–पांच स्वर्ण पाद बंधे हुए थे, पुरस्कार में प्रदान की गई।[३८०] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उद्दालक आरुणि और सौचेय प्राचीनी में ब्रह्म को लेकर शास्त्रार्थ हुआ था।[३८१] आचार्य शंडिल्य और उनके शिष्य साम्तर्थवाह के बीच विचारों का आदान–प्रदान हुआ था।[३८२] सम्राटों की राजसभाएँ प्रायः विद्वानों से सज्जित रहा करती थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, हर्ष आदि ऐसे ही विद्वान् सम्राट थे।

वात्स्यायन ने ऐसी गोष्ठियों का विवरण दिया है, जहाँ लोगों को मधुर वार्ता करने का अवकाश मिलता था तथा सामाजिक एकत्रीकरण होता था। इस प्रकार

गोष्ठियों में साहित्यिक और धार्मिक परिचर्चाएँ हुआ करती थीं तथा अनेक प्रतिभाशाली विद्वान् प्रकाश में आते थे।[३८३]

हर्षचरित् से विदित होता है कि उन दिनों अनेकानेक विद्वत्गोष्ठियां हुआ करती थीं जिनमें विभिन्न विषयों पर चर्चाएँ चलती थीं।[३८४] ऐसी ज्ञान–चर्चाओं की गोष्ठियों को बाण ने 'विद्यागोष्ठी' कहा है।[३८५] 'काव्यगोष्ठियाँ' भी आयोजित की जाती थीं, जिनमें 'प्रबन्धों' के विषय और रचना पर विचार किया जाता था।[३८६] 'प्रमाण–गोष्ठी' में सभी विषयों की प्रामाणिकता पर विचार किया जाता था।[३८७] 'वीरगोष्ठी' में वीरता और शौर्य से सम्बन्धित रचनाएँ और चर्चाएँ हुआ करती थी।[३८८] पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखक अलबीरूनी ने भी विभिन्न विद्वत्गोष्ठियों की चर्चा की है।[३८९]

बौद्ध शिक्षण–पद्धति का आरंभ स्वयं महात्मा बुद्ध ने किया था। बौद्ध शिक्षा–पद्धति में सत्य, दार्शनिक तथ्य, तर्क; पर्यवेक्षण, मनन आदि पर अधिक बल दिया गया। बौद्ध संघ में भिक्षु को दीक्षा प्राप्त करने के लिए पवज्जा (प्रव्रज्या) और उपसम्बदा जैसे संस्कार भी आवश्यक माने गये। पवज्जा–ग्रहण (अथवा प्रव्रज्या–ग्रहण) से ही उपासक का जीवन प्रारम्भ होता था। इसमें उसके अभिभावक की अनुमति आवश्यक होती थी। उपासकत्व की समाप्ति पर बौद्ध भिक्षु के लिए उपसम्पदा संस्कार की आयोजना की जाती थी।[३९०]

बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति उपासक सर्वदा निष्ठावान् रहता था।[३९१] इसीलिए महात्मा बुद्ध का कथन था कि हे भिक्षुओ, पशु भी पारस्परिक प्रेम और सौहार्द्र के साथ रहते हैं। तुम्हें भी इसी प्रकार रहना चाहिए जिससे तुम्हारा प्रकाश शोभायुक्त हो। जिस प्रकार ब्रह्मचारी और गुरु के बीच का सम्बन्ध पुत्र और पिता का था, उसी प्रकार उपासक और आचार्य के बीच का सम्बन्ध था।

हमारी भारतीय संस्कृति में शिक्षा–विद्यादान की प्राणशक्ति अध्यात्म है और इस अध्यात्म की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व है। ब्राह्मण का अभिप्राय केवल जाति–विशेष से नहीं है। ब्राह्मणत्व सत्कुल में जन्म, तप, त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह तथा लोकसंग्रह और मोक्ष की सिद्धि में अधिष्ठित है। लोकमानस में इस प्रकार के ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा शिक्षा का श्रेयस्कर रूप है।

समावर्तन के समय आचार्य स्वाध्याय में प्रमाद न करने के लिए विशेष रूप से उपदेश करता था।[३६२] यह कहा गया कि मित्र और ब्राह्मण की हत्या से जो पाप होता है वही पाप एक बार पढ़े हुए पाठ को विस्मरण कर देने से होता है। कुछ शास्त्रकारों का मत था कि यदि पूर्व पाठ एकदम विस्मृत हो गये हों तब गुरुकुल में कुछ काल तक रहना आवश्यक है।[३६३]

मनु समझाने–बुझाने की नीति की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हैं किन्तु अन्त में पतली छड़ी या रज्जु से दण्ड देने की अनुमति दे देते हैं। गौतम, मनु के मत का समर्थन तो करते हैं पर यह भी कहते हैं कि यदि आचार्य कठोर दण्ड दे तो वह अपराधी माना जायेगा। विष्णु कहते हैं कि कभी–कभी अल्प शारीरिक दण्ड अपरिहार्य है। तक्षशिला में अध्ययन करने वाला काशी का एक राजकुमार आचार्य के बारम्बार उपदेश देने पर भी चोरी करना नहीं छोड़ता था। उसे दण्ड देते हुए उक्त आचार्य ने कहा है कि शारीरिक दण्ड देना बिल्कुल बन्द नहीं किया जा सकता।

गुण और विशेषताओं का निर्णय कर्म से होता है और ईश्वर उसी जाति में जन्म देता है जिसमें उसकी सर्वाधिक आवश्यकता होती है। इन सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप शिक्षाशास्त्रियों का भी यही मत होने लगा कि प्रकृतिदत्त गुण व शक्तियाँ ही मानव प्राप्त शिक्षा–दीक्षा से अधिक महत्वपूर्ण है। मलयगिरि पर रोपित वेणु, उचित खाद्य तथा जल से सिंचित होने पर भी, चंदन नहीं बन सकता।[३६४] एक पंडितों की सभा में मणि की भांति देदीप्यमान होता है किन्तु दूसरे विद्यार्थी की प्रगति नाममात्र को भी कठिनता से होती है।[३६५] यह मत प्लेटो से मिलता जुलता है जो कहता था कि शिक्षा अंधों को आँखें नहीं देती, केवल आँखों को प्रकाश की ओर मोड़ देती है।

कभी–कभी अब्राह्मण भी वैदिक साहित्य का अध्यापन करते थे। इस क्षेत्र में उन्हें सफलता प्राप्त करने के लिए विशेष संस्कारों का भी विधान किया गया था।[३६६] अध्ययन के निमित्त ब्राह्मणों को भी उनके पास जाना पड़ता था।[३६७] ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जब ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी दर्शन और धर्म के अध्ययन के निमित्त अश्वपति, जनक और प्रवाहण जैबालि आदि क्षत्रिय आचार्यों के पास गये थे।[३६८] धर्मसूत्रों ने भी ब्राह्मणों के अब्राह्मण आचार्यों की कल्पना की है तथा व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण

ब्रह्मचारियों को भी अब्राह्मण आचार्यों की सुश्रूषा करनी चाहिए।[३९९]

जातकों से भी यह सिद्ध होता है कि तक्षशिला में ब्राह्मण सैन्यकला, शल्य–चिकित्सा, नाग–वशीकरण आदि विषयों की शिक्षा ब्राह्मण और अब्राह्मण सभी ब्रह्मचारियों को देते थे। कतिपय जातकों में निस्संदेह ऐसे वर्णन मिलते हैं कि कुछ राजकुमार तीनों वेदों और १८ शिल्पों में पारंगत होते थे। धर्मशास्त्रों ने शूद्रों को वैदिक शिक्षा तथा संस्कारों का घोर विरोध किया है और समाज भी उनसे सहमत था।

एक ब्राह्मण धर्मशास्त्रकार ने भी व्यवस्था दी है कि विद्याहीन ब्राह्मण–पुत्र भी क्षत्रिय और वैश्य के व्यवसाय ही करे।[४००] इस काल के स्नातकों को वेदों में पारंगत होने के साथ–साथ १८ शिप्पों (शिल्पों) (व्यावहारिक ज्ञान–विज्ञान) में पारंगत कहा गया है।[४०१] इन शिप्पों में धनुर्विद्या, युद्ध–कला, आयुर्वेद, इन्द्रजाल, सर्प दंशनिवारण, रथ–संचालन, राज–शासन, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि सम्मिलित है।

वेदों के पण्डित केवल मंत्रों को ही नहीं अपितु उनके पद–पाठ, क्रम–पाठ, जटा–पाठ और धन–पाठ को भी कण्ठस्थ कर लेते थे। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि तोते की भांति मंत्रों के रटने से प्रतिभा मरकर बेकार हो जाती है।[४०२] इस काल के राजा वैदिक मंत्रों का पाठ करने वाले ब्राह्मणों (जिनका अर्थ न तो ये ब्राह्मण समझते थे और न श्रोता ही) से अधिक दान उन कवियों को देने लगे जो उनकी प्रशस्ति में काव्य रच देते थे।[४०३]

जैसे–जैसे समय बीतता गया संस्कृत का आकर्षण इतना बढ़ने लगा कि गुप्तों की भांति कुछ राजाओं ने तो यहाँ तक कि अपने महलों में भी संस्कृत के ही प्रयोग की आज्ञा दे दी।[४०४] विन्ध्य पर्वत के एक रम्य स्थान में आचार्य दिवाकर सेन–ब्राह्मण से बौद्ध धर्म में दीक्षित हुये थे–का तपोवन था। जहाँ वे विद्यार्थियों को हिन्दू, बौद्ध और जैन दर्शनों की साथ–साथ शिक्षा देते थे।[४०५]

अवैदिक साहित्य के संरक्षण और अध्यापन में लिपि–कला की सहायता ली जाती थी किन्तु कागज और मुद्रण–कला के आविष्कार के अभाव में पुस्तकें केवल धनिकों को ही उपलब्ध थीं। भोजपत्रों पर लिखी जाने के कारण वे दुर्लभ और बहुमूल्य

भी थीं। अतः साधारण ब्रह्मचारी के पास अपनी पाठय–पुस्तक न थी।[४०६] यहाँ तक कि पाठय–पुस्तक की सहायता से पढ़ने वालों को अधम समझा जाता था।

प्राचीनकाल में वही ज्ञान ज्ञान माना जाता था जो जिह्वग्र पर हो। आवश्यकता के समय पुस्तकें या नोट ढूंढ़ने को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था।[४०७] वाद–विवादों में प्रतिपाद्य विषय को सुलझाने, उसकी विशेषताओं और त्रृटियों को स्पष्ट करने, ग्रन्थकार के उद्देश्य समझाने और विरोधियों के आरोपों की त्रुटियाँ दिखलाने का यत्न किया जाता था।[४०८]

दिवाकर सेन के तत्वावधान में विभिन्न आस्तिक और नास्तिक धर्मों और दर्शनों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी अपने सम्प्रदाय के व्याख्यानों को सुनते, उन पर मनन करते, उनकी विशेषताओं पर वाद–विवाद करते, गूढत्रृ प्रकरणों पर शंकाएँ उपस्थित करते, उनकी रूपरेखा तैयार करते तथा विरोधी संप्रदायों के विद्यार्थियों से शास्त्रार्थ करते।[४०९] दर्शन के अन्य विद्यालयों में शिक्षा का यही ढंग रहा होगा। तर्क और व्याख्या अध्ययन–अध्यापन की मुख्य धुरी थे। उच्च शिक्षा का माध्यम संस्कृत होना स्वाभाविक था। किन्तु जब प्राकृत और देशी भाषाओं का विकास हो गया तो अध्ययन में उसकी सहायता भी ली जाती थी।

युवांगच्वांग अपने आचार्यों की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित हुआ था[४१०] अपने भारतीय गुरुओं के संबंध में इत्सिंग ने लिखा है कि इनके मुखकमल से ज्ञान प्राप्त करके मैं अपने को धन्य समझता हूँ जो मेरे लिए अन्यत्र असम्भव था।[४११] उपनिषदों और बौद्ध सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि गुरु–शिष्य–संवाद के रूप में भी व्याख्यान दिये जाते थे। निरीक्षण और तुलना का महत्व भी प्राचीन भारतीय आचार्यो को ज्ञात था।[४१२]

प्रतिदिन विद्यार्थियों की परीक्षा होती थी। पिछला पाठ याद न रहने पर अगले अध्याय का अध्यापन स्थगित कर दिया जाता था।[४१३] पूर्व के पाठ से भी विद्यार्थी कुछ अंश विस्मृत कर देते तो भी उन्हें नये पाठ नहीं पढ़ाये जाते थे।[४१४] युवांगच्वांग लिखता है कि यदि कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी आलस्य के कारण पढ़ने से जी चुराता तो

आचार्य हठपूर्वक उसे तब तक पुनः–पुनः पढ़ाते थे जब तक उसका अध्ययन समाप्त नहीं हो जाता था।[४१५]

आपस्तम्ब का वचन है कि ऐसे ब्रह्मचारियों का जिनको वह 'बुद्धतर ब्रह्मचारी कहते हैं–सम्मान आचार्य के समान ही होनी चाहिए'।[४१६] तक्षशिला में भी यह प्रथा थी। उदाहरणार्थ कुरु के राजकुमार सुतसोम जो तक्षशिला के वृद्वतर ब्रह्मचारी थे काशी के युवराज को पढ़ाते थे। तक्षशिला में आचार्य की अनुपस्थितियों में उनका अग्रशिष्य ही गुरुकुल का प्रधान होता था।

प्रत्येक विद्यार्थी की प्रगति का पृथक–पृथक ध्यान रखा जाता था जिसका फल अति उत्तम होता था। किन्तु विद्यार्थी में प्रतिभा होना तो आवश्यक था ही।[४१७] बुद्धि और विद्वत्ता का परिपाक तभी हो सकता है जब शिष्य वर्षों तक आचार्य के चरणों में बैठकर विधिवत अध्ययन करता है।[४१८]

अध्ययन की समाप्ति लम्बी और विस्तृत परीक्षा से नहीं अपितु अंतिम पाठ की आवृत्ति और व्याख्या से होती थी।[४१९] अध्ययन की समाप्ति के अवसर पर स्नातक को पंडितों की सभा में उपस्थित किया जाता था जहाँ उससे कुछ प्रश्न पूछे जाते थे। समावर्तन संस्कार के अनन्तर स्नातक पंडित सभा में उपस्थित किया जाता था।[४२०]

राजशेखर ने राज–सभाओं में होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख किया है।[४२१] इसी प्रकार चरक भी पंडितों की सभा में वैद्यों की योग्यता की परीक्षा का उल्लेख करते हैं।[४२२] युवांगच्वांग सूचित करता है कि ७वीं शताब्दी के कुछ धूर्त पण्डित यश–प्राप्ति के लिए 'नालन्दा का नाम चुराते' थे।[४२३]

इस काल में उन्हें ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत उच्चारों में अन्तर, तालों का ज्ञान, स्वरित–उदात्त तथा नीच उच्चारों में अन्तर, संहिता पाठ में संधि होने से शब्दों में होने वाले रूपान्तर इत्यादि का ज्ञान कराया जाता था।[४२४]

एक उपनिषद्कालीन राजा कहता है कि मेरे जनपद में कोई अविद्वान नहीं है।[४२५] कई स्थानों पर अपने नौकरों के साथ इन पाठशालाओं में पढ़ने जाते हुये धनी बालकों के वर्णन आये हैं। २५० ई० तक भारतवर्ष में प्राकृतों का जोर रहा।[४२६]

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों के ग्रन्थों में चौकोर पट्ट पर लिखते हुए दर्शाने की प्रणाली बड़े स्पष्ट रूप से लिखी मिलती है। कदली–पत्रों पर पूर्ण अभ्यास कर लेने पर बालकों को ताड़पत्रों पर लिखना सिखलाया जाता था। पाठशालाओं को 'लिपिशाला' तथा अध्यापकों को 'दारकाचार्य' कहते थे। १०वीं शताब्दी में कश्मीर के प्रारम्भिक शिक्षकों का वर्णन मिलता है।[४२७] बंगाल में ब्रिटिश–साम्राज्य की स्थापना से ठीक पहले गाँव के अध्यापक की आय उतनी ही थी जितनी पटवारी की। मद्रास राज्य के कतिपय स्थानों में फसल कटने के समय अध्यापकों को भी प्रत्येक खेत से बढ़ई तथा लुहार–कुम्हारों की भांति कुछ अनाज दिया जाता था। किन्तु यह प्रथा सर्वत्र चालू न थी।[४२८]

मन्दसोर के तन्तुवाय निगम के ५वीं शताब्दी के सदस्य लोक–गीत और ज्योतिष में निपुण थे।[४२९] १९वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में सर टामस मुनरो ने प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला पायी थी। उनका कथन है कि "मेरा अनुमान है बालकों में से २५ से ३३ प्रतिशत शिक्षा पाते थे।"[४३०] कतिपय जिलों में पढ़ने योग्य बालकों में १०० पीछे १८ बालक पाठशालाओं में पढ़ते थे।[४३१] मालकम ने १०० से अधिक घरों के प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला देखी थी।

विद्यार्थी विभिन्न विषयों के पंडितों से उनके विषयों की शिक्षा ग्रहण करते थे।[४३२] चिकित्साशास्त्र के विद्यार्थियों की शिक्षा में शल्यतंत्र व औषधि–निर्माण का ज्ञान अवश्य कराया जाता था। कठिन विषयों की चर्चा भी हमेशा विद्यालय में होती थी जिससे उन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता था।[४३३]

जख्म की सिलाई पतले चमड़े की सलाई से सिखाई जाती थी और उस पर पट्टी लगाने का अभ्यास भूंसे के मानव पुतलों के सहारे से किया जाता था।[४३४] शव को पानी में सड़ाकर विद्यार्थियों को शवच्छेद करना पड़ता था। तब वे मांस–पेशियों, धमनियों, हड्डियों तथा भीतरी अंगों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते थे।[४३५]

चरक ने लिखा है कि आयुर्वेद के सभी अंगों में कोई वास्तविक पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। चरक[४३६] और सुश्रुत[४३७] का कथन है कि अयोग्य चिकित्सकों को चिकित्सा की अनुमति देना अनुचित है।

पूर्वकाल में जहाँ अश्विनों और धन्वन्तरी को देव–पद दिया गया अब उन्हीं चिकित्सकों के साथ भोजन करना प्रायश्चित के योग्य माना जाने लगा।[४३८] पुराणों ने तो यहाँ तक कह डाला कि चिकित्सक अम्बा दासी में उत्पन्न गालव ऋषि के अवैध पुत्र के वंशज हैं।[४३९]

यद्यपि इस काल में भी यदा कदा राजा की ओर से चिकित्सकों को भूमिदान मिल जाता था पर सम्पूर्ण समाज में चिकित्सक का व्यवसाय हेय समझा जाता था। अतः इसकी कार्यक्षमता तथा प्रगति पर विपरीत प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।[४४०] तक्षशिला राजकुमारों को सैनिक शिक्षा देने का प्रसिद्ध केन्द्र था। इस नगर के एक सैनिक विद्यालय में १०३ राजकुमार विभिन्न युद्ध विद्याओं यथा हस्ति–परिचालन, अश्वारोहण तथा विभिन्न आयुधों के परिचालन की शिक्षा ग्रहण करते थे।

९वीं शताब्दी का दक्षिण का एक लेख मिला है जिसमें एक ऐसे ही शिक्षक को अश्व परिचालन में अद्‌भुत प्रतिभावाला कहा गया है।[४४१] ई० पू० तीसरी शताब्दी से राजवंश के बालकों की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खुलने लगीं।[४४२] मनु[४४३] ने वैश्यों के लिए जिस प्रकार की शिक्षा का विधान और कौटिल्य ने व्यापाराध्यक्ष के लिए जिस योग्यता की अपेक्षा की है। ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में देश में अधिकांश व्यापारी वर्गों को सुसंघटित श्रेणियाँ बन चुकी थीं। १२वीं शताब्दी में कर्नाटक की एक ऐसी ही श्रेणी एक साहित्य–विद्यापीठ चला रही थी।[४४४]

विज्ञान और शिल्पकला की शिक्षा प्रायः उम्मीदवारी प्रथा के माध्यम से ही दी जाती थी। यदि बिना उचित कारण के शिष्य आचार्य को त्याग दे तो उसे शर्त की अवधि तक आचार्य के साथ रहने, सीखने और कार्य करने के लिये बाध्य किया जा सकता था।[४४५] यदि आचार्य शिष्य की शिक्षा में प्रमाद करे और उससे शिल्प के अतिरिक्त अन्य कार्य करावे तो शिष्य वचनभंग के उत्तरदायित्व से सर्वदा मुक्त होकर आचार्य का परित्याग कर सकता था।[४४६] यदि आचार्य उसे उचित पारिश्रमिक देने को प्रस्तुत हो तो किसी अजनवी के यहाँ सेवा करने से आचार्य की सेवा ही श्रेयस्कर समझी जाती थी।[४४७] व्यवसाय की शिक्षा जीवन की व्यावहारिक और वास्तविक समस्याओं की पृष्ठभूमि में ही दी जाती थी।[४४८]

प्राचीन शिक्षा का सिद्धान्त था कि व्यक्ति अपने को अजर और अमर समझकर विद्या प्राप्त करता रहे। यों वह आश्वलायन तथा हिरण्यकेशिन के अनुसार १२ वर्षों में वेदों में पारंगत हो सकता है, किन्तु एकदम पूर्णता प्राप्त करने के लिये उसे २४ या ४८ वर्ष भी लग सकते हैं। मानव–जीवन की सीमा को देखते हुए बौधायन ने लिखा है कि जब तक केश काले रहें तभी तक शिक्षा ग्रहण करे। एक सत्र (उपकरणम्) श्रावण की पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर पौष की पूर्णिमा (अर्थात् जुलाई से दिसम्बर) तक समाप्त होता था जिसे उत्सर्जन कहते थे।

अक्षर स्वीकरण संस्कार ५ या ६ वर्ष की उम्र में होता था। इस काल के लेखकों ने बुद्ध, रघु, लव व कुश को इसी उम्र में शिक्षा प्रारम्भ करते हुए दिखाया है। चीनी यात्री इत्सिंग ने भी लिखा है कि शिक्षा का प्रारम्भ यहाँ ६ वर्ष की उम्र में ही होता है।

प्रारम्भिक शिक्षा के लिए ५ और माध्यमिक शिक्षा के प्रारम्भ के लिए ८ वर्ष की उम्र उचित मानी गयी थी। जो बालक १६ वर्ष की उम्र में शिक्षा प्रारम्भ करता है, वह अपने आचार्य का यश धवल नहीं कर सकता।[४४९]

छात्र प्रायः गुरु के आश्रम में १२–१६ वर्ष तक निवास करके विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मचर्य की अवधि ४८ वर्ष थी। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष निर्धारित किये गये थे। मनु ने तीन वेदों के लिए ३६ वर्ष शिक्षण काल माना है। श्वेतकेतु १२ वर्षों तक अपने आचार्य के निकट रहा था।[४५०] सत्यकाम जाबाल के आश्रम में कामलायन ने शिक्षा ग्रहण करते हुए १२ वर्ष बिताये थे।[४५१]

पाणिनि के समय में शिक्षाकाल ब्रह्मचर्य कहलाता था। 'तदस्य ब्रह्मचर्य'[४५२] स्मृति चन्द्रिका[४५३] और कृत्यकल्पतरु[४५४] के अनुसार एक वेद का अध्ययन करना ही यथेष्ट था, जो कि बारह वर्ष में सम्यक रूप से पूर्ण होता था। लक्ष्मीधर ने जीवनपर्यन्त छात्र रहने वाले 'नैषधीक ब्रह्मचारी' का भी उल्लेख किया है।[४५५]

रामचन्द्र जी जब लगभग १५ वर्ष के थे तभी वेदों को पढ़ चुके थे और शस्त्र–विद्या में निपुण हो गये थे।[४५६] सम्भवतः लगभग ३० वर्ष की अवस्था में जब

दशरथ उन्हें राजा बनाना चाहते थे, उस समय वह धर्म और अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और सभी धर्मशास्त्रों का अध्ययन भी कर लिया था।[४५७] उन्होंने वेदों के अध्ययन के बाद ही बला और प्रतिबला विद्याओं की भी शिक्षा प्राप्त कर ली थी।[४५८] अध्ययनरत ब्राह्मण परिवारों में नैतिक शिक्षा का प्रारम्भ ७ वर्ष से ही प्रारम्भ कर दिया जाता था।[४५९] ब्राह्मण पुत्र के लिए ८ से १० वर्ष, क्षत्रिय पुत्र के लिए ११ वर्ष और वैश्य पुत्र के लिए १२ वर्ष आयु शिक्षा प्रारम्भ के लिए निर्धारित की गयी थी।[४६०]

भारद्वाज ने ७५ वर्षों तक वेदों का अध्ययन किया और जीवन के चौथे भाग में ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए अनुष्ठान किया।[४६१] कभी–कभी छात्र का गुरुकुल अवधि के अनुसार नाम भी पड़ जाता था। जैसे सांवत्सरिक ब्रह्मचारी, जो पूरे वर्ष भर गुरु गृह में रहता था। मासिक ब्रह्मचारी, जो केवल एक मास के लिए ब्रह्मचारी बनता था तथा अर्धमासिक ब्रह्मचारी जो मात्र १५ दिन के लिए ब्रह्मचारी बनता था।[४६२] प्रायः १२ वर्ष तक छात्र गुरु के आश्रम में निवास करते थे।[४६३]

वलभी के विद्यालयों के सम्बन्ध में इत्सिंग ने लिखा कि 'वे दो–तीन वर्षों तक अपने आचार्यों से पढ़ने और अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाने में बिताते थे।[४६४] २५० ई० तक भारतवर्ष में प्रारम्भिक शिक्षा के उत्तरकाल में ८ से ११ वर्ष की उम्र तक ब्रह्मचारी पाणिनी के सूत्रों या व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का अध्ययन करते थे।[४६५]

वैदिक युग में नारी–शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। ज्ञान और शिक्षा में वे किसी भी प्रकार पुरुषों से कम नहीं थीं। लोपामुद्रा, विश्वपारा, आत्रेयी, अपाला, काक्षवती, घोषा, सिफल आदि विदुषी नारियाँ इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों में भी अनेक विद्वान् स्त्रियों के सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें गार्गी परम विदुषी महिला थीं।

गार्गी ने जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान् महापुरुष को अपने गूढ़ प्रश्नों से मूक कर दिया था।[४६६] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी।[४६७] तद्युगीन स्त्रियाँ अनेक कार्यों में दक्ष हुआ करती थीं।[४६८] गृह्यसूत्रों से विदित होता है कि उनका उपनयन के साथ–साथ समावर्तन संस्कार भी होता था।[४६९] समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के बाद सम्पन्न होता था।[४७०]

इससे लगता है कि सूत्र–युग में पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थीं।[४७१]

ऋषि–तपण के समय गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी आदि ऋषि–नारियों के भी नाम लेने का निर्देश किया गया था।[४७२] अध्यापन–कार्य करने वाली स्त्रियाँ 'आचार्या' और 'उपाध्याया' कही जाती थीं। वैदिक युग में सहशिक्षा की प्रथा थी जिसमें स्त्री–पुरुष साथ–साथ बैठकर शिक्षा प्राप्त करते थे। कामंदकी ने थरिंवस और देवराट के साथ विद्या ग्रहण की थी।

कौशल्या और तारा 'मंत्रविद्' नारियाँ थीं।[४७३] सीता नित्य सन्ध्या–पूजन करती[४७४] और अत्रेयी वेदान्त का अध्ययन करती थी।[४७५] रामायण से सीता की शिक्षा का ज्ञान होता है। वह अपने पति के द्वारा भेजी गयी अंगूठी पर, जो कुछ खुदा हुआ था, उसे पढ़ सकती थी।[४७६] हनुमान के कथन से यह स्पष्ट है कि वह तीन प्रकार की भाषाएँ, मानुषी संस्कृत, द्विजाति संस्कृत तथा दक्षिण में बोली जाने वाली अपभ्रंश भाषा जानती थीं।[४७७] जटिला, शबरी भी सम्भवतः वानर जाति की थी। उसे मातंग आश्रम में शिक्षा दी गयी थी।[४७८]

उपाध्याय की पत्नी को 'उपाध्यायानी' तथा आचार्य की पत्नी को 'आचार्यानी' कहा जाता था। अध्ययन करने वाली छात्राओं को 'अध्येत्री' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। पतंजलि ने 'औदमेध्या' नामक आचार्य का उल्लेख किया है। उससे पढ़ने वाले छात्र 'औदमेध' कहलाते थे।[४७९] छात्राओं को शिक्षा प्रदान करने के लिए छात्रा–शालाएँ हुआ करती थीं।[४८०]

वात्स्यायन ने स्त्रियों के लिए ६४ अंगविद्याओं के अध्ययन करने का उल्लेख किया है।[४८१] उसने 'उपाध्याया', 'उपाध्यायी', 'आचार्या' आदि का भी उल्लेख किया है[४८२], यद्यपि मनु, याज्ञवल्क्य, यम आदि स्मृतिकारों ने स्त्रियों की शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा उनके उपनयन में वैदिक मंत्रों का उच्चारण बन्द कर दिया।[४८३] बाद में उनका उपनयन भी समाप्त कर दिया गया।[४८४] राजशेखर ने विदुषी और कवि स्त्रियों का उल्लेख किया है।[४८५]

वैदिक युग में सहशिक्षा की प्रथा थी, जिसमें स्त्री और पुरुष समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। कामन्दकी ने भूरिवस और देवराट के साथ विद्या ग्रहण की थी।[४८६] अत्रेयी ने वाल्मीकि आश्रम में लव और कुश के साथ शिक्षा प्राप्त की थी।[४८७]

हिन्दूश्रुतियों के अनुसार भी ऋग्वेद में २० कवियत्रियों की रचनाएँ हैं। उनमें से कुछ के नाम हैं, विश्वपारा, सिकता, नितावरी, घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा, अपाला तथा उर्वशी। पत्नी के साथ ही पुरुष यज्ञ कर सकता था।[४८८] यज्ञ के पूर्व पति–पत्नी दोनों को एक विशेष प्रकार का उपनयन करना पड़ता था[४८९] तथा यज्ञ में समान रूप से सक्रिय रहना पड़ता था।[४९०]

अग्रहायण विधि के स्रस्तरारोहण संस्कार में पत्नी को कई वैदिक मंत्रों का पाठ करना पड़ता था।[४९१] लवन–यज्ञ नारियाँ ही करती थीं क्योंकि अत्यन्त प्राचीनकाल से यही परिपाटी चली आ रही थी।[४९२] रामायण से पता चलता है कि कौशल्या रानी राम के युवराज पद पर अभिषेक के दिन प्रातःकाल से ही यज्ञ कर रही थीं।[४९३] बालि के सुग्रीव से युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय उसकी पत्नी तारा भी यज्ञ कर रही थी।[४९४] यह बात विशेषतया ध्यान में रखने की है कि इन दोनों को रामायण में 'मंत्रविद' (वैदिक साहित्य की ज्ञाता) कहा गया है। पाण्डवों की जननी कुन्ती अथर्ववेद की पंडिता थी।[४९५]

अर्थववेद (११.५.१८) में कन्याओं द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[४९६] ई० पू० ५०० तक के सूत्रों से भी यही बात स्पष्ट होती है। पूर्वकाल में बालिकाओं का भी उपनयन होता था।[४९७] संगीत और नृत्यकला की भी शिक्षा उन्हें दी जाती थी। इन कलाओं के प्रति नारियों के पक्षपात की चर्चा वैदिक साहित्य में भी आयी है।[४९८]

वे वस्त्राभूषण में उतनी रुचि न लेती थी जितनी दर्शन की गम्भीर समस्याओं में।[४९९] जनक के यज्ञ के अवसर पर जो दार्शनिक शास्त्रार्थ हुआ था उसमें गार्गी वाचक्नवी के प्रश्न सबसे सूक्ष्म और दुरूह थे।[५००] उत्तररामचरित की आत्रेयी भी ऐसी ही विदुषी थी जिसने वाल्मीकि तथा अगस्त्य से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण की थी।[५०१] ऐसा प्रतीत होता है कि सुलभा, बढ़वा, प्राथितेयी, मैत्रेयी ओर गार्गी जैसी इस काल की

विदुषियों ने ज्ञान के विकास में बहुमूल्य कार्य किये थे क्योंकि ब्रह्मयज्ञ में जिन ऋषियों को नित्य तर्पण दिया जाता है उनमें इनकी भी गणना है।[५०२]

ब्रह्मचारिणियों में शुभा, अनुपमा, सुमेधा आदि उच्च अभिजात कुलों की कन्याएँ थीं जिनके पाणिग्रहण के लिए राजकुमार और बड़े–बड़े श्रेष्ठियों के पुत्र लालायित थे। कोई आवश्यक न था कि उपाध्याय की पत्नी विदुषी ही हो। किन्तु उपाध्याय[५०३] शब्द का तात्पर्य तो महिला शिक्षिकाओं से ही है। पाणिनि छात्री शालाओं का उल्लेख करते हैं।

उस काल में गान्धर्व विवाह असामान्य नहीं था।[५०४] वैदिक साहित्य में ऐसे माता–पिताओं का भी उल्लेख आया है जो विदुषी पुत्रियों की उत्पत्ति के लिए यज्ञ करते थे, जिनकी व्यवस्था वैदिक साहित्य में है।[५०५] उस काल में बालिकाओं को उपनयन के अनन्तर शिक्षा देना आवश्यक न रह गया था।[५०६] वैदिक साहित्य शुद्ध रूप में सुरक्षित करने के लिए महिलाओं के वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। अतः उनका उपनयन भी बन्द कर दिया गया।[५०७]

इस काल के धर्मशास्त्रकार योग्य वर के अभाव में कन्या का विवाह १६–१७ वर्ष की वय तक रोक रखने की अनुमति देते हैं।[५०८] मनु यद्यपि १२ वर्ष की उम्र में बालिकाओं का विवाह कर देने के पक्ष में थे तथापि योग्य वर के अभाव में उसे मृत्यु पर्यन्त अविवाहित रखने की भी व्यवस्था देते हैं।[५०९] अलबरूनी (११वी शताब्दी) ने लिखा है कि 'हिन्दू अपनी बालिकाओं का विवाह अल्प वय में ही कर देते हैं। बारह वर्ष तक कोई ब्राह्मण अपनी कन्या को कुमारी नहीं रख सकता।[५१०]

यद्यपि साधारण समाज में इस काल में नारी शिक्षा की बड़ी अवनति हुई तथापि धनी, सुसंस्कृत, सामन्त और राजघरानों में अब भी नारी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[५११] वे संस्कृत और प्राकृत भलीभांति पढ़ और समझ लेती थीं। कभी–कभी तो वे अपने पुरुष सम्बन्धियों के व्याकरण के दोष भी ढूंढ़ निकालती थीं। साधारणतया गृह–विज्ञान तथा ललित कलाओं यथा संगीत, चित्रकला, नृत्य, माल्य ग्रंथन आदि की उन्हें विशेष शिक्षा दी जाती थी।[५१२]

गाथा सप्तशती में सात कवियित्रियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। उनके नाम हैं, रेखा,[५१३] रोहा,[५१४] माधवी,[५१५] अनुलक्ष्मी,[५१६] पाहई,[५१७] वद्धवही,[५१८] तथा शशिप्रभा[५१९] । शंकर और मण्डन मिश्र के बीच हुए संस्मरणीय शास्त्रार्थ की निर्णायिका मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी ही थी।[५२०] ८वीं शताब्दी में आयुर्वेद के जिन ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ था उनमें एक महिला लेखिका जिसका नाम अरबी लिपि में रूसा प्रतीत होता है—की प्रसवविज्ञान पर लिखी एक पुस्तक भी थी।

महिलाओं के अस्वतंत्रता के समर्थन में तर्क करते हुए असहाय ने लिखा है कि शास्त्राध्ययन न करने के कारण महिलाओं में धर्माधर्म के ज्ञान का अभाव रहता है। अतः उन्हें स्वतंत्रता न मिलनी चाहिए। मराठा और राजपूत खानदानों में राजकुमारियाँ प्रायः तलवार और भाले चलाना जानती थीं।[५२१]

मनुस्मृति के प्रणेता मनु सबके पिता हैं। मनु की सन्तान मानव। ऋग्वेद के अष्टम मंडल में ५ सूक्तों व ५६ मंत्रों के द्रष्टा के रूप में वैवस्वत मनु का उल्लेख आया है। मनुस्मृति का रचनाकाल २०० ई० पू० से १०० ईसवी के मध्य माना जाता है।[५२२] कश्यप वैदिक ऋषि हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के एक सूक्त और एक मंत्र के वे द्रष्टा हैं। सामवेद और अथर्ववेद में भी उनका उल्लेख है। उनके पुत्र या शिष्य असित तथा मेधावी शिष्य देवल का भी मंत्रद्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

वशिष्ठ कई वैदिक सूक्तों के ऋषि हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के तो वे प्रख्यात एवं विशिष्ट ऋषि हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के १०२ सूक्तों व १४३ मंत्रों के ऋषि वशिष्ठ ही हैं। वशिष्ठ सूर्यवंशी राजाओं के कुल पुरोहित थे। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को भी उन्होंने शिक्षा दी। वशिष्ठ ने एक स्मृति की भी रचना की है जिसे वशिष्ठ—स्मृति कहा जाता है। वशिष्ठ के आश्रम में दस हजार छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे।

विश्वामित्र का प्रथम परिचय हम ऋग्वेद में पाते हैं। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के अनेक सूक्तों व मन्त्रों के वे द्रष्टा हैं। धनुर्वेद के तो वे विशारद ही थे। अगस्त्य को कुम्भज, कुम्भयोनि, कुम्भजन्मा, घटोद्भव, कलशयोनि, घटयोनि आदि नामों से भी पुकारा जाता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २७ सूक्तों व २२० मंत्रों के ऋषि अगस्त्य

हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १७६ वे सूक्त के मंत्रों का साक्षात्कार अगस्त्य पत्नी लोपामुद्रा ने किया है।[५२३] सुतीक्ष्ण, शंरभंग आदि छात्र–ऋषियों को इन्होंने संगठिन किया था। दण्डकारण्य में उनका आश्रम था।

वृहस्पति के पिता का नाम अंगिरा था। महर्षि अंगिरा ब्रह्मा के पुत्र थे। ऋग्वेद में प्रथम मंडल के नौ मंत्रों के देवता वृहस्पति हैं। इसी वेद में द्वितीय मंडल के १६ मंत्रों, चतुर्थ मंडल के नौ मंत्रों, षष्ट मंडल के तीन मंत्रों और सप्तम मंडल के छह मंत्रों के देवता भी वृहस्पति ही हैं। वृहस्पति की पत्नी जुहू थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में १०६ वें सूक्त में सभी सात मंत्रों की द्रष्टा जुहू हैं।[५२४]

अथर्ववेद के कुछ मंत्रों के ऋषि के रूप में शुक्र का उल्लेख आया है। शुक्राचार्य का एक विशाल गुरुकुल था जिसमें देवगुरु वृहस्पति का पुत्र कच भी छात्र था। शुक्रनीतिसार में अनेक कलाओं का वर्णन है। शुक्राचार्य केवल दण्डनीति को ही विद्या मानते हैं। शुक्राचार्य ने ३२ विद्याएं तथा ६४ कलाएं मुख्य मानी है।[५२५]

ऋग्वेद के छठें मंडल का या तो भरद्वाज ने या भरद्वाज के शिष्यों और पुत्रों ने दर्शन किया। भरद्वाज वैदिक ऋषि हैं। ऋग्वेद के षष्ठ मंडल के ५६ सूक्तों और ५२६ मंत्रों के वे द्रष्टा हैं। भरद्वाज प्रयाग स्थित एक विशाल गुरुकुल या एक विशाल विश्वविद्यालय के कुलपति थे। इनके आश्रम में दस हजार से अधिक छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। भरद्वाज के गुरु याज्ञवल्क्य थे।[५२६]

ऋग्वेद में अत्रि का नाम ७२ स्थानों पर आता है। वेद में अत्रि, अत्रय, अत्रिम्, अत्रिभ्यः अत्रेः, अत्रिणाम्, अत्रिवत्, रूपों में अत्रि शब्द आया है। अत्रिवंश में दुर्वासा, दत्तात्रेय तथा चन्द्र सर्व प्रसिद्ध ऋषि हुए। चित्रकूट में एक विश्वविद्यालय था जिसके कुलपति अत्रि थे। इनका जन्म ब्रह्मा के नेत्रों से बताया गया है। इनकी पत्नी अनुसूया थी।[५२७]

ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के द्रष्टा कण्व के वंशज थे। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १२ सूक्त और १४३ मंत्रों के दुष्टा मेधातिथि काण्व थे। इसी मंडल में प्रस्कण्व काण्व ने ७ सूक्त और ८२ मंत्रों का दर्शन किया था। महर्षि भृगु ब्रह्मा पुत्र थे। नर्मदा के तट

पर शुक्लतीर्थ के समीप इनका आश्रम था। इस आश्रम में वेदों की शिक्षा दी जाती थी। भृगु के पुत्र का नाम च्यवन था। मृत्यु के समय की भविष्यवाणी करने में भृगु सिद्धहस्त थे। भुगुसंहिता में भी इस विषय का विशद विवेचन है।

शौनक ऋषि नैमिष वन प्रदेश में रहते थे। शौनक का आश्रम पुराणों के अध्ययन का विशिष्ट एवं उच्च शिक्षा केन्द्र था। शौनक का आश्रम गोमती नदी के तट पर था। शौनक ने वृहद्देवता की रचना की जिसमें उन्होंने ऋग्वेद संहिता के कुछ मन्त्रों की संख्या १०५८० बताया है। महिदास ऐतरेय एक उच्चकोटि के आचार्य थे। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक को उन्होंने संग्रहीत और सम्पादित किया था।

पिप्पलाद एक सफल शिक्षक थे। ये उच्चकोटि के दार्शनिक एवं ऋषि थे। प्रश्नोपनिषद् में इनका उल्लेख है। इनके शिष्य थे – सुकेश, सत्यकाम, सौर्यायनी, कौसल्य, कबन्धी और भार्गव।[५२८] श्वेताश्वतर एक प्रसिद्ध ऋषि और आचार्य थे जिन्होंने श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना की। यह उपनिषद् दर्शन और रहस्यवाद का मिश्रण है।

'कुशीतक' की शिक्षाएँ जिस उपनिषद् में है उसे कौशीतकी उपनिषद कहा जाता है। ये एक दार्शनिक, ऋषि और शिक्षक थे। पूर्णचन्द्र, नव चन्द्र और सूर्य के विषय में इन्होंने उपासना के तीन प्रमुख सिद्धान्त दिये। छान्दोग्य उपनिषद में शांडिल्य का उल्लेख है। 'तंज्ञलन' के सिद्धान्त का इन्होंने प्रतिपादन किया है।

सनत्कुमार का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में है। नारद के शिक्षक यही थे। इन्होंने आध्यात्मिक सुखवाद की शिक्षा दी है।[५२६] वामदेव का नाम ऋग्वेद एवं वृहदारण्यक में आया है। वामदेव का उल्लेख पुनः ऐतरेय उपनिषद् में आया है। वे इसमें तीन जन्मों के दर्शन की व्याख्या करते हैं। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ५५ सूक्तों व ५६२ मंत्रों के ऋषि के रूप में उनका उल्लेख है। पांच मंत्रों के देवता के रूप में भी वामदेव को स्थापित किया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में अश्वपति केकय का उल्लेख हुआ है। वह वैश्वानर आत्मन् के सिद्धान्त के अधिकारी विद्वान् थे। पश्चिमोत्तर भारत में पाँच बहुत बड़ी पाठशालाएँ थीं। एक के शिक्षक थे उपमन्यु पुत्र प्राचीनशाल, दूसरे के शिक्षक थे पुलुष

पुत्र सत्ययज्ञ, तीसरे के शिक्षक थे मल्लव पुत्र इन्द्रद्युम्न, चौथे के शर्कराक्ष पुत्र जन और पांचवें के शिक्षक थे अश्वतराश्वि पुत्र बुडिल। सत्यकाम जाबाल प्राचीन भारत के एक प्रसिद्ध शिक्षक थे। इनका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में है।

विदेह (मिथिला) के राजा थे जनक और इनका दरबार सदा विद्वानों से भरा रहता था। इनकी सभा वैदिक संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र थी। राजा जनक सामूहिक चर्चा को शिक्षण–विधि के रूप में अपनाने के पक्ष में थे इसीलिए ज्ञान के विश्लेषण व सीखने–सिखाने के समय वे चर्चा व शास्त्रार्थ को अपनाते थे।[५३०]

लगभग ६०० ईसा पूर्व भारतभूमि पर याज्ञवल्क्य जैसे महान दार्शनिक का अवतरण हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार याज्ञवल्क्य के गुरू आरुणि थे। वृहदारण्यक के अनुसार याज्ञवल्क्य कुरूपांचाल प्रदेश के निवासी थी। जाबाल, वृहद्जाबाल, रामोत्तरतापिनी, याज्ञवल्क्य, तारक, पैंगल आदि उपनिषदों में भी उनके उपदेश हैं।[५३१]

मिताक्षरा याज्ञवल्क्य–स्मृति पर भाष्य है। मिताक्षरा का रचनाकाल १०७० से ११०० ई० के मध्य है। याज्ञवल्क्य–स्मृति पर तीसरा प्रमुख भाष्य अपरार्क का है। इस स्मृति के चौथे प्रमुख व्याख्याकार है मित्रमिश्र। कुरु पांचाल के श्रेष्ठ दार्शनिक शिक्षक के रूप में उद्दालक आरुणि विख्यात थे। यज्ञ के कर्मकाण्ड, दर्शन और ब्रह्मविद्या के ये अधिकारी विद्वान् थे।[५३२] अरुण के पौत्र और उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु एक महान शिक्षक थे।

गार्गी उपनिषद्काल की महान् विदुषी नारी थीं। गागी वाचनक्नवी उपनिषद्काल की नारी–शिक्षा का ज्वलन्त उदाहरण थीं। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं – मैत्रेयी और कात्यायनी। वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, मनु, भरद्वाज, कश्यप, वृहस्पति, भृगु, शुक्र, वादरायण, वामदेव, याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु के गुरुकुल थे। परशुराम के पिता ऋषि जमदग्नि थे। जमदग्नि का उल्लेख सामवेद एवं अथर्ववेद में है। वे मन्त्रदृष्टा ऋषि थे। महेन्द्र पर्वत पर स्थित उनके आश्रम में वेद का अध्ययन होता था।

गुरु द्रोण का आश्रम पूर्णतः राज्याधीन था। द्रोणाचार्य का आश्रम राजकुमारों की शिक्षा के लिए था। कौरव और पाण्डव यहाँ पर शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। हरिद्वार में एक आचार्य भारद्वाज का आश्रम था। इसमें द्रोणाचार्य ने आग्नेयास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।[५३३]

महाभारत के अनुशासन पर्व में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं महर्षि उपमन्यु के आश्रम[५३४] को स्पष्ट किया है। शिप्रा नदी के किनारे पर उज्जैन सन्दीपनि का गुरुकुल था। राजा जयसेन ने सांदीपनि–विद्यापीठ की स्थापना की थी।[५३५] संदीपनि के गुरुकुल में बलराम, श्रीकृष्ण, सुदामा, राजकुमार बिन्द, अनुबिन्द, मित्रविन्द, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध, वज्रनाम जैसे अनेक शिष्यों ने शिक्षा पाई थी। इस विद्यापीठ में वेद, वेदांग, उपनिषद्, राजनीति, अर्थनीति, शस्त्र विद्या, एवं अन्य कलाओं का ज्ञान दिया जाता था।

व्यास महर्षि वशिष्ठ के पौत्र और पराशर जी के पुत्र थे। उन्हें वेदव्यास कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र के रचयिता यही हैं। उन्हें अठारहों पुराणों की रचना का भी श्रेय दिया जाता है। महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर बदरी–क्षेत्र में था। इसी आश्रम में सुमन्तु, वैशम्पायन तथा जैमिनि ने वेदाध्ययन किया था। व्यास के शिष्य थे जैमिनी। जैमिनि ने सूत्रों के रूप में मीमांसा दर्शन की रचना की है। इनके सूत्रों पर शबर–मुनि ने शाबर भाष्य की रचना की। जैमिनी ने संसार को मीमांसा के दर्शन का सर्वश्रेष्ठ उपहार दिया है।

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि अपने समय के मूर्धन्य शिक्षकों में थे जो ऋषि, मुनि के रूप में जगत् में विख्यात थे। महर्षि कपिल का आश्रम 'बिन्दुसार' के पास रेणुका नामक झील के ऊपर सरस्वती नदी के तट पर कहीं था। डा० राधाकृष्णन ने अनेक प्रमाणों के आधार पर कपिल का स्थिति–काल ७०० ई० पू० माना है।

देवल का उल्लेख ऋग्वेद में भी है। ये कश्यप गोत्रीय ऋषि थे। आचार्य देवल का आश्रम संभवतः सिन्धु प्रदेश में कहीं पर था। महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरंग वामन काणे[५३६] ने अपने धर्मशास्त्र में देवलाचार्य को वृहस्पति एवं कात्यायन नामक दो स्मृतिकारों का समकालिक बताया है। देवल एक योग्य शिक्षक के रूप में विख्यात थे।

ये एक स्मृति के रचयिता भी थे। देवल स्मृति का पश्चिमी भारत में आज भी सम्मान है।

वाचस्पति मिश्र मिथिला के रहने वाले थे। इनकी 'तत्वकौमुदी' टीका पाण्डित्यपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पर 'भामती' टीका, न्यायदर्शन[५३७] पर 'न्यायवर्तिक तात्पार्य' टीका, मीमांसा पर 'न्यायकारिका' और योगभाष्य पर 'तत्ववैशारदी' टीका लिखी है।

शतपथ ब्राह्मण में काव्य पातंजल का नाम आया है। निदान सूत्र के रचयिता, महाभाष्य के प्रणेता, आयुर्वेद के ज्ञाता, योगसूत्र के रचयिता, सांख्याचार्य और कोषकार ये छह अन्य पतंजलि का उल्लेख आया है। योगसूत्र के रचयिता, महाभाष्य के रचयिता और चरकसंहिता के रचयिता के रूप में पतंजलि का उल्लेख हुआ है।

आचार्य गौतम न्यायशास्त्र के प्रवर्तक थे। पद्मपुराण में बताया गया है कि गौतम ने न्याय–सूत्र का, कणाद ने वैशेषिक का और कपिल ने सांख्य का उपदेश किया है।[५३८] स्कन्दपुराण में भी गौतम को न्याय का प्रवर्तक बताया गया है।[५३९] इसके अतिरिक्त नैषध चरित में भी गौतम का न्याय प्रवर्तक के रूप में उल्लेख है। रामायण और महाभारत दोनों जगह गौतम का उल्लेख है। उपनिषदों में कठोपनिषद में महर्षि गौतम का उल्लेख है।[५४०]

महर्षि कणाद का एक नाम लौलूक्य भी है। कणादि का आश्रम प्रभास क्षेत्र में था। यह स्थान गुजरात में सोमनाथ मन्दिर के निकटवर्ती क्षेत्र में है। कणाद ने विशेष पदार्थ को सत्य माना है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और पंचम तत्व विशेष है। कणाद ने परमाणु का वर्णन किया है। अविभाज्य, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय पदार्थ परमाणु है।

अफगानिस्तान व्याकरण के क्षेत्र में अमिट नाम पाणिनि की जन्मस्थली है। पाणिनि ने लगभग ४००० अल्पाक्षर सूत्रों से संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत किया जिसे अष्टाध्यायी कहा जाता है। 'चरक संहिता' जो 'काय चिकित्सा' का प्रामाणिक ग्रंथ है, वह महर्षि आत्रेय के उपदेशों पर आधारित है। इसमें आत्रेय के उपदेशों का संग्रह अग्निवेश ने किया और उसे ग्रंथ का रूप दिया।

शल्य–चिकित्सा का ग्रन्थ है 'सुश्रुत संहिता' ओर इसके रचयिता है सुश्रुत। सुश्रुत–संहिता के अनुसार सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। शल्य कर्म के प्रवर्तक धन्वन्तरि के नाम पर शल्य क्रिया करने वालों को धन्वन्तरि कहा जाता था। सुश्रुत–संहिता के बाद बाग्भट ने अष्टांग–संग्रह की रचना की। 'अष्टांग संग्रह' की रचना सुश्रुत–संहिता की प्रेरणा पर हुई है।

यजुर्वेद की एक शाखा के चरक ज्ञाता हुए। शुक्ल यजुर्वेद में उनका उल्लेख हैं पाणिनि ने भी चरक का उल्लेख किया है। वृहज्जातक, ललित विस्तर, जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी में उनका उल्लेख है।

चाणक्य का मूलनाम विष्णुगुप्त था। इन्हें कौटिल्य भी कहा जाता है। कामन्दकनीतिसार, पंचतंत्र, कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि कितने ही संस्कृत ग्रन्थों में इस आचार्य का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लगभग छह हजार श्लोक हैं। आचार्य चाणक्य के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति है।[५४]

कुछ विद्वानों के अनुसार नागार्जुन नाम के कम से कम चार प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। एक है। माध्यमिक दर्शन प्रणेता नागार्जुन, दूसरे रसेश्वर दार्शनिक नागार्जुन, तीसरे तन्त्राचार्य नागार्जुन और चौथे आयुर्वेदाचार्य नागार्जुन। इनमें प्राचीनतम है प्रथम बौद्ध नागार्जुन जिनका काल १४६ से २१७ ईसवी माना जाता है। तन्त्र और आयुर्वेद के आचार्य नागार्जुन नालन्दा में कुछ समय रहे थे। रसरत्नाकर रचयिता नागार्जुन का सम्बन्ध भी नालन्दा से रहा होगा। बौद्ध–दर्शन में नागार्जुन को महायानदर्शन का प्रतिष्ठापक माना जाता है।

आर्यदेव दक्षिण भारत के निवासी थे और श्रीशैल विश्वविद्यालय में नागार्जुन के शिष्य थे। इनके गन्थों में 'चतुःशतक' नाम का ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। दिङ्नाग तर्कशास्त्र के इस उद्भट विद्वान को नालन्दा में 'तर्कपुंगव' की उपाधि मिली थी। भिक्षुक स्तोत्र, गुण्पर्यन्त स्तोत्रटीका, योगावतार, अभिधर्मकोश मर्मप्रदीप, प्रमाण समुच्चय, हेतुमुख, सामान्य परीक्षा आदि बाईस ग्रन्थों के अनुवाद प्राप्त होते हैं।

धर्मकीर्ति ने मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु ने बौद्ध दर्शन में न्याय की परम्परा डाली। प्रमाणविनिश्चय, न्याय बिन्दु, हेतुबिन्दु, वेदन्याय, सम्बन्ध परीक्षा और सन्तारसिद्धि नामक अन्य छह ग्रन्थों की रचना कर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। शान्तरक्षित आठवीं शताब्दी में नालन्दा में आचार्य थे। कुछ समय तक ये इस विश्वविद्यालय के कुलपति भी थे। इन्हें 'आचार्य बोधिसत्व' के नाम से जाना जाता था। इनके 'तत्वसंग्रह' तथा 'माध्यमिकालंकारकारिका' ग्रन्थ हैं।

स्थिरमति का कार्यकाल छठीं शताब्दी ईसवी था। ये नालन्दा के प्रसिद्ध शिक्षक थे। संस्कृत में इन्होंने नौ ग्रन्थों की रचना की और सात ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। सन ६८० ईसवी में स्थिरमति द्वारा स्थापित वलभी मठ को अनुदान दिया। सन् ७७५ से ८०० ईसवी तक धर्मपाल ने राज्य किया था। धर्मपाल नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष या आज की भाषा में कुलाधिपति थे। धर्मपाल व्याकरण के मर्मज्ञ थे और तर्कशास्स्त्र के ज्ञाता थे। इन्होंने चन्द्रगोमिन के व्याकरण पर टीका लिखी और बौद्ध दर्शन पर चार रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

शीलभद्र दक्षिण बंगाल के राजा के पुत्र थे। ये सातवीं शताब्दी में विद्यमान थे। शीलभद्र ने कई ग्रन्थ लिखे किन्तु उनका केवल एक ग्रन्थ अब सुलभ है जो तर्कशास्त्र पर है। कमलशील नालन्दा विश्वविद्यालय में तन्त्र के आचार्य थे। इनका समय आठवीं शताब्दी (७२८–७७६ ई०) है। कमलशील (७३८–७७६ ई०) नालन्दा विश्वविद्यालय के तर्क विभाग के अध्यक्ष तो थे ही इस विश्वविद्यालय के कुलपति भी थे। ये तर्कविद्या के साथ–साथ तन्त्रविद्या के भी आचार्य थे।

बुद्ध ज्ञानपाद नालन्दा विश्वविद्यालय में कुछ समय तक शिक्षक थे। राजा धर्मपाल ने इन्हें आठवीं शती में नवसृजित विक्रमशिला विश्वविद्यालय का अध्यक्ष नियुक्त किया। वे एक नये मत 'वज्राचार्य' के संस्थापक माने गये है। पद्मसम्भव आठवीं शताब्दी में नालन्दा विश्वविद्यालय में आचार्य के पद पर आसीन थे। ये तन्त्र के योगाचार मत के अनुयायी थे।

वीरदेव नालन्दा विश्वविद्यालय में बौद्ध दर्शन के शिक्षक थे। मगध नरेश देवपाल .८४४–८९२) ने वीरदेव को नालन्दा का कुलपति नियुक्त किया था। नालन्दा में नारोपा

प्रसिद्ध तत्वज्ञानी थे और प्रभावशाली आचार्य थे। रत्नाकर शान्ति ने आदन्तपुरी में दीक्षा ली थी और वे विक्रमशिला में आचार्य थे। नारोपा के प्रसिद्ध शिष्य रत्नाकर शान्ति थे। ये कुछ समय तक विक्रमशिला के कुलपति थे।

दीपंकर श्रीज्ञान का जन्म सन् ६८० ई० में हुआ था। दीपंकर का मूल नाम चन्द्रगर्भा था। ये जेतारि के शिष्य थे। जेतारि विक्रमशिला विश्वविद्यालय के छात्र थे। बाद में इनकी नियुक्ति इसी विश्वविद्यालय में शिक्षक के पद पर हो गई। इसके बाद ये तन्त्र विभाग के आचार्य बने। इन्होंने लगभग १०० पुस्तकों की रचना की थी जो तन्त्र पर थी।[५४२]

विक्रमशिला के प्रसिद्ध शिक्षकों में आर्य महापंडित अभयकर गुप्त का भी नाम आता है। तंत्र के ये अधिकारी विद्वान थे। इन्होंने संस्कृत में २७ ग्रन्थों की रचना की थी। वैरोचन रक्षित काल ७२८ ईसवी से ८६४ ईसवी के मध्य था। इन्हें महाचार्य या महापंडित की उपाधि मिली थी। तथागत रक्षित का जन्म व प्रारंभिक शिक्षा उड़ीसा में हुई। विक्रमशिला में आकर उच्च अध्ययन किया और वहीं पर तन्त्र के आचार्य नियुक्त हो गये।

रत्नाकर शान्ति ने ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की थी। विक्रमशिला में इनके शिक्षक थे आचार्य जेतारि। कालान्तर में इन्हें पूर्वी द्वार पर द्वारपंडित नियुक्त किया गया। महापंडित ज्ञान श्रीमित्र जो बंगाल के निवासी थे और जिन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। प्रज्ञाकरमति विक्रमशिला विश्वविद्यालय के दक्षिणी द्वार के द्वारपंडित थे।

रत्नवज्र का मूल निवास स्थान कश्मीर था। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रथम केन्द्रीय द्वार के ये द्वारपंडित नियुक्त हुए। चणक के शासनकाल में ही विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पश्चिमी द्वार के द्वारपंडित थे महापंडित वागीश्वर कीर्ति। अश्वघोष को कनिष्क का समकालीन माना जाता है। इनकी प्रसिद्ध रचनाओं में सौन्दरानन्द तथा बुद्धचरित प्रमुख हैं।[५४३]

वसुबन्धु का जन्म सन् २८३ में हुआ। इन्होंने एक ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है 'अभिधर्मकोश'। इन्होंने 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' नामक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा जिस पर विभाषाशास्त्र नाम की व्याख्या लिखी गई। वसुबन्धु के बड़े भाई असंग थे। वे योगाचार पढ़ाया करते थे। इनके गुरु मैत्रेयनाथ थे। असंग ने पंचभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसंग्रह, प्रकरण आर्यवाच, संगीति शास्त्र, वज्रच्छेदिका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी।

इस प्रकार वराहमिहिर के पूर्व भारत में ज्योतिष के अध्ययन–अध्यापन की दीर्घ परम्परा थी। वराहमिहिर इसी परम्परा की मजबूत कड़ी थे। कुमारजीव कनिष्क के धार्मिक प्रयासों के प्रशंसक थे। कुमारजीव का जन्म ३४४ ई० में हुआ। कुमारजीव ने अश्वघोष और नागार्जुन की जीवनियाँ लिखी हैं। इन्होंने १०६ चीनी ग्रन्थों का अनुवाद किया। गुणवर्मन पाँचवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान थे।

जैमिनि के मीमांसा सूत्रों पर वृहत् व प्रमाणिक भाष्यकार शबर स्वामी है। इनके भाष्य का नाम शबर भाष्य है। आचार्य आनन्दवर्धन का काल नवीं शताब्दी ईसवी हैं वे कश्मीर के महाराजा अवन्तिवर्मा के आश्रित कवि व आचार्य थे। अभिनव गुप्त ने व्याकरण, त्रिकदर्शन, नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र की उच्च शिक्षा प्राप्त की और तत्पश्चात् स्वयं शिक्षक बने। इन्होंने कश्मीर में शैवमत को पूर्णतः प्रतिष्ठित कर दिया।[५४४]

आर्यभट्ट प्रथम गणित व ज्योतिष के मूर्धन्य विद्वान थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों में गणित के सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन किया है। ज्योतिष में आर्यभट्टीय सिद्धान्त का एक पृथक सम्प्रदाय ही विकसित हो गया। आर्यभट्ट कुछ समय के लिए नालन्दा के कुलपति रहे हों। आर्यभट्टीय का रचनाकाल सन् ५२२ ई० है। आर्यभट्ट ने जिन शिष्यों को गणित और ज्योतिष पढ़ाया उनमें भास्कराचार्य प्रथम, पाण्डुरंग स्वामी, लाटदेव आदि प्रमुख थे। आर्यभट्टीय में चार खण्ड हैं – गीतिका पाद या दशगीतिका, गणितपाद, कालक्रियापाद और गोलपाद। प्रथम में १० श्लोक, द्वितीय मं ३३, तृतीय में २५ तथा अन्तिम गोलपाद में ५५ श्लोक हैं।[५४५]

कुमारिलभट्ट बहुततत्ववादी थे। भाट्टमत में प्रमाण छह माने गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि या अभाव। मिथिलावासी उदयन वाद–विवाद, शास्त्रार्थ एवं प्रश्नोत्तर के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने में सिद्धहस्त थे। मिथिला की शिक्षा – परम्परा में गंगेशेपाध्याय का नाम आदर के साथ लिया जाता है। गंगेशोपाध्याय की अमर कृति है 'तत्व चिन्तामणि'। इसमें ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र का व्यवस्थित विवेचन है। आचार्य गंगेश तर्क शास्त्र के ही अध्यापक थे।

रघुनाथ शिरोमणि ने प्रारंभिक शिक्षा नदिया में वासुदेव सार्वभौम से प्राप्त की। उन्होंने गंगेश की तत्वचिन्तामणि पर दीधिति नाम से टीका लिखी। नदिया के वासुदेव सार्वभौम मिथिला गये और दो ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लिया। नदिया में वापस आने पर उन्होंने दोनों ग्रन्थों को अपनी स्मृति से लिपिबद्ध कर लिया था।[५४६]

अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा व्यक्ति को प्रकृति से संस्कृति की ओर ले जाने वाली महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। आरम्भिक शिक्षा औपचारिक न होकर आदिम जनों के बीच लोगों के समूह में रहने, बसने और जीवन जीने की पारस्परिक पद्धति एवं उससे उपलब्ध अनुभवों का सांस्कृतिक नाम थी। जैसे–जैसे सभ्यता का विकास होता गया, जीवन जटिल से जटिलतर होता गया और जीवन तथा संसार से सम्बन्धित ज्ञान की आवश्यकता और विविधता भी बढ़ती गयी।

परिणामतः शिक्षा के अन्तर्गत, शिक्षक शिक्षार्थ पाठ्यक्रम–प्रविधि, संस्था आदि का सन्निवेश हुआ उन दिनों शिक्षा की औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रविधि प्रचलित थी। औपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत मन्दिरों आश्रमों एवं गुरुकुलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी, जबकि पिता, पुरोहित, कथावाचक, सन्यासियों के प्रवास, तीर्थयात्राएँ, पर्व त्योहार, मेला आदि अनौपचारिक शिक्षा के सशक्त माध्यम थे। औद्योगिक शिक्षा शिल्पियों के परिवारों में ही होती थी।

प्राचीन भारतीय शिक्षा नीति है, वेद की वह परम्परा, जो कहती है कि आत्म–साक्षात्कार करो अपने को जानो, अपने लिए जानो, तभी सभी को समझा जा सकता है। वास्तव में शिक्षा मूलतः ज्ञान के प्रसार का एक माध्यम है, चिन्तन तथा परिप्रेक्ष्य के प्रसार का एक तरीका है। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी

पीढ़ी तक जीवन के सही मूल्यों को पहुँचाना तथा भावी पीढ़ी को आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करना भी इसका मुख्य लक्ष्य है। शिक्षा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक विकास के साथ–साथ जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वावलम्बी भी बनाती है।

प्राचीन भारत के शैक्षणिक चिन्तन में गुरु और शिष्य के बीच पूर्ण सौहार्द होने के साथ–साथ गम्भीर चिन्तन, सत्य के लिए जिज्ञासा, स्नेह, सेवा और श्रद्धा का वातावरण होना आवश्यक था। उस समय ज्ञान–विज्ञान एवं दर्शन के माध्यम से आत्मा में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न करना ही शिक्षा कहलाती थी। अतः प्राचीन शिक्षा भारत में ऐसी जीवन की साधना मानी गयी थी, जो जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में साधक थी। गुरुकुल में निवास, गुरुसेवा, ग्रन्थों का अध्ययन–अभ्यास, ब्रह्मचर्यब्रत पालन, भिक्षाचर्या आदि विद्यार्थी की शिक्षा के अभिन्न अंग थे। धनवान–धनहीन और राजा–रंक की शिक्षा में कोई भेदभाव नहीं था।

प्राचीन शिक्षा के विषय में ऐसा कहा गया है कि शिक्षा ही जन समुदाय को जीवन संग्राम के योग्य बनाती है और उनमें चारित्र्य–शक्ति का विकास करती है। इसके अतिरिक्त यह उनमें दयाभाव और अदम्य साहस का भी संचार करती है। इस प्रकार जो मनुष्य–निर्माण कर सके वही शिक्षा है।

जैन पुराणों के अनुसार शिक्षा, शरीर, मन एवं आत्मा को समर्थ बनाते हुए, अन्तर्निहित श्रेष्ठतम महान गुणों का विकास कर अन्तर्भूत दैवीगुणों का विकास करती है। निरन्तर स्वाध्याय से मनुष्य की अन्तनिर्हित शक्तियों का प्रादुर्भूत होता है। शिक्षा से शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक सुचिता बौद्धिक प्रखरता, आध्यात्मिक दृष्टि, नैतिक बल, कर्मठता तथा सहिष्णुता की प्राप्ति होती है। सांस्कृतिक विरासत की प्राप्ति, ज्ञानार्जन, समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक तत्वों का अन्वेषण, मानसिक क्षुधा की शान्ति, कला कौशल का परिज्ञान, आचार–विचार का परिष्कार, शाश्वत सुख की उपलब्धि, त्याग, संयम कर्तव्य निष्ठा, वैयक्तिक जीवन का परिष्कार तथा समाज की उन्नति शिक्षा से ही होती हैं शिक्षा से मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है।

अशिक्षित मनुष्य की गणना पशुवत रही है। समाज में मर्यादित एवं प्रतिष्ठित जीवन के लिए मनुष्य का शिक्षित होना अनिवार्य होता है। विद्या मनुष्यों का यश, कल्याण तथा मनोरथपूर्ण करती है। अतः इसे कामधेनु, चिन्तामणि तथा कल्पतरु भी कहा गया है। विद्या ही मनुष्य का बन्धु, मित्र, कल्याणकारी, कभी भी नष्ट न होने वाला धन तथा सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन में शिक्षा का विशेष महत्व है। अतः प्राचीन भारत में, चरित्र निर्माण, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए शिक्षा को समाज का अनिवार्य अंग माना गया था।

१. अल्तेकर, ए० एस०, एजूकेशन इन एन्सियन्ट इंडिया, पृष्ठ १–२.
२. सुभाषित रत्नभण्डारागार, पृष्ठ ३०
३. श्री भर्तहरिविरचितम् नीतिशतकम् श्लोक संख्या १७ ; पृष्ठ २६।
४. वही।
५. मनुस्मृति १२।८५ .
६.. गीता २। ६६, ४। ४० .
७. मनुस्मृति २। ११७।
८. ऋग्वेद ६।४।४।
६. पाणिनीय शिक्षा पृष्ठ ५६।
१०. वही, पृष्ठ १३, ५३, ८४, कल्याण शिक्षांक, १६८८, पृष्ठ २०६–२१०।
११. मनुस्मृति २। १४७–४८।
१२. पाणिनीय शिक्षा १। ३। ३६.
१३. रामचरित मानस ३। २०। ६.
१४. तैत्तिरीयोपनिषद १। २। १.
१५. मनुस्मृति २। १३६.
१६. ईशोपनिषद् १४, मनुस्मृति १२।१०४।
१७. अथर्ववेद ८। १। ८।
१८. ऋग्वेद १।८६।२।
१६. रघुवंश १।८८।
२०. कालिदास, मालविकाग्निमित्रम् १, १७।
२१. महाभारत, १२, ३३६। ६।
२२. वृहन्नादीय पुराण । ४३।
२३. वही २७। ७२। चाणक्य नीति ८। १३।
२४. महाभारत उद्योगपर्व ३५। ४४।
२५. वही, वनपर्व १। २७।
२६. छांदोग्य उपनिषद्, १.१.१०।
२७. ऋग्वेद, १.१६४.६६, शतपथ ब्राह्मण २.२.२.६; अथर्ववेद, ११.५.२६; तैत्तिरीय संहिता, ६. ३.१०.५; शतपथ ब्राह्मण, ११.५.७.१–५।
२८. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.५.१६।
२६. पाण्डेय रामशकल, शिक्षा–दर्शन, पृष्ठ ४०.

३०. विष्णु पुराण, ६.५.६२।
३१. छांदोग्य उपनिषद, १.१.१०।
३२. महाभारत, १२.३३६.६।
३३. वायु पुराण, १६.२१।
३४. ब्रह्माण्ड पुराण, १.४.१५।
३५. ऋग्वेद १०.७१.७।
३६. हितोपदेश, १६।
३७. अत्रि स्मृति, १.१४.–४१।
३८. मनुस्मृति ३। ७०।
३९. वही, २। १०६।
४०. निरुक्त २। १। ४।
४१. ईशावास्योपनिषद् १। १।
४२. तैत्तिरीयोपनिषद् १। ३।
४३. मनुस्मृति २। २०१।
४४. रघुवंश १। ६५।
४५. मनुस्मृति २। १४०।
४६. वही, २। १४१।
४७. वही, २। १४२।
४८. श्रीमद्भागवत ११। ३। २१।
४९. योगसूत्र १। २६।
५०. श्वेताश्वतरोपरिषद।
५१. गीता ४।३४।
५२. मनुस्मृति २। १०६।
५३. वही, २। १४७–४८।
५४. उपनिषद् तत्व ११।
५५. मालविकाग्निमित्रम् १। ६।
५६. मुण्डकोपनिषद् १। २। १२।
५७. श्रीमद्भागवत ११। ७। ३३–३५।
५८. महाभारत शान्तिपर्व ३२६। २२–२३।
५९. पाणिनीय शिक्षा ५०।

६०. पाणिनीय शिक्षा ३१।

६१. मालविकाग्निमित्रम् २। ६।

६२. रघुवंश ५। २०।

६३. मालविकाग्निमित्रम् १—१६।

६४. पाणिनीय सूत्र ४। ४। ६२।

६५. वही, ३। २। ७८।

६६. वही, ६। ३। १८।

६७. वही, ३। १। १०६।

६८. अष्टाध्यायी २। १। २६, ४१।

६९. कठोपनिषद १। २। १५।

७०. मनुस्मृति २। २१५।

७१. महाभारत, आदिपर्व १३५—१३६।

७२. अथर्ववेद, ११.३.१५।

७३. छान्दोग्य उपनिषद्, ४.१०१।

७४. मनुस्मृति २.६६। तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११।

७५. तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११।

७६. छान्दोग्य उपनिषद्, ३.१७.४।

७७. वही, २.२३.१,।

७८. मनुस्मृति २.११८।

७९. महाभारत, अनुशासनपर्व, १२.३२१.७८।

८०. अथर्ववेद, ११.५.२४।

८१. वही, ११.५.४।

८२. वही, ११.५.१७।

८३. गोपथ ब्राह्मण, १.२.१—७।

८४. प्रश्नोंपनिषद्, ५.३।

८५. मनुस्मृति २.६६।

८६. छान्दोग्योपनिषद् ८। ४। ३।

८७. अथर्ववेद ११। ७। ९६।

८८. आश्वलायन गृहसूत्र, १.२०.६।

८९. गीता, ६.१७।

९०. तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११।
९१. ऋग्वेद १०, ७१७।
९२. वही, १०, १०९, ५।
९३. वही, ७, १०३।
९४. तैत्तिरीय संहिता ६, ३, १०, ५।
९५. वही, १०, ७१।
९६. वही, १, ११।
९७. वही, १, ११।
९८. वही, ६.३८।
९९. अल्तेकर, ए० एस०, एन्सिएन्ट इन्डियन एजूकेशन, पृष्ठ १०१.
१००. वही, पृष्ठ ६, ४८।
१०१. वही, पृष्ठ ६, १३३।
१०२. वही, पृष्ठ ६, ५३, २।
१०३. वही, पृष्ठ १९, ७२।
१०४. अथर्ववेद, ७, ८९।
१०५. वही, २. २९।
१०६. वही, ११–५।
१०७. वही, ११.५, ११.३, ६, १०८, २, १३३, ३।
१०८. वही, ६, ७१।
१०९. वही, ५, १७, ५; १, ३४, २–३।
११०. वही, २, २७, १, ७।
१११. वही, १०, २।
११२. वही, ११, ८।
११३. शतपथ ब्राह्मण, ११, ३, ३, १–७।
११४. महाभारत १२, ३२१, ७८।
११५. मनुस्मृति, २, २४५।
११६. महाभाष्य, २, ४, ३२ और ३, १, २६ (२) पर।
११७. वही, २, १, ४१, और १, १, ७३ (६) पर।
११८. पतंजलि महाभाष्य ५, १, ७४ (२) पर।
११९. मनुस्मृति, २, १४१।

१२०. मनुस्मृति, ३, १५६, तथा याज्ञवल्क्यस्मृति, ३, २३०।
१२१. श्रीमद्भागवत् १०। ४५। ४७।
१२२. वशिष्ठ धर्मसूत्र, १०, २०।
१२३. वही, ४, ३, ३०—३२।
१२४. वही, ५, ६४।
१२५. वही, ६, ६३।
१२६. वही, ६, ३।
१२७. वही, ५, ४८, ६, ७१।
१२८. वही, ३, ६, २, ५४।
१२९. वही, २, ३१, २९—३३ और रामायण २, १००।
१३०. वही, २, ३२।
१३१. मनुस्मृति, २, १०, ३, २३२।
१३२. वही, ३, २३२।
१३३. वही, ६, २१।
१३४. वही, १२, ६५।
१३५. वही, ९, ३२९।
१३६. वही, ७, ४३।
१३७. शाम शास्त्री अनुवाद अर्थशास्त्र, पृष्ठ ११।
१३८. मिलिन्दपन्हो, १, ९; ४, ३, २६।
१३९. मनुस्मृति, ३, ३२९—३३२।
१४०. रघुवंश, ५, २१, तंत्रवार्तिक १, ३, ६। एपिग्राफिका इण्डिका ८, २८७।
१४१. वायुपुराण, १, ६१—७०।
१४२. कामसूत्र, १, ३, १६।
१४३. महाभाष्य, ४, १, और ४, ३, १५५ पर।
१४४. नारद स्मृति, ५, १६—२१।
१४५. अपरार्क टीका याज्ञवल्क्यस्मृति; १७, १३१, स्मृतिचंद्रिका १, २६।
१४६. वाटर्स, युवानच्वांग १, १५९—६१।
१४७. तालगुंड अभिलेख।
१४८. मेधातिथि टीका मनुस्मृति २, १०८ और २४३, ३, १ आदि।
१४९. नारदीय पुराण, १, २४, १३—१६।

१५०. स्मृतिचंद्रिका १, २६।
१५१. मेधातिथि टीका मनुस्मृति २, १८१।
१५२. वराह पुराण १४, ५।
१५३. उद्धृत अपरार्क टीका याज्ञवलक्य २, १६८।
१५४. मेधातिथि टीका मनुस्मृति, ३, १५६; २, ११२. और २, २३५।
१५५. मेधातिथि टीका मनुस्मृति, पृष्ठ ३, २।
१५६. उद्धृत संस्कार प्रकाश, ५१३।
१५७. उद्धृत स्मृतिचंद्रिका, १, १४३।
१५८. उद्धृत संस्कार प्रकाश, ५१५।
१५९. मेधातिथि टीका मनु., २, १५६।
१६०. इत्सिंग रेकर्ड, पृष्ठ १७० आदि।
१६१. गरुड़ पुराण, २२३, २०।
१६२. मानसोल्लास, ३, १२३८—१३०४।
१६३. संस्कार प्रकाश, पृष्ठ ५०६—५०७।
१६४. मेधातिथि टीका मनुस्मृति, ३, २।
१६५. वही, ६, ३२६—३१।
१६६. वही, ६, ७६।
१६७. वाटर्स, १, १५६—१६१।
१६८. याज्ञवलक्य स्मृति १.२१२ की टीका के अपरार्क द्वारा उद्धृत।
१६९. अथर्ववेद ११.५.६, वशिष्ठ धर्मसूत्र २८, ३८—३६ गौत्रीय धर्मसूत्र १—१० मनु २.१७०। बौधायन धर्मसूत्र १.२.४८, पराशर स्मृति में नारद का वचन १३.८।
१७०. कठोपनिषद ११—६, मुण्डोपनिषद् १.२.३।
१७१. पराशर स्मृति में नारद का वचन १३.८।
१७२. सुतसोम जातक; संख्या ५३७, इत्सिंग पृष्ठ १७७।
१७३. महाभारत ५.३३. ३३।
१७४. मालविकाग्निमित्र प्रथमांक।
१७५. छान्दोग्योपनिषद ८.७. २.३।
१७६. मिलिन्दपन्हो १. पृष्ठ १४२।
१७७. आश्वलायन धर्मसूत्र ११, ८—२८।
१७८. पंचतंत्र, १, २१।

१७६. मिलिन्दपन्हों – भाग १, पृष्ठ १४२।
१८०. वसुकृत इंडियन टीचर्स इन बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज पृष्ठ ३५।
१८१. साउथ इंडियन एपिग्राफी की वार्षिक रिपोर्ट १६१७ सं० ३३३।
१८२. मनुस्मृति २. २००–तथा चरक संहिता विमानस्थान, ८, ४।
१८३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.६.१३।
१८४. महाभारत १. १४०. ५४।
१८५. महाभारत ५. ३६. ५२।
१८६. तिलमुठिजातक संहिता २५२।
१८७. इत्सिंग, पृष्ठ १०६।
१८८. धर्मसूत्र १, ४, १३, १७।
१८६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १, २, ८, बौधायन धर्मसूत्र २.१.२७।
१६०. महावग्ग १. ३२. १।
१६१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १. २. २४. २५।
१६२. वही, १.३.३।
१६३. बौधायन धर्मसूत्र २.१.५३. शतपथ ब्राह्मण ११.३.३.७।
१६४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.७.१५।
१६५. बौधायन धर्मसूत्र १.२.५२।
१६६. वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४८६।
१६७. पारस्कर गृह्यसूत्र १.१.३. मनुस्मृति २.१४२।
१६८. बील–जीवनी पृष्ठ ११३।
१६६. मनुस्मृति २. १७५ ..... याज्ञवल्क्य स्मृति १. २८ .... गौतम धर्मसूत्र १. २२. द्रा० गृह्यसूत्र २.५ आदि।
२००. ग्रेट–एजुकेशनिस्ट्स, पृष्ठ ६१।
२०१. जातक भाग ५ पृष्ठ ४५६।
२०२. तिलमुट्ठि जातक सं० १५२।
२०३. एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द २१. पृष्ठ २२३।
२०४. विष्णु पुराण, ३.१०.१२।
२०५. पारस्कर गृह्यसूत्र २.३।
२०६. छांदोग्य उपनिषद्, २.२३.१।
२०७. विष्णु पुराण ; ३.१०.१२।

२०८. मत्स्य पुराण २६.१।

२०६. रामायण, ६.१२३.५१, २.५५.६.११।

२१०. महाभारत, ३.२७१.४८, १.७०.१८।

२११. मनुस्मृति, २.६६।

२१२. महाभारत ५.४४.६।

२१३. वही, ४.४–६।

२१४. जातक, ६, पृष्ठ ३२।

२१५. फ्लीट; कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इंडिकेरम्, भाग ३, अभिलेख ५६।

२१६. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ १६८।

२१७. अपरार्क द्वारा उद्धृत, याज्ञवल्क्य, १.२१२।

२१८. तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११, छांदोग्य उपनिषद, ६.१४.२, अष्टाध्यायी, २.१ ६५, ११.५.३, ६.२.१३६, ५.२.८४।

२१६. अथर्ववेद, १.५.३।

२२०. मनुस्मृति, २.१४२।

२२१. शतपथ ब्राह्मण, ४.२.४.१; बृहदारण्यक उपनिषद्, ३.३.१।

२२२. छांदोग्य उपनिषद, ५.३.६, वृहदारण्यक उपनिषद्, ६.२.४।

२२३. वही, ५.११.५।

२२४. कठोपनिषद्, १.२.६।

२२५. वही, ११.६, मुष्ठकोपनिषद्, १.२.३।

२२६. महाभारत, ५.३३.३३।

२२७. तैत्तिरीय उपनिषद्, १.६.१।

२२८. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.८.२४–२७; १.१.१.११–१२।

२२६. मालविकाग्निमित्र, १।

२३०. वही, १.११.३२।

२३१. महाभारत, उद्योगपर्व, ४४.६।

२३२. वही, २.१६६–७०।

२३३. प्रश्नोपनिषद्, ६–८।

२३४. छांदोग्य उपनिषद, ३.११.५–६, बृहदारण्यक उपनिषद्, ६.३.१२।

२३५. अष्टाध्यायी, ४.४.६२।

२३६. रघुवंश, ३.२६।

२३७. दशकुमारचरित्, पृष्ठ २१–२२।
२३८. ऋग्वेद, १०.७१.६; ६.११२.१।
२३९. पाणिनि अष्टाध्यायी, ४.४.१०७।
२४०. निरुक्त, २.३।
२४१. मालविकाग्निमित्रम्, पृष्ठ १६।
२४२. वही, २.६।
२४३. कठोपनिषद्, ११.२०–२६।
२४४. मत्स्य पुराण, ३५.१६।
२४५. विष्णु पुराण, ५.२१.२३।
२४६. मनुस्मृति २.११२।
२४७. महाभाष्य, १.१.५६।
२४८. ब्रह्माण्ड पुराण, ४.४३.६८; मनुस्मृति, २.१७५।
२४९. छांदोग्य उपनिषद्, ५.११।
२५०. बृहदारण्यक उपनिषद्, ६.२.४।
२५१. वही, २.१।
२५२. छांदोग्य उपनिषद्, ४.१.३।
२५३. उत्तराध्ययन, १२.१।
२५४. अष्टाध्यायी, ५.२.१३४।
२५५. छांदोग्य उपनिषद, ५३.६, ५.११.५; बृहदारण्यक उपनिषद, ५.३.६, ३.७.१, ३.७.२३।
२५६. अथर्ववेद, ११.५.८४।
२५७. वही, ११५.१७, मत्स्य पुराण, २५.२३।
२५८. छांदोग्य उपनिषद, ४.३.५, ४.१०.२, ४.४.५; शतपथ ब्राह्मण, ३.६.२.१५।
२५९. शतपथ ब्राह्मण, ११.५.४.५।
२६०. अथर्ववेद, ६.१०८.२, १३३.३ ; मनुस्मृति, २.१९२–२०१।
२६१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.६.१३।
२६२. गौतम धर्मसूत्र, ३.१.१५।
२६३. अथर्ववेद, ११.३.१५।
२६४. मत्स्य पुराण, २११–२१।
२६५. महाभारत, ५.३६.५२।
२६६. मनुस्मृति, २.१९१।

२६७. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ १६८।
२६८. मनुस्मृति, २.२१८।
२६९. बृहदारण्यक उपनिषद, ६.२.४।
२७०. छांदोग्य उपनिषद, ५.११.५।
२७१. कठोपनिषद्, १.१.६।
२७२. मुण्डकोपनिषद्, २.१.१.।
२७३. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३.७.१।
२७४. छांदोग्य उपनिषद्, ६.१२।
२७५. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.८।
२७६. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकांड, पृष्ठ २४०, २४२।
२७७. कादम्बरी, पृष्ठ ७७।
२७८. रामायण, सर्ग ६३।
२७९. महाभारत, आदि पर्व, १३०.४०–४२।
२८०. अथर्वेद, १०.५.६; शतपथ ब्राह्मण, ११.३.३.५ ; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१–३.२४–५।
२८१. मनुस्मृति, २.१८४।
२८२. वही, २.१८३, १८५।
२८३. स्मृतिचन्द्रिका, पृष्ठ १११।
२८४. विष्णु पुराण, ३.११.८०।
२८५. वायु पुराण, ८.१७४।
२८६. विष्णु स्मृति, ५६.२७।
२८७. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.३.३।
२८८. बौधायन धर्मसूत्र, १.२.८२।
२८९. बील, पृष्ठ ११३१।
२९०. मनुस्मृति, २.६७ ; मनुस्मृति, २.६६।
२९१. वही, २.१०३।
२९२. जातक, सं० २५२।
२९३. रघुवंश, ३.३१; १.६५; ३.३१।
२९४. महाभाष्य, २.१.२६।
२९५. हर्षचरित्, पृष्ठ ४५।
२९६. अथर्ववेद, ११.३.१५।

२६७. जातक, १, पृष्ठ २७२, २८५; ४, पृष्ठ ५०, २२४।
२६८. मालविकाग्निमित्रम्, पृष्ठ १७, वेतन दानेन।
२६६. वही, १.१७।
३००. विष्णु पुराण, ३.१०.१३।
३०१. वही, ५.२१.४।
३०२. वही, ६.६.३६, ३८.४५–४७।
३०३. महाभारत, आदिपर्व, १३३.२–३।
३०४. जातक, ५, पृष्ठ २६३; ३, पृष्ठ २३८; ५, पृष्ठ २४७, १२७।
३०५. मत्स्य पुराण, ६६.२५–४७।
३०६. वाटर्स, १, पृष्ठ १६०।
३०७. मानसोल्लास, ८४, पृ० १२।
३०८. राजतरंगिणी, ८.२३६५–६७।
३०६. इपिग्राफिका इण्डिका, २, पृष्ठ २२७।
३१०. अथर्ववेद, १५.१।
३११. निरुक्त, १.१६; ७३.६।
३१२. ऐतरेय ब्राह्मण, २.१५; तैत्तिरीय संहिता, ६.४.३.१।
३१३. विष्णु पुराण, ३.१५.१; तैत्तिरीय संहिता, ४.४.६६।
३१४. इपिग्राफिका इण्डिका, १, पृष्ठ ४१।
३१५. महाभाष्य, २.४.३।
३१६. वही, १.१.१।
३१७. तैत्तिरीय उपनिषद, १.१.२; १.४ ; ऐतरेय ब्राह्मण, ७.२.७; शतपथ ब्राह्मण, ३.२१।
३१८. ऋग्वेद, १०.७१.५ ; निरुक्त, १.१८।
३१६. मेधातिथि, मनुस्मृति ३.१; याज्ञवल्क्य स्मृति, १.५७; अपरार्क, पृष्ठ ७४–७५; मेधातिथि, मनुस्मृति, ३.२।
३२०. कृत्यकल्पतरू, गुहस्थकाण्ड, पृष्ठ २५२।
३२१. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ १६६।
३२२. कृत्यकल्पतरू, गृहस्थ काण्ड, पृष्ठ २६३।
३२३. वही, दानकांड, पृष्ठ २०७, २१३।
३२४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १, पृष्ठ ४।
३२५. अपरार्क, पृष्ठ ७४।

३२६. मेधातिथि, मनुस्मृति, ३.१६।
३२७. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत।
३२८. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकांड, पृ० २५७–५६।
३२६. हर्षचरित, पृष्ठ ६६।
३३०. छांदोग्य उपनिषद, ७.१; शतपथ ब्राह्मण, ४.६.६.२०, ११.५.६.८।
३३१. वही, ४.२।
३३२. जातक, १, पृष्ठ २१२, २८५; पृष्ठ २, ८०, ८५, ८७; पृष्ठ ४;, ५, पृष्ठ १२७, २६३।
३३३. अर्थशास्त्र, १.१।
३३४. रघुवंश, ५.११; कामसूत्र, १.३, १.१५।
३३५. बील, पृष्ठ १२२।
३३६. रघुवंश, ४.१३।
३३७. दशकुमारचरित्, पृष्ठ २१–२२।
३३८. हर्षचरित्, पृष्ठ १३०।
३३६. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ १७२।
३४०. वही, पृष्ठ १७३।
३४१. द स्ट्रगल फार एम्पायर, पृष्ठ ३१६–२०।
३४२. इपिग्राफिका इण्डिका, ८, पृ० १५०; १६, पृष्ठ १८, १६; ५, पृष्ठ ११७–१८; ८, पृष्ठ १५४; इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, १६, पृष्ठ १०३।
३४३. वही, ११, पृष्ठ १६२; १२, पृष्ठ ३१।
३४४. वही, १६, पृष्ठ १०; ७, पृष्ठ ८७।
३४५. वही, २ पृष्ठ ३३६।
३४६. वही, १, पृष्ठ ५१।
३४७. मनुस्मृति, २.१३३।
३४८. पाणिनि, २.१.४१।
३४६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.८.३०।
३५०. गौतम धर्मसूत्र, १.२.४८.५३।
३५१. बौधायन धर्मसूत्र, १.११; गौतम धर्मसूत्र, २.७।
३५२. मनुस्मृति, २.१०२–११७।
३५३. अपरार्क, याज्ञवल्क्य, १.१४२, १५१।
३५४. विष्णु पुराण, ३.१२.३६।

३५५. याज्ञवल्क्य स्मृति, स्नातधर्मप्रकरण, ४५–४६।

३५६. मनुस्मृति, २.१०५।

३५७. वही, २.२४५ ; मनुस्मृति, २.२४२।

३५८. पाणिनि, ४.३.१३०।

३५९. बील, पृष्ठ १०५–६।

३६०. गौतम धर्मसूत्र, १२.५।

३६१. जैमिनिसूत्र, ६.१.१५.३८।

३६२. महाभारत, अनुशासन पर्व, १६३.१०।

३६३. वही, १२.६०.३०।

३६४. वही, १३.१०.१६।

३६५. मनुस्मृति, २.८०।

३६६. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ ११९।

३६७. अपरार्क, पृष्ठ २३।

३६८. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.९.४; पाणिनि, ५.१.११२।

३६९. तैत्तिरीयोपनिषद्, ११।

३७०. बौधायन गृह्यसूत्र, २.६।

३७१. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.११.५।

३७२. गौतम धर्मसूत्र, २.५४–५५।

३७३. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.१.२।

३७४. अपरार्क, पृष्ठ ७६।

३७५. मनुस्मृति, ३.१५६; विष्णु धर्म सूत्र, २९.९।

३७६. महाभारत, आदिपर्व, १३३.२–३।

३७७. गौतम धर्मसूत्र, १०.९–१२; विष्णु धर्म सूत्र, ३.७९–८०।

३७८. ऋग्वेद, १०.७१.११।

३७९. शतपथ ब्राह्मण, ११.६.३१।

३८०. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.५.१–१२।

३८१. शतपथ ब्राह्मण, ११.५.३–११।

३८२. वही, ११.५.३–११।

३८३ कामसूत्र, सोशल लाइफ इन एंशिएण्ट इण्डिया, १६३–६५।

३८४. हर्षचरित्, सर्ग १।

३८५. हर्षचरित्, सर्ग १।

३८६. कादम्बरी, पृष्ठ ४।

३८७. हर्षचरित्, सर्ग ३।

३८८. वही, सर्ग १।

३८९. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ १६–१७।

३९०. मिलिन्दपन्हो, १.२८।

३९१. जातक १, पृष्ठ १०६।

३९२. तैत्तिरीय उपनिषद् ११।

३९३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.२.२४।

३९४. सुभाषित रत्न भण्डागार ४१–७।

३९५. उत्तर रामचरितम् अंक २–४

३९६. कठोपनिषद संहिता, ६–१६।

३९७. छान्दोग्योपनिषद् ५. ३. ७. बृहदारण्यक उपनिषद २. १.१५।

३९८. बृहदारण्यक उपनिषद् २–१. ४. ४–१. १.। छान्दोग्योपनिषद् ५. १।

३९९. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १. २. ४०–१ तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र २. ४. २५–७।

४००. गौतम धर्मसूत्र १–६–१६।

४०१. छान्दोग्योपनिषद् ७–१, २, मिलिन्दपन्हों, जिल्द १ पृष्ठ २४७।

४०२. शुक्रनीति–३.२६१।

४०३. भोजप्रबन्ध, पद्य ८६।

४०४. काव्यमीमांसा पृष्ठ ५०।

४०५. हर्षचरित अध्याय ८।

४०६. पाणिनीय शिक्षा ३१।

४०७. सुभाषित रत्न भण्डागार, पृष्ठ १३८ श्लोक ४१३।

४०८. मिलिन्दपन्हों प्रथम भाग पृष्ठ ४६।

४०९. हर्षचरित आठवाँ सर्ग।

४१०. बीलकृत जीवनी, पृष्ठ ७६, १५४, १६०।

४११. वही, पृष्ठ १८५।

४१२. जातक संहिता १२४।

४१३. मिलिन्दपन्ह १ पृष्ठ १८।

४१४. बौधायन धर्मसूत्र ३–७७।

४१५. बैटर्स, १–पृष्ठ १६०।
४१६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.७.२८।
४१७. उत्तर राम चरित, द्वितीयांक।
४१८. सुभाषितम्।
४१९. मिलिन्दपन्ह १–पृष्ठ १८।
४२०. वृहदारण्यक उपनिषद् ६, २, १ और २।
४२१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १, ११ : ५।
४२२. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५।
४२३. वाटर्स २. पृष्ठ १६५।
४२४. तैत्तिरीय, प्रतिशाख्य २४वाँ अध्याय।
४२५. छान्दोग्य उपनिषद्, ५. ११. ५।
४२६. काव्यमीमांसा पृष्ठ ५०।
४२७. राजतरंगिणी, प्रथम भाग पृष्ठ १३४. १६६ (अंग्रेजी अनुवाद)
४२८. रिपोर्ट ऑफ मद्रास प्रॉब्हिन्शियल कमिटी, एजुकेशन कमिशन, १८८३, गवाही, पृष्ठ २०, १५४, १७३।
४२९. फ्लीट–गुप्त इंस्क्रिप्शन्स, पृष्ठ ८०–७।
४३०. सेन, हिस्ट्री ऑफ एलिमेंटरी एजुकेशन पृष्ठ ७८।
४३१. वही, पृष्ठ ७६।
४३२. सुश्रुत–सूत्र स्थान, ४.४. ४–८।
४३३. चरक–विमानस्थान, ८–४।
४३४. सुश्रुत–सूत्रस्थान अध्याय ६।
४३५. सुश्रुत–शरीरस्थान ५–४६।
४३६. सुश्रुत सूत्रस्थान २६–८।
४३७. वही, ३.५२, १०.३
४३८. मनुस्मृति ३–१५२।
४३९. बौधायन धर्मसूत्र १८.६।
४४०. याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा टीका। २–१८४।
४४१. इपिग्राफिका इण्डिका जिल्द १३. पृष्ठ १८७।
४४२. अर्थशास्त्र १, कादंबरी पृष्ठ १४६।
४४३. मनुस्मृति ६.३३१–३२।

४४४. इपिग्राफिका इण्डिका जि० ८ पृष्ठ १६५।

४४५. नारद स्मृति, शुश्रुषाभ्यपगमप्रकरणम्।

४४६. याज्ञवल्क्य की टीका अपरार्क में कात्यायन का वचन, पृष्ठ ८४।

४४७. ग्रेव हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन, जिल्द २. पृष्ठ ६७।

४४८. कुमारस्वामी कृत भारतीय शिल्पी पृष्ठ ८३–६०।

४४६. जैमिनि गृह्यसूत्र १, १२।

४५०. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१.१।

४५१. वही, ८, ७, ४।

४५२. पाणिनि ५। १। ६४।

४५३. स्मृति चन्द्रिका, १, पृष्ठ २६।

४५४. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकाण्ड, पृष्ठ २६३।

४५५. वही, पृष्ठ २७१–७४।

४५६. रामायण, १, १८।

४५७. वही, २, १ और २।

४५८. वही, १, २२, १३।

४५६. जैमिनि गृह्यसूत्र, १.१२।

४६०. मनुस्मृति, २.३६।

४६१. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३, ४०, ११।

४६२. पाणिनि, ५, १, ६४।

४६३. आपस्तम्ब, गृह्यसूत्र, २. ६।

४६४. वही, धर्मसूत्र, पृष्ठ १७४।

४६५. इत्सिंग ३४वाँ अध्याय।

४६६. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३.६.८।

४६७. वही, २.४.३, ४.५.१।

४६८. तैत्तिरीय उपनिषद्, ५.७।

४६६. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.८.११।

४७०. गौतमीय गृह्यसूत्र, २.१.१६–२०।

४७१. कामन्दकी गृह्यसूत्र, २५.२३।

४७२. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.४।

४७३. रामायण, २.२०.१५, ४.१६.१२।

४७४. रामायण, ५.१६.४८।
४७५. वही।
४७६. वही, १, १, ८–६।
४७७. वही, ४, ४४, ६, १२८, ४५।
४७८. वही, ७३–७४।
४७६. महाभाष्य, ४.१.७८।
४८०. वही, ६.२.८६।
४८१. कामसूत्र, १.३.१२।
४८२. वही, ४.१.३२।
४८३. मनुस्मृति, २.५६, ६.१८।
४८४. वही, २.६७।
४८५. काव्यमीमांसा, अध्याय १०।
४८६. मालतीमाधव, अंक १।
४८७. उत्तररामचरित्, अंक २।
४८८. शतपथ ब्राह्मण, ५–१. ६–०।
४८६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३–८–३।
४६०. ऋग्वेद ८–३१।
४६१. पारस्कर गृह्यसूत्र, ३–२।
४६२. वही, २–२०।
४६३. रामायण २–२०.१५।
४६४. वही, ४–१६.१२।
४६५. महाभारत ३–३०५.२०।
४६६. अथर्ववेद, ११.५.१८।
४६७. वही, ११.५.१८।
४६८. शतपथ ब्राह्मण, ३–२.४.६।
४६६. बृहदारण्यक उपनिषद्, २–४; ४–५।
५००. वही, ३–६, १।
५०१. उत्तर रामचरित्, अंक २।
५०२. अश्वलायन गृह्यसूत्र ३–४. ४।
५०३. महाभाष्य–३–८.२।

५०४. कामसूत्र ३.५.३० ; बौधायन धर्मसूत्र, १.११.१३.७।
५०५. बृहदारण्यक उपनिषद्, ६.४.१७।
५०६. वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४०२, स्मृतिचन्द्रिका पृष्ठ ६२।
५०७. वही, पृष्ठ ६०३।
५०८. विष्णु पुराण, २४. २५।
५०९. मनुस्मृति, ९. ८६।
५१०. सचाऊ २. १३१।
५११. काव्य मीमांसा पृष्ठ ५३।
५१२. वात्स्यायन, कामसूत्र १. ३. १६।
५१३. गाथा सप्तसती, १–८७ तथा ९०।
५१४. वही, २–६३।
५१५. वही, १–९१।
५१६. वही, ३–२८।
५१७. वही, १–७०।
५१८. वही, १–८६।
५१९. वही, ४–४।
५२०. शंकरदिग्विजय ८–५१।
५२१. मालकम–मेमायर्स २. पृष्ठ ९९–१००।
५२२. कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, प्रथम संस्करण १९९९, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ २३०–२३१।
५२३. ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, १७९।
५२४. वही, द्वितीय मण्डल, २३.२।
५२५. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पंचम संस्करण, २००१, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ ३११–३३८।
५२६. ऋग्वेद, छठें मण्डल, ४।
५२७. कल्याण शिक्षांक, पृष्ठ ४२१–४४३।
५२८. चौबे, सरयू प्रसाद, भारतीय शिक्षा का इतिहास, १९५९, पृष्ठ ४५।
५२९. कल्याण शिक्षांक, पृष्ठ ४२१–४४३।
५३०. रामायण ६, १२६, ५१, २ . ५५ . ९–११।
५३१. विष्णु पुराण, ३१५।

५३२. वृहदारण्यक उपनिषद्, ३। १११।

५३३. जोशी, रतनलाल, वाल्मीकि के राम व उनकी रामायण, हिन्दुस्तान, २४.३.१९९९।

५३४. महाभारत अनुशासनपर्व, १४, ३६९।

५३५. वही, १०४, १२३, २४।

५३६. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृष्ठ २१५।

५३७. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ ४६५–४७५।

५३८. पद्मपुराण उत्तर खण्ड अध्याय २६३।

५३९. स्कन्दपुराण, कालिका खण्ड अध्याय १७।

५४०. कठोपनिषद १। १। १० तथा २। ४। १५ एवं २। ५। ६।

५४१. पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, २००२, शारद पुस्तक भवन प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ ९७–१०९।

५४२. दास, एस० सी०,इण्डियन पंडित्स इन दि लैंड आफ स्नो, कलकत्ता, १८९३, पृष्ठ ५१।

५४३. कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, प्रथम संस्करण, १९९९, श्री सरस्वती सदन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ ३३६–३८१।

५४४. पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, २००२ प्र० शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ १६८–१७४।

५४५. कल्याण शिक्षांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ ४२१–४५०।

५४६. पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, २००२ प्रकाशक शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ १६८–१७४।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल में सर्वप्रथम शिक्षा शब्द का वर्णन ऋग्वेद में आया है। राहुल सांकृत्यायन[1] के अनुसार ऋग्वेद की इस ऋचा में शक्ति देने के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गयी है। अतः शिक्षा का अर्थ देना हुआ।[2] ६००–१२०० ई० में अनेक आश्रमों का उल्लेख किया गया है जिनमें रहने वाले साधु सन्त शिक्षा देने का कार्य करते थे। शिक्षा से सम्बन्धित ही विद्या शब्द आया है जो उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान के लिए आया है।[3]

शिक्षा हमारे अन्धविश्वास को मिटाती है। इससे दूसरों के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। फलस्वरूप व्यक्ति न्यायप्रिय और दूरदर्शी बनता है।[4] शिक्षा से बुद्धि प्रखर, बोधक्षमता विकसित और विवेक पुष्ट होता है। इस प्रकार जीवन में त्रुटियों से हमारी रक्षा होती है।[5]

शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में किया गया है। विद्या एक ऐसा अमूल्य धन है जिसे न परिवार के भाई–बन्धु बाँट सकते हैं और न ही चोर चुरा सकते हैं। दान देने से भी इसका क्षय नहीं होता। अतः विद्या ही मनुष्य का महान धन है।[6] विद्या मनुष्य को विनयशील सज्जन बनाती है, विनय से वह योग्य हो जाता है। मनुष्य को अपनी योग्यता से धन अर्जित होता है और धर्म की प्राप्ति होती है। ऐसे व्यक्ति ही जीवन भर सुखी रहते हैं।[7]

विद्या कल्पलता की भांति सभी प्रकार का लाभ पहुँचाती है। यह कष्टों से माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह हितकार्य में प्रेरित करती है, धर्म पत्नी की तरह दुख दूर कर मन को प्रसन्न करती है और वाणिज्य–व्यापार में सफलता देकर सम्पत्ति प्राप्त कराती है। इस तरह सब प्रकार के यश–प्रतिष्ठा आदि विद्या से ही मिलते हैं।

विद्या ही स्थायी धन है। प्राचीन भारतीय शिक्षा के मूल में अपने प्रिय राष्ट्र के अतिरिक्त संसार के सभी राष्ट्रों एवं प्राणियों के भी सुखी होने की बात कही गयी है।[९]

ऋग्वेद के अनुसार देवपद तथा विद्या के अभिलाषी सरस्वती का आह्वान करते हैं। सरस्वती देवयन्तोह्वन्ते।[१०] ईशोपनिषद में बताया गया है कि विद्या से अमृततत्व प्राप्त होता है।[११] वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में कहा है कि 'शास्त्रदृष्टया तूपदेशः' अर्थात शास्त्र दृष्टि से शिक्षा देनी चाहिए, न हि लोकदृष्टि से। शास्त्र की शिक्षा का लक्ष्य धन नहीं बल्कि अध्यात्म तत्व का ज्ञानोपार्जन करना था। अतः प्राचीन काल में भारतीय शास्त्रों के अध्ययन–अध्यापन द्वारा अध्यात्म तत्व का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। यजुर्वेद में भगवान से प्रार्थना की गयी है कि हमें असत् से सत्, तप से नवज्योति तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।[१२]

शिक्षा पर प्रकाश डालते हुए दण्डिन कहते हैं कि "विद्या एक ऐसी दिव्य दृष्टि है जिससे भूत–भविष्य और वर्तमान का अनुभव किया जा सकता है इसके अभाव में विशाल नेत्रों के होते हुए भी मानव अन्धे के समान है।[१३] श्रीमदभागवत में कहा गया है कि पहले शरीर, सन्तान आदि में मन की अनाशक्ति सीखें। फिर भगवान के भक्तों से प्रेम कैसे करना चाहिए यह सीखें। इसके पश्चात प्राणियों के प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनय की निष्कपट भाव से शिक्षा ग्रहण करें।[१४] प्राचीन शिक्षा में सदाचार, सत्य, तप, दम, शम और मनुष्योचित लौकिक व्यवहार पर हमारे भीतर पौरूशिष्ट और मौदगल्य आदि ऋषियों ने विशेष बल दिया है।[१५] महर्षि अंगिरा ने शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य पर प्रभाव डालते हुए कहा है जो सर्वज्ञ है, जो सर्वविद है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी अक्षर ब्रह्म से यह विश्वरूप ब्रह्मा, यह नाम रूप और अन्न उत्पन्न होता है।[१६]

वेदव्यास का कथन है कि श्रेष्ठ शिक्षा के लिए शुद्धतम बुद्धि ही आधार है। अमरकोष के धीवर्ग, ब्रह्मवर्ग, शब्दादि वर्ग, नाद्य वर्ग आदि में बुद्धि पर विशद विचार व्यक्त किया गया हैं बुद्धि के लिए प्रज्ञा, मनीषा, धी, मति, संविद आदि प्रसिद्ध पर्याय है। विशुद्ध बुद्धि में ही शिक्षा ठीक–ठीक प्रतिष्ठित होती है। बिना शिक्षा के भी बुद्धि

दुर्बल होती है। बुद्धि को जन्मान्तर साधना का फल कहा गया है।[१७] इसलिए बुद्धिवादी बौद्धों ने शिक्षा को तीन भागों में वर्गीकृत किया है। (क) अधिचित शिक्षा (संस्कृत बुद्धि में उच्चतर शिक्षा पाना) (ख) अधिशील शिक्षा (आचार सम्बन्धी सज्जनों द्वारा शिक्षा ग्रहण) (ग) अधिप्रज्ञा शिक्षा (विद्याज्ञान सम्बन्धी तप एवं स्वाध्याय द्वारा शिक्षा ग्रहण)।

विद्या बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी से सत्य का खिंचन करती है, सम्मान बढ़ाती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती, दिशाओं में कीर्ति फैलाती है, कल्पवृक्ष के समान विद्या क्या–क्या नहीं करती है।[१८] गीता[१९] में ज्ञानी को जीवन मुक्त कहा गया है। बाल्यकाल से ही सत–शास्त्रों की शिक्षा एवं अभ्यास से सत्संग एवं सद्‌गुणों द्वारा जीवमुक्ति सम्भव है।[२०] ऋग्वेद में वर्णित है कि शिक्षा द्वारा मस्तिष्क का विकास होता है और व्यक्ति की बुद्धि प्रखर हो जाती है जिससे वह अन्य मनुष्यों की तुलना में श्रेष्ठ हो जाता है।[२१]

पंचतन्त्र[२२] में बताया गया है कि शिक्षा और विवेक के अभाव में मनुष्य निर्बल हो जाता है। नीतिशतक[२३] के अनुसार ज्ञान के अभाव में मनुष्य असहाय था और विद्या के अभाव में उसे पशुवत माना गया था। उस समय शिक्षा का उद्‌देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं था।[२४] हितोपदेश[२५] के अनुसार शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान से शंकाओं का समाधान होता है। कठिनाइयों का निराकरण होता है और मनुष्य जीवन के वास्तविक मूल्य को समझने में सक्षम होता है। शिक्षा एक ऐसी अमूल्य निधि है जिसके बिना मनुष्य पूर्ण नहीं होता है। अतः शिक्षा से प्राप्त ज्ञान को तीसरे नेत्र की संज्ञा दी गयी है। इससे मनुष्य में आत्म–निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न होती है।[२६] महाभारत[२७] में भी इसका वर्णन मिलता है।

सोमदेव[२८] ने भी शास्त्रों को तीसरा नेत्र माना है। विद्या लौकिक और पारलौकिक समस्त सुखों को देने वाली है। इस तरह इसे गुरूवों का भी गुरू माना गया है।[२९] शास्त्रों में शिक्षा और स्वाध्याय का फल पाण्डित्य भगवत्प्राप्ति कहा गया है।[३०] मनु ने स्वाध्याय द्वारा बुद्धि स्वास्थ्य, धन, कल्याण की अभिवृद्धि की बात कही है। इसमें

उन्होंने न्याय, मीमांसा, वेद–पुराणादि को विशेष बुद्धिवर्धक माना है।[31] मान्धाता ने मात्र एक रात में, जन्मेजय ने कुल तीन दिन में और नाभाग ने केवल सात दिनों में पृथ्वी को जीत लिया था।[32]

वेदव्यास कहते हैं कि मन–क्रम–वचन से किसी से द्वेष न करना, सबसे प्रेम–अनुग्रह व दान करना ही शील है।[33] विद्या से व्यक्तित्व का विकास होता है। सर्वत्र सम्मान मिलता है।[34] विद्या नैसर्गिक शक्ति को पूर्ण बनाती है। विद्या विहीन व्यक्ति अस्तित्वहीन होता है।[35] विद्या विदेशों में काम आती है। शिक्षा मनुष्य की प्रवृत्ति को मुक्त करने के लिए है। वेदशास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी जिनका सांसारिक सुखों से राग बना हुआ है उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है।[36]

विवेकानन्द के शब्दों में यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय संसार के सबसे बड़े सन्त और विश्वकोष ऋषि बन गये होते। आप्तजनों की शिक्षा का अनुपालन करते हुए हितकारी आचार–विचार का सेवन करने वाला व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता।[37] प्राचीनकाल में विद्या का फल प्रकाश था, विद्या का फल ज्ञान था।[38] श्रीमदभागवत गीता के अनुसार मनुष्य प्राणियों के प्रति मैत्री, दया और विनय के भाव से शिक्षा ग्रहण करे।[39] श्रीमदभागवत में ज्ञान को परमार्थ की प्राप्ति का राजपथ बताया गया है।[40]

भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक भावना का जागरण। बालक का मस्तिष्क बड़ा लचीला होता है। जो भाव उसके मन में इस समय बैठा दिया जाता है। वह चिरस्थायी बन जाता है। प्राचीन शिक्षा में यह बताया गया है कि धर्म ही आहत होने पर मनुष्य को मारता है और वही रक्षित होने पर रक्षा करता है। धर्म के द्वारा ऋषिगण इस भवसागर से पार हो गये। सम्पूर्ण लोक धर्म के आधार पर ही टिके हुए हैं।[41]

महाभारत में बताया गया है कि जिनके विद्या, कुल और कर्म ये तीनों शुद्ध हों, उन्हीं साधु पुरूषों की सेवा में हमें रहना चाहिए।[42] धार्मिक भावना में वृद्धि व उसका

संरक्षण ही भारतीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बताया गया है। इसके लिए वृत्त, प्रार्थना, त्योहार आदि पर बल दिया गया है जिसके द्वारा बालक का अध्यात्मिक विकास सम्भव था और भौतिकवादिता के साथ–साथ सदाचार की भावना भी प्रखर होती थी पर इसका अर्थ यह नहीं कि विद्यार्थी का एकमात्र कार्य था केवल धर्म की साधना में संसार का त्याग करना। इसके लिए तो थोड़ी संख्या में नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे जो जीवन पर्यन्त गुरूकुल में ही रहते थे। ब्रह्मचर्यरूपी तपोबल से ही विद्वान लोगों ने मृत्यु को जीता।[४३]

भारतीय शिक्षा का धर्म के साथ अभिन्न सम्बन्ध रहा था। धर्म विहीन शिक्षा को विष पुन्ज माना गया था।[४४] यही कारण है कि बाद में धर्म ही शिक्षा का आधार बना रहा।[४५] युवा ब्रह्मचारी को धर्म की भावनाओं से अनुप्राणित करने के लिए ही संस्कारों एवं ब्रतों के पालन का विधान बताया गया है। उस समय आध्यात्मिक प्रकाश से रहित शिक्षा को शिक्षा की मान्यता नहीं दी गयी थी।[४६] भोज प्रबन्ध में कहा गया है कि धर्म से विमुख मनुष्य बलवान होकर भी असमर्थ ज्ञानी होकर भी मूर्ख और धनवान होते हुए भी निर्धन कहलाता है।[४७]

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों में विद्यार्थियों को ग्रन्थों के साथ–साथ उन्हें चरित्रवान होने की दिशा में अग्रसर किया जाता था। उन्हें परिश्रमशील संयमी व उद्यमी बनाया जाता था और उनमें आत्मसम्मान, आत्मविश्वास व आत्मनिर्भरता की भावना का विकास कराया जाता था।[४८]

शिक्षा में अनुशासन व चरित्र निर्माण की पुष्टि बाण ने भी की है।[४९] चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी भारतीयों के उत्तम व्यवहार, श्रेष्ठ चरित्र तथा नैतिकता का वर्णन किया है।[५०] तत्कालीन विद्यार्थियों में आत्मसंयम व सादगी, प्रधान थी। सादा जीवन उच्च विचार ही उनकी शिक्षा के प्रतिफल थे। कामन्दीय नीतिसार के अनुसार शास्त्रों के अध्ययन से आत्मनिष्ठता की क्षमता उत्पन्न होती है और विनयशीलता में वृद्धि हो जाती है।[५१]

चरित्र में दृढ़ता किन्तु व्यवहार में कोमलता या नम्रता एक शिक्षित व्यक्ति का महत्वपूर्ण गुण माना जाता था। अनुशासन को चरित्र निर्माण की कुन्जी माना गया था।[५२] भारतीय शिक्षा में चरित्र निर्माण की प्रवृत्ति की तुलना अल्तेकर ने लोक विचार से की है जो कि इस मत का पोषक है कि केवल बौद्धिक विकास इतने महत्व का नहीं है जितना कि चारित्रिक विकास।[५३] चरित्र पांडित्य से अधिक महत्वपूर्ण है। यह कहा गया है कि धर्मात्मा ही पंडित है।[५४]

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का पाया जाना स्वाभाविक है, की लोकोक्ति प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों पर पूर्णतः चरितार्थ होती है। मत्स्यपुराण में वर्णित है कि विद्याध्ययन से शारीरिक हानि नहीं होती।[५५] अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति में उत्तम स्वास्थ्य के लिए व्यायाम व प्राणायाम करना अनिवार्य था। कादम्बरी में मल्लविद्या, व्यायाम, व्यायामशाला व उससे सम्बन्धित सुविधाओं का उल्लेख मिलता है।[५६]

कादम्बरी में ही तैरने को एक उत्तम व्यायाम की संज्ञा दी गयी है और उसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है।[५७] शारीरिक शिक्षा व व्यायाम राजकुमारों व साधारण विद्यार्थियों में समान रूप से प्रचलित थी। विक्रमादित्य की शिक्षा के समय उनके स्वास्थ्य एवं शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[५८]

इत्सिंग के अनुसार भारत में आचार्य एवं साधारण जन सभी अत्यधिक चलने फिरने के अभ्यस्त थे और इसे अच्छा व्यायाम मानते थे।[५९] दृढ़ संकल्प के लिए दृढ़ शरीर आवश्यक है। इसलिए प्राचीन भारतीयों ने जोर देकर कहा है कि ब्रह्मचारी को अपने शरीर को पुष्ट बनाने का पूरा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि पुष्ट शरीर सांसारिक ही नहीं धार्मिक कार्यों के लिए भी आवश्यक है।[६०] प्राचीन भारत में ब्रह्मचारी को आत्मरक्षार्थ लाठी चलाने में निपुणता प्राप्त करनी पड़ती थी। तदर्थ उसे एक दंड संवदा अपने साथ रखना पड़ता था, जो उसके गणवेश का अंग था।[६१]

व्यक्ति का सर्वांगीण विकास ही प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य था। उस समय प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत प्रगति पर आचार्य ध्यान रखता था। यही कारण था

कि नालन्दा में एक आचार्य के अन्तर्गत १० से अधिक विद्यार्थी अध्ययन नहीं करते थे।[६२] सम्यक रूप से शिक्षित स्नातक राजा से भी अधिक सम्मान का अधिकारी था। गुरूकुल से लौटे ब्राह्मण का आदर करना राजा का कर्तव्य था।[६३] पंडित दामोदर का मत है कि विद्या केवल रट लेने वालों के लिए नहीं वरन कुशाग्र बुद्धि वालों के लिए है।

अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के अर्न्तगत अनुशासन तथा चारित्रिक विकास पर पर्याप्त बल दिया जाता था।[६४] विद्यार्थी को सादगी, सच्चाई, नम्रता, स्वच्छता और आत्म–चेतन का अभ्यास कराया जाता था।[६५] और शिक्षा का निर्धारण समाज के गौरव गरिमा के अनुरूप किया जाता था।[६६] शिक्षा काल में ही मनुष्य को नैतिकता में उसकी आस्था का विकास तथा मानवता के प्रति सौहार्द की भावना का पोषण करना चाहिए साथ ही इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अपने मन पर अंकुश लगाने की शक्ति का भी उसमें विकास होता रहे तभी वह अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुनकर उसके अनुसार आचरण कर सकेगा[६७] यह उद्देश्य प्राचीन शिक्षा में निहित था।

विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान रखने पर भी यदि व्यक्ति में अर्तदृष्टि का विकास नहीं हुआ तो वह मूर्ख ही है, क्रियावान पुरूष ही सच्चे अर्थों में शिक्षित है।[६८] शिक्षा उदरपूर्ति की समस्या भी हल करती है। हो सकता है इससे हम धनी न हों क्योंकि धन प्राप्ति प्रायः भाग्य पर निर्भर करती है और यदि कुछ शब्दों को रट लेने मात्र से शुक भी भोजन प्राप्त कर सकता है, तो एक विद्वान भला कैसे भूखों मर सकता है।[६९] किन्तु शिक्षा को कभी जीविका का साधन मात्र नहीं माना गया। प्राचीन भारत में ऐसे मत वालों की बहुत निन्दा की गयी है, जो इसे जीविका का साधन मात्र मानते हैं।[७०]

किन्तु यह बात भी जान ली गयी थी कि यदि मनुष्य भोजन के लिए नहीं जीता तो उसके बिना भी जीवित नहीं रह सकता। इसलिए शिक्षा जहाँ हमें अर्न्तज्योति–अर्न्तज्ञान और संस्कार प्रदान करती है वहाँ उसका उद्देश्य यह भी होना

चाहिए कि हम इस योग्य बनें कि एक सम्मानित नागरिक की भांति आत्म–निर्भर होकर जीवनयापन कर सकें। शिक्षा का उद्देश्य हमें जीने योग्य बनाना ही नहीं, बल्कि कमाने योग्य भी बनाना है। इसी बात को दृष्टि में रखकर मनु ने ब्राह्मण का तप ज्ञान कहा है।[71] क्षेमेन्द्र ने शिक्षा से तर्क द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित करने की बात कही है, उन्होंने शिक्षानुरागी को परोपकारी बताया है। भोजप्रबन्ध में वर्णित है कि वक्तृत्व रहित विद्वान समाज के लिए अनुपयोगी होता है।[72]

प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना था कि वह समाज व राष्ट्र का एक योग्य, कर्मठ और धर्मनिष्ठ सदस्य बन सके।[73] विद्यार्थियों को अनेक प्रकार के यज्ञों का सम्पादन करने की विधि इस प्रकार सिखायी जाती थी कि वह विविध यज्ञों की क्रिया ज्ञान सुरक्षित रखकर अगली पीढ़ी में उसका प्रतिपादन करने में समर्थ होते थे।

राजशेखर ने इस प्रकार की शिक्षा को पैतृक व क्रमागत बताया है।[74] इस तरह हर पीढ़ी अपने पूर्वजों की परम्परा को नई पीढ़ी को सिखाते थे।[75] यह नियम और मान्यता ऋषियों–मुनियों पर भी समान रूप से लागू होती थी। क्योंकि वे एक अच्छे गृहस्थ होते थे।[76] राष्ट्रीय परम्परा और संस्कृति का संरक्षण और प्रचार प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था।[77] भारतीय शिक्षा पद्धति प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का संरक्षण करने में शताब्दियों तक सफल रही।[78]

प्राचीन भारतीय शिक्षा में पुत्र, पति और पिता के रूप में स्नातक को सर्तकता और योग्यतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करने का आदेश दिया जाता था। समावर्तन उपदेश में इन कर्तव्यों के पालन का विशेष रूप से आग्रह किया गया था।[79] अच्छी शिक्षा कार्य अनुभव पर बल देती है। कार्य अनुभव को शिक्षा का अविभाज्य अंग होना चाहिए।[80] डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य न तो राष्ट्रीय दक्षता है और न ही विश्व एकता अपितु व्यक्ति को यह अनुभव कराना है कि उसके अन्दर प्रज्ञा से बढ़कर कुछ और है जिसे आत्मा की संज्ञा दी जा सकती है।[81]

समाज की संस्कृति का अर्थ है समाज के जीवन का सम्पूर्ण ढंग।[८२] व्यक्ति को संस्कृति व सम्पूर्ण ज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए। वैदिक काल से ही भारत में तीन ऋणों का महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रचलित था, जो पूर्वजों के विचारों और कृतियों को सुरक्षित रखने के लिए सर्वदा संतति को प्रोत्साहित करता रहता था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को तीन ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करना पड़ता है। सर्वप्रथम वह देवताओं का ऋणी है, जो यज्ञों द्वारा चुकाया जा सकता है। इस प्रकार धार्मिक परम्पराओं का संरक्षण होता था। दूसरा ऋण है ऋषियों का जिसकी पूर्ति उनके ग्रन्थों के अध्ययन और उनकी साहित्यिक और व्यवसायिक परम्पराओं को अविछिन्न रखने से ही हो सकती है।[८३]

श्रीमदभागवत गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया गया हैं "कर्मण्येवाधिकारस्ते माँ फलेषु कदाचन्" कहकर निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है और "नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते" कहकर ज्ञान की महत्ता की घोषणा की गयी है।[८४] प्राचीन भारतीयों ने दृढ़ता से कहा था कि शिक्षा से विकसित और परिष्कृत बुद्धि ही सच्चा बल है।[८५] विद्या से कीर्ति बढ़ती है, बाधायें नष्ट होती हैं और हम पवित्र और सुसंस्कृत बनते हैं।[८६] सम्पूर्ण मानवीय आनन्दों का मूल विद्या ही है।[८७]

ऋग्वेद में कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य दूसरे से बड़ा है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसके पास कोई अतिरिक्त नेत्र या हॉथ होते हैं, बल्कि वह बड़ा इसलिए है कि उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर और पूर्ण होते हैं।[८८] शिक्षा ही हमें मनुष्य बनाती है। इसलिए शिक्षा से रहित हमारा जीवन व्यर्थ और मूल्यरहित है।[८९]

शिक्षा संस्कार से पूर्व ब्राह्मण भी शूद्र ही रहता है। शिक्षा ही उसके स्वभाव को शुद्ध और सुसंस्कृत बनाती है।[९०] इस प्रकार ईश्वरभक्ति, धर्मविश्वास, चरित्रनिर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों की शिक्षा, सामाजिक गुणों की

उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रचार प्राचीन भारत में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य और आदर्श थे।

अतः हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक काल में शिक्षा को प्रकाश और शक्ति का श्रोत समझा जाता था। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर इस संसार में और परलोक में भी जीवन के वास्तविक सुखों को प्राप्त कर सकता था।

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार विधिपूर्वक यज्ञ व हवन करने से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती थी। इस काल में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना हो गया था और वैदिक ग्रन्थों को पढ़ने के साथ–साथ विद्यार्थी की शारीरिक और नैतिक उन्नति के लिए भी प्रशिक्षण देना आवश्यक था।

ऐतिहासिक काल के पूर्वार्ध में शिक्षा ज्ञानोदय की प्रक्रिया समझी जाती थी। इसके द्वारा विद्यार्थी अपनी भौतिक और आध्यात्मिक देनों प्रकार की प्रगति कर सकता था। उन दिनों चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास और प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसका विकास शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे।

ऐतिहासिक काल के उत्तरार्ध में ब्राह्मण विद्यार्थियों को विशेष रूप से व्याकरण, तर्कशास्त्र, आयुर्वेद, अथर्ववेद, वैदिक साहित्य और दर्शन ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे जिससे वे अपनी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। चरित्र–निर्माण के द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण भी तत्कालीन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। क्षत्रिय विद्यार्थियों को बौद्धिक प्रशिक्षण के साथ–साथ भौतिक अनुशासन की व्यापक शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को पूर्ण मानव बनाना था। पूर्ण मानव अपने में आधिभौतिक और आध्यात्मिकता का पूर्ण समन्वय, सामंजस्य एवं सन्तुलन बनाये रखना। वेद की दृष्टि से यथाजात, अप्रबुद्ध, असंस्कृत, अविकसित, अउन्नत एवं रुग्ण मानव को प्रबुद्ध, संस्कृत, विकसित, उन्नत, निरोग एवं पूर्ण मानव बनाना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य एवं महत्व है।

अतः प्राचीन काल में अर्थ, काम के साथ धर्म एवं मोक्ष का भी शिक्षण परम आवश्यक था। विद्या को अमृत्व का साधन समझा जाता था। अतः वर्तमान समय में शिक्षा को केवल अक्षर व पुस्तक ज्ञान का माध्यम न बनाकर बल्कि प्राचीन शिक्षा परम्पराओं के आधार पर इस नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित कर, आत्मसंयम, इन्द्रियविग्रह, प्रलोभनोपेक्षा तथा नैतिक मूल्यों का केन्द्र बनाकर संचालित किया जाय। जिससे मानव जीवन में शिक्षा कल्पवृक्ष एवं कामधेनु की भांति सभी इच्छाओं की पूर्ति करने वाली एवं सुख–समृद्धि तथा शान्ति का संचार करने वाली हो सकेगी।

१. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य पृष्ठ संख्या १४७।
२. ऋग्वेद ७, २२, ७, ७३३, ५।
३. केनोपनिषद, २, ४।
४. नीतिशतक, पृष्ठ २।
५. सुभाषित रत्नभण्डागार, पृष्ठ ४१, १८।
६. हितोपदेश, मित्रलाभ, पृष्ठ ४, श्लोक ६।
७. सुभाषित रत्नभण्डागार, भोजप्रबन्ध, ३१, १४, ५।
८. पाण्डेय रामशकल – शिक्षा के मूल सिद्धान्त, पृष्ठ १०८–१०६।
६. ऋग्वेद, ७, ४, ४।
१०. वही, १०, १७, ७।
११. मनुस्मृति, १२, १४०।
१२. शतपथ ब्राह्मण, १४, ३, १, ३०।
१३. दशकुमार चरित, आठवाँ उच्छवास।
१४. श्रीमदभागवत, ११, ३, २३।
१५. तैत्तिरीय उपनिषद, १, ६।
१६. मुण्डकोपनिषद, १, १, ८।
१७. गीता, ६, ४३।
१८. पाण्डेय, रामशकल – शिक्षा के मूल सिद्धान्त, पृष्ठ ५।
१६. गीता, २, २६, ७२, १२, १४१।
२०. श्रीमदभागवत, ११, २३, १६।
२१. पंचतन्त्र, २१४, ६४।
२२. भर्तहरि – नीतिशतक, १६।
२३. चोपरा, पी० एन०, पुरी, बी० एन०, दास, ए सोशल कल्चरल एण्ड इकानामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १५१–१५२।
२४. हितोपदेश, ३, १०।
२५. सुभाषित रत्न संग्रह, पृष्ठ १६४।
२६. महाभारत, ११, ३, ६, ६।
२७. नीतिवाक्यामृत, पृष्ठ ५५।
२८. भर्तहरि – नीतिशतक, १२, १७।

२६. मनुस्मृति, ४, १७।
३०. महाभारत शान्तिपर्व, १२४।
३१. वही, २४, ६६।
३२. सुभाषितावली वल्लभदेव कश्मीर, ३४, २६।
३३. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ ५।
३४. सुभाषित रत्नभण्डागार ६०, २६।
३५. चरक संहिता शरीर स्थान, २।
३६. शुक्रनीतिसार, ३, १०।
३७. श्रीमदभागवत, ११, ३, २३।
३८. वही, ५, १२, ११।
३६. महाभारत वनपर्व, ३१३, १२८।
४०. वही, १, २७।
४१. अथर्ववेद, ११, ७, १६।
४२. मजूमदार, हिन्दू हिस्ट्री, पृष्ठ ८३।
४३. जफर, एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, पृष्ठ २८।
४४. विष्णु पुराण, ६, ५, ६, २।
४५. भोजप्रबन्ध, ४४, ३४।
४६. महाभारत, १२, ३२१, ७८ ; वियोगी – जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १६।
४७. कादम्बरी, पृष्ठ, ११०, १११।
४८. वाटर्स, ह्वेनसांग, पृष्ठ ३, ६, १६३।
४६. कामन्दकीय नीतिसार, पृष्ठ १०, २२।
५०. शुक्रनीतिसार, सरकार का अंग्रेजी अनुवाद, अध्याय १, लाइन १८१, ८२, अध्याय ४, लाइन १६१, ६२।
५१. अल्तेकर, ए० एस०, – एजूकेशन इन एन्शिएण्ट इण्डिया, पृष्ठ ५७।
५२. महाभारत, १२–३२१, ७७।
५३. मत्स्य पुराण, २०१, ११।
५४. अग्रवाल – कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ३०।
५५. वही, पृष्ठ ८४।
५६. पाण्डेय रामशकल – विक्रमादित्य ऑफ उज्जैनी, पृष्ठ ६०।

५७. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, १, १४, १५।
५८. कुमारसम्भव, ५, ३०।
५६. चरकसंहिता, शरीरस्थान २।
६०. अल्तेकर, ए० एस, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १७४।
६१. मत्स्यपुराण, २१५, ५८।
६२. प्रभू, पी० एन०, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ १८०।
६३. वही, पृष्ठ १३३
६४. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १५।
६५. महान शिक्षा शास्त्री, पृष्ठ १७५, ६
६६. महाभारत ३, ३१३, १० ; सुभाषित रत्नभण्डागार, पृष्ठ ४२, २१।
६७. सुभाषित रत्नभण्डागार, पृष्ठ ३१६।
६८. मालविकाग्निमित्रम् १, १७।
६६. मनुस्मृति, ११, २३६।
७०. दर्पदलन, विचार ३।
७१. वही, श्लोक २८।
७२. भोजप्रबन्ध, पृष्ठ ७७।
७३. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ ७।
७४. राजशेखर, कर्पूरमन्जरी, पृष्ठ २२६।
७५. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १३।
७६. दास, एजूकेशनल सिस्टम ऑफ दि एन्शियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ २३।
७७. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १३।
७८. वही, पृष्ठ १५।
७६. तैत्तिरीय उपनिषद, १, ११, परिशिष्ट ३।
८०. पाल व अग्रवाल, शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, पृष्ठ १११।
८१. वही, पृष्ठ ६६।
८२. वही, पृष्ठ ६४, ६५
८३. शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता, १, ५, ५।
८४. पाण्डेय, रामशकल, शिक्षा के मूल सिद्धान्त, पृष्ठ ६४–६५ ; गीता २, पृष्ठ ८०, श्लोक ४७।

८५. पंचतन्त्र, २–१४, ४६।
८६. भोजप्रबन्ध, पृष्ठ ३१, १२।
८७. मित्रलाभ हितोपदेश, पृष्ठ ४, श्लोक ६
८८. ऋग्वेद, १०, ७१७।
८६. सुभाषित रत्नभण्डागार, ३१, १८।
६०. भर्तहरि नीतिशतक, पृष्ठ संख्या ४।

तृतीय अध्याय

मन्दिर शिक्षा के केन्द्र

मन्दिर शिक्षा के केन्द्र

मंदिर का विकास पूजा–वास्तु के रूप में हुआ। मंदिर उस अदृश्य देवता का दृश्य स्वरूप होता है जिसकी मूर्ति मंदिर में प्रतिष्ठित होती है। मंदिर स्वयं मूर्ति की भांति उपास्य है, वह मानस शरीर है, भक्तगण उसकी परिक्रमा करते हैं। उसमें प्रतिष्ठित मूर्ति अदृश्य आत्मा का प्रतीक होती है जिसके समक्ष भक्तगण ध्यानस्थ होते हैं। जिस प्रकार मानस शरीर में आत्मा होती है उसी प्रकार मानव शरीर रूपी मंदिर में मूर्ति रूपी आत्मा निवास करती है। मानव–शरीर से मंदिर वास्तु की कल्पना या अवधारणा साहित्य में स्पष्टतः वर्णित है।

डॉ० ए० के० मिश्र ने ह्यशीर्षपांचरात्रम् के विवरण के आधार पर इस तथ्य का विवेकपूर्ण विवेचन किया है।[1] अग्निपुराण, हरिभक्तिविलास, ह्यशीर्षपांचरात्रम्: शिल्परत्नम् तथा ईशानशिवगुरूदेवपद्वति में ब्राह्मण मंदिर मानव शरीर माना गया है।

अग्निपुराण[2] में शिव मंदिर को शिव के शरीर से एकीकृत किया गया है। इसमें पीठिका को भू, पाताल, नरक एवं लोकपालों सहित ब्रह्माण्ड, जंघा को भू, वायु, जल, अग्नि एवं आकाश अपंचभूत, मंजरी एवं वेदिका को चतुर्विद्या, कण्ठ को रुद्र की माया, अमलसार को ज्ञानकोष, कलश को ईश्वर, शूल को त्रिशक्ति सहित अर्द्धचन्द्र, दण्ड को नाद तथा ध्वज को कुण्डलिनी शक्ति कहा गया है।

अग्निपुराण में शिव मन्दिर को शिव के शरीर से एकीकृत किया गया है। प्रो० मनमोहन गांगुली तथा रामराज ने विभिन्न क्षेत्रीय मन्दिरों के विभिन्न अंगों के नामों के आधार पर युक्त संगत रूप से मन्दिर को शरीर का ही प्रतिरूप बतलाया है।[3]

धर्म प्राचीन कालीन शिक्षा का सुदृढ़ आधार रहा है। धर्म विहीन शिक्षा को प्राचीन भारतीय शिक्षा के रूप में स्वीकार नहीं करते थे।[4] वे धर्म को वर्तमान के

साथ–साथ भविष्य के लिए और इस लोक के साथ–साथ परलोक के लिए भी उपयोगी साधन मानते थे।[५] यही कारण था कि अध्ययन काल में व्रतों के पालन का विधान बनाया गया था जिसका उद्देश्य था युवा ब्रह्मचारी को धर्म की भावना से अनुप्राणित करना। उस समय ज्ञान की पारमार्थिक महत्ता को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक प्रकाश पर विशेष बल दिया गया था। शास्त्रों में वर्णित है कि धर्म से विमुख व्यक्ति ज्ञान–धन व शक्तिहीन है।[६]

अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग "धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है।[७] ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म शब्द सभी धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८] छान्दोग्योपनिषद् में धर्म की तीन शाखाएँ मानी गयी हैं। (क) यज्ञ, अध्ययन एवं दान, अर्थात् गृहस्थधर्म (ख) तपस्या अर्थात तापस धर्म तथा (ग) ब्रह्मचरित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना। यहाँ धर्म शब्द आचार्यों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत करता है। यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बन्धनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। बौद्ध धर्म साहित्य में धर्म शब्द, भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है।[९]

मोहनजोदड़ो में लिंग–पूजा के चिन्ह मिले हैं। इनके अतिरिक्त लिंग–मूर्तियाँ ईसापूर्व पहली शताब्दी के आगे की नहीं प्राप्त हो सकी हैं। किन्तु ईसा से कई शताब्दियों पूर्व भारत में मूर्ति–पूजा का विस्तार हो चुका था। आपस्तम्बगृह्यसूत्र[१०] की टीका में लिखित हरदत्त के मत से ईशान, उनकी पत्नी एवं पुत्र जयन्त की मूर्तियों की पूजा होती थी। बौधायनगृह्यसूत्र[११] ने उपनिष्क्रमण के समय पिता द्वारा मूर्ति–पूजा की बात कही है। इसी प्रकार शांखायनगृह्यसूत्र[१२] , आपस्तम्बधर्मसूत्र[१३] में देवतायतन की चर्चा हुई है।

मनु[१४] ने लिखा है कि ब्रह्मचारी को मूर्ति–पूजा करनी चाहिए, लोगों को यात्रा में जब मूर्तियाँ मिलें, तो प्रदक्षिणा करनी चाहिए, मूर्ति की छाया को लाँघना नहीं चाहिए।

विष्णुधर्मसूत्र[१५] ने देवतार्चाओं (देवमूर्तियों) की तथा भगवान् वासुदेव की मूर्ति का उल्लेख किया है। विष्णुधर्मसूत्र[१६] में 'देवतायतन' एवं 'देवायतन' शब्द आये हैं। पतंजलि[१७] ने भी मूर्तियों का उल्लेख किया है। महाभारत आदिपर्व[१८], अनुशासनपर्व[१९], अश्वमेधिकपर्व[२०], भीष्मपर्व[२१] आदि में देवायतनों का उल्लेख हुआ है। मूर्तिपूजा एवं देवायतन–निर्माण का प्रचलन ई० पू० चौथी या पांचवीं शताब्दी में हो चुका था। प्रथम मत का समर्थन डा० फर्कुहर[२२] एवं डा० कार्पेंटियर[२३] ने किया है।

मन्दिर तथा मठ धार्मिक एवं आध्यात्मिक कार्यों में एक दूसरे के पूरक रहे हैं। मन्दिरों में इतिहासों, पुराणों आदि का पाठ हुआ करता था। बाण ने लिखा है कि उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में महाभारत का नियमित पाठ हुआ करता था। राजतरंगिणी[२४] में आया है कि कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा ने रामट उपाध्याय की नियुक्ति मन्दिर में व्याकरण के व्याख्याता के पद (अध्यापक पद) पर की (९०० ई० के लगभग)।

अग्निपुराण के मत से जो व्यक्ति शिव, विष्णु या सूर्य के मन्दिर में ग्रन्थ का वाचन करता है वह सब प्रकार की विद्या के दान का पुण्य पाता है।[२५] कुछ मठों में न केवल आध्यात्मिक विद्या का दान किया जाता था, प्रत्युत वहाँ धर्म–निरपेक्ष अर्थात् लौकिक विद्या–दान करने की व्यवस्था थी।[२६]

दानचन्द्रिका द्वारा उपस्थापित स्कन्दपुराण के उद्धरण से पता चलता है कि मठ में चौकियों एवं आसनों की व्यवस्था रहती थी, मठ तृणों से आच्छादित होता था और उसमें उन्नत स्थान (वेदिकाएँ) आदि बने रहते थे। ऐसे मठ ब्राह्मणों या सन्यासियों को मंगलमय मुहूर्त में दान किये जाते थे। इस प्रकार के दान से इच्छाओं की पूर्ति होती थी और निष्काम दान देने पर मोक्ष प्राप्त होता था।[२७]

'मठ' शब्द का प्रयोग कभी–कभी 'धर्मशाला' (जहाँ दूर–दूर से आकर यात्री कुछ दिनों के लिए ठहर जाते हैं) के अर्थ में भी हुआ है। राजतरंगिणी[२८] में आया है कि

रानी दिद्दा ने मध्यदेश, लाट एवं सौराष्ट्र से आने वाले लोगों के ठहरने के लिए मठ का निर्माण कराया।

देव–मन्दिरों का भी स्थल–स्थल पर उल्लेख आया है। देवतागार, देवपथ, देवस्थान, देवगृह, देवायतन, देवागार, देवतायतन आदि विविध नामों से उनकी चर्चा आई है। वाल्मीकि बताते हैं कि राम के अभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्यावासी किस प्रकार हिमालय के शिखर के समान ऊँचे देव–मन्दिरों पर ध्वजाएं और पताकाएं फहराने में संलग्न हो गये थे।[29] इस अवसर पर पुरोहित वशिष्ठ ने भी देवताओं के मन्दिरों और चैत्यों में अन्न, द्रव्य, दक्षिणा और पूजा की सामग्री की व्यवस्था करने के लिए मंत्रियों को आदेश दिया था।[30] देवायतनों के द्वार शुभ्र पुते रहते थे।

अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के पहले दिन राम ने सीता के साथ संयमपूर्वक विष्णु के मन्दिर में शयन किया था। 'चैत्यों और मंदिरों में जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता महर्षियों के साथ वन में तुम्हारी रक्षा करें''[31], राम को यह आर्शिवाद देकर कौसल्या ने मंदिरों का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया।

इन मंदिरों को हम सार्वजनिक देवस्थान मान सकते हैं, जो कि नागरिकों की सामूहिक संपत्ति थे तथा जिनकी देखभाल और सजावट में वे प्रगाढ़ अभिरुचि रखते थे। इनके अतिरिक्त निजी भवनों में भी देवालय बने रहते थे। उदाहरणार्थ जब ईक्ष्वाकु राजकुमारों की नववधुएं मिथिला से अयोध्या आई, तब अंतःपुर की रानियों ने वशिष्ठ को देव–मंदिरों में ले जाकर उनसे देवताओं का पूजन करवाया था, क्योंकि यह वर्णन उस समय का है जब ये वधुएं राजप्रासाद में प्रवेश कर चुकीं थीं, विष्णु के जिस आयतन में राम ने एक रात शयन किया था, वह उन्हींके महल में स्थित रहा होगा। कौसल्या ने भी अपने ही प्रासाद में समस्त देव–कार्य सम्पन्न किया था।

अतः प्रतीत होता है कि प्रत्येक गृहस्थ के घर में देव–पूजा के निमित्त एक पृथक् स्थान नियत रहता था। अगस्त्य के आश्रम में विभिन्न देवताओं के लिए पृथक् स्थान बने हुए थे। मार्ग में पड़ने वाले मंदिरों की प्रदक्षिणा की जाती है।[32]

रामायण में चैत्य शब्द प्रायः देवायतन के साथ–साथ प्रयुक्त हुआ है। जब भरत ननिहाल से अयोध्या लौटे, तो उन्हें चैत्यों और देवायतनों में बने घोंसलों में पक्षिगण दीन और निःशब्द बड़े दिखाई दिये थे।[33] राम ने चैत्यों और पूतों से सुशोभित कोसल प्रदेश में से होकर वन–प्रस्थान किया था। लंका में हनुमान् ने सीता की चैत्य–गृहों में भी खोज की थी।[34] रावण की अशोकवाटिका में हनुमान को हजार खंभोंवाला एक चैत्य प्रासाद दिखाई पड़ा था, जो गोलाकार, कैलास के समान श्वेत–वर्ण और बहुत ऊँचा था।[35] रावण, अलंकारों से विभूषित होने पर भी, शमशान–चैत्य की तरह भयंकर जान पड़ता था।

रामायण में मंदिरों ओर महलों की समता, उनकी ऊँचाई के कारण, प्रायः मेरु, मंदर और कैलास पर्वतों से की गई है। वाल्मीकि की इस उत्प्रेक्षा का साकार रूप सुदूरवर्ती कंबोडिया के भव्य मंदिर अंकोर धाम और उसके गगनचुंबी शिखरों में देखा जा सकता है।

राम–कथा का मंदिर–निर्माण अथवा पाषाण–शिल्प में प्रचुर अंकन मिलता है। इसके नमूने देवगढ़–स्थित गुप्तकालीन दशावतार मंदिर, हलेबिड (होयसल) तथा हजरा के राम–मंदिरों में बहुतायत से मिलते हैं। एलोरा की कैलास–गुफा में चट्टानों को काटकर बनाई गई दीवारें रामायण की दृश्यावली से अलंकृत है। ऐहोल के दुर्गा–मंदिर तथा औरंगाबाद की तीसरी गुफा में राक्षसों के पाषाण–निर्मित चेहरे पाये जाते हैं।[36]

द्वितीय शताब्दी ई० पू० के आस–पास की भरहुत की पाषाण–कला में एक आश्रम–दृश्य अंकित है, जो कर्निंघम के अनुसार प्रयाग–स्थित भरद्वाज–आश्रम या चित्रकूट–स्थित अत्रि–आश्रम है तथा जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता ऋषि के सामने खड़े हैं।[37] रामायण के दृश्यों का कहीं अधिक विस्तृत, नाटकीय और व्योरेवार अंकन लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी की नागार्जुनीकोंडा में खुदी एक चतुवर्गी कथा–पट्टी में मिलता है।[38]

धार्मिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए हमारे देश के ऋषियों–मुनियों, विचारकों एवं चिन्तकों ने धर्म को शिक्षा का आधार बनाकर तथा उसी के अनुरूप वातावरण का सृजन करके पठन–पाठन का कार्य प्रारम्भ किया था। यह स्वाभाविक है कि मठों, विहारों तथा मन्दिरों जैसे धार्मिक स्थलों पर धार्मिक व नैतिक शिक्षा का प्रचार–प्रसार सहजता के साथ किया जा सकता है।

अतः उन सबों ने शिक्षा के लिए मठों एवं मन्दिरों ऐसे स्थलों का ही चयन किया। ऐसे स्थल निर्धनों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए क्योंकि गरीब विद्यार्थी मन्दिरों में रह लेते थे। और भिक्षाटन करके अपना भोजन भी जुटा लेते थे। तत्कालीन मन्दिरों में शिक्षण का यह भी उद्देश्य रहा होगा कि वहाँ शिक्षण कार्य हेतु भवन सुलभ हो जाते थे और इसके लिए उन्हें अतिरिक्त भवनों की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती होगी।

भारतीय शिक्षा–दर्शन के प्रचार–प्रसार में मन्दिरों एवं मठों की अपनी विशेष भूमिका रही है और इन्हीं शिक्षा केन्द्रों से प्रेरित होकर भारतीय सन्त एवं मनीषियों ने सम्पूर्ण भारत में अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाया। प्राचीनकाल में मन्दिरों के साथ–साथ पाठशालाएँ रहती थीं, जिसमें उस क्षेत्र के विद्यार्थी अध्ययन करते थे।[३९] राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि शंकर के एक मन्दिर में चन्द्राचार्य जैसे विद्वान व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया करते थे।[४०] डाह्ल के कलचुरि वंश के भेड़ाघाट अभिलेख में एक शिव मन्दिर और मठ के निर्माण का उल्लेख है जिसके साथ के कक्ष में अध्ययन का कार्य होता था।[४१]

प्राचीनकाल में श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, उपनिषद एवं रामचरित मानस जैसे आर्ष ग्रन्थों के साथ–साथ लोक–कलाएँ तथा शिल्प विद्याएँ सभी मन्दिर के प्रांगण में ही पनपने लगीं थीं। इस भक्ति आन्दोलन को भारतीय शिक्षा–दर्शन के क्षेत्र में नूतन सांस्कृतिक–धार्मिक–चेतना का युग कहा जा सकता है।[४२] इस संक्षिप्त भारतीय शिक्षा–सूत्रों की परम्पराओं से स्पष्ट है कि मन्दिर अतीत काल से ही शिक्षा–दर्शन के

केन्द्र रहे हैं। मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति में भी मन्दिरों की विशेष भूमिका रही है तथा मन्दिरों की कलाओं में प्रकृति के रहस्य उद्घाटित होते रहे हैं।[८३]

तैत्तिरीय संहिता में हिरण्यपुरुष, अग्न्याधेय, पुनराधेय इत्यादि शब्द स्वर्णमयी मानव प्रतिमा तथा यज्ञ वेदिकाओं के लिए प्रयुक्त है।[८४] वोलेन्सेन तथा वेंकटेश्वर ने नृपेशस नरस्, दियोनरस, वयुः, तनुः रूप संदृश इत्यादि शब्दों के आधार पर वैदिक युग में देवताओं की मानव मूर्तियों का समर्थन किया है।[८५] कौषीतकि उपनिषद में अर्थात् आत्मा की मूर्ति के निर्माण का निषेध है। इससे अन्य मूर्तियों के निर्माण का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। षडविंश ब्राह्मण में मूर्ति के हँसने, रोने, नृत्य करने तथा मन्दिर के प्रकम्पित होने का उल्लेख है।[८६] अर्थशास्त्र में दुर्गनिवेश के सम्बन्ध में विभिन्न भागों में विभिन्न देवमूर्तियों की स्थापना का विधान किया गया है जो देव मन्दिरों के भी द्योतक हैं।[८७] अशोक के लेखों में दिव्य स्वरूप के दर्शन का उल्लेख है।[८८]

महाभारत में मन्दिर का प्रासाद तथा उसके ऊर्ध्व खण्डों को 'भूमि' नाम से सम्बोधित किया गया है।[८९] मन्दिर में स्थित देव–प्रक्रिया मानव भावनाओं का साकार रूप है। मानव व्यक्तित्व को ऐसे बहुमुखी आयाम मिलते हैं जिनके चिन्तन–मनन और व्यवहार से उसका 'स्व' ही नहीं अपितु 'सम्पूर्ण' भी सार्थक और महत्वपूर्ण हो उठता है। वस्तुतः मन्दिर का यह रूप ही शिक्षा के मूल उद्देश्य की प्राप्ति में वरदान का कार्य करता है, जो शिक्षा के विकारों का अहंमूलकता, मूल्यहीनता, अन्धविश्वास, व्यक्तित्व विखण्डन प्रतिबद्धता और बहुमुखी अतिवादों की चुनौतियों को स्वीकार ही नहीं करता, अपितु समन्वय समग्रता, रसमयता, सहिष्णुता, संयम और आत्म–सम्मान जैसे उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा भी करता है।[९०]

भरतमुनि ने ठीक ही कहा है कि देवालय एवं सभाभवन ऐसी वस्तुएँ हैं जिनसे अद्भुत रस का अनुभव उद्भूत होता है।[९१] भोज ने भी वास्तुकृतियों को अद्भुत रस के स्थायी भाव विस्मय का उद्भावक माना है।[९२] बर्क ने भी वास्तुकला की महान कृतियों को विस्मयभाव का जनक कहा है, जो अन्तःकरण में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि

यहाँ अन्य भावों का प्रवेश सम्भव नहीं रहता।[५३] भोज ने प्रतिमा विवरण में 'रस–दृष्टि–लक्षण' को विशिष्ट महत्व प्रदान किया है।[५४] धारा में कमलमौल मस्जिद के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में यह भोज द्वारा निर्मित शिक्षा संस्था का एक भवन था।[५५] इस भोजशाला में एक सरस्वती सदन था जिसमें कवि व साहित्यकार एकत्र होते थे।[५६]

के० आर० श्रीनिवासन ने लिखा है कि छठी और सातवीं शताब्दी ईस्वी से दक्षिण के हिन्दुओं और जैनों ने प्रस्तर माध्यम को अपनाया और चट्टानों को काटकर गुहा मन्दिर बनवाया। ऐसे भी मंदिर बने जब एक ही चट्टान को काटकर उसे मंदिर का रूप दिया गया और इस प्रकार अंततः मंदिर पत्थर के बनने लगे।[५७] आज हमें दक्षिण प्रायद्वीप में इस प्रकार के प्रस्तर निर्मित मंदिर हजारों की संख्या में प्राप्य हैं, जहां बहुत से मंदिरों में तो आज पूजा भी होती है। मंदिरों के बारे में जानकारी उनमें लगे शिलालेखों से प्राप्त होती है।

तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति की अनेक बातों का ज्ञान भी इनसे मिलता है। चोल राजाओं के समय से (नौवीं तथा दसवीं शती ई०) ये मंदिर समग्र ग्रामीण तथा नगर जीवन की धुरी बन गए थे, उनमें धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक अर्थात समस्त जीवन समाहित था। इसीलिए ये वास्तु, स्थापत्य, मूर्तिकला तथा अन्य कलारूपों के अप्रतिम भंडार बन गए थे।

फर्ग्युसन[५८] की यह मान्यता है कि विन्ध्य के उत्तर के मन्दिरों को नागर, पश्चिम भारत, दक्कन तथा मैसूर क्षेत्र के मन्दिरों को वेसर, तथा तमिल एवं उत्तरी सिंहल के मन्दिरों को प्रविण नाम दिया गया। पारस्कर गृह्यसूत्र में देवकुल, देवगृह तथा देवायतन शब्द मन्दिर के बोधक हैं।[५९]

पत्थर तथा तांबे पर खुदे हुए अधिकांश लेखों की सुन्दरता तथा परिशुद्धता जहाँ खुदाई करने वालों की उच्च कोटि की साक्षरता तथा कुशलता को प्रकट करती है, वहाँ अनेक अभिलेखों की साहित्यिक श्रेष्ठता के साथ–साथ सभी भाषाओं में प्रस्तुत

साहित्य की प्रचुरता इस बात का प्रमाण है कि स्थानीय लोकभाषाओं के प्रचार तथा प्रशासन और शिक्षा के क्षेत्र से उसके प्रयोग में कदापि उपेक्षा नहीं बरती जाती थी।

प्रारम्भिक काल में जबकि देशी भाषा तथा संस्कृति के पोषण के लिए उतनी अधिक संख्या में मठ नहीं थे, जितने कि बाद में स्थापित हुए। लिखना, पढ़ना और अंकगणित किसी वृक्ष की छाया में अथवा मन्दिर के बरामदे में स्थित गांव के विद्यालय में सिखाया जाता था, और ग्रामीण शिक्षक (वृत्ती या धक्करिगा) गांव के नियमित कर्मचारियों में से था जिसे कुछ निश्चित काम करने के लिए गांव की जमीन का एक भाग मिलता था।

इटालवी यात्री पिट्रोडेला वाले (१६२३ ई०) ने ग्रामीण विद्यालयों तथा उनके द्वारा अपनायी गयी शिक्षा प्रणाली का बड़ा ही सजीव वृत्तान्त लिख छोड़ा है। उससे इस सिलसिले में आवृत्ति द्वारा याद करने तथा फर्श पर महीन बालू बिखेर कर लिखने की प्रणाली की भी चर्चा की है जो अभी हाल तक पूर्ण रूप से प्रचलित थे और संभवतः अभी भी कहीं-कहीं कुछ सुदूर गांवों में चल रहे हैं। इब्नबतूता (१३३३-४५) लिखता है – मैंने हनौर में बालिकाओं की शिक्षा के लिए १३ तथा बालकों के लिए २३ विद्यालय देखे, जो अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया।" राबर्ट डा नाबिली ने १३१० ई० में एक पत्र में लिखा था कि मदुरा में १०,००० विद्यार्थी अध्यापक के पास धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र की शिक्षा पा रहे हैं।[६०]

सारे देश में, महाकाव्यों तथा पुराणों के पठन एवं व्याख्या के लिए मन्दिरों को दिये गये धन से 'वयस्क शिक्षा' की व्यवस्था होती थीं। बुद्धिमान और लोकप्रिय कथावाचक शायद ही कभी मूल-पाठ तक अपने को सीमित रखता था, बल्कि तुरंत ही विभिन्न विषयों की चर्चा द्वारा जिनमें वर्तमान परिस्थिति पर चतुराई भरी टिप्पणियाँ भी शामिल रहती थीं-वह अपने श्रोताओं का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन करता था।

मन्दिरों में नियमित रूप से इस प्रयोजन के लिए नियुक्त मण्डलियों द्वारा भजनों का गायन तथा साधारणतः मठों से संलग्न विद्यालयों में इसके लिए नवयुवकों का

प्रशिक्षण–शिक्षा का दूसरा पहलू था जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। मठों के अतिरिक्त जैन, पल्लवों तथा बौद्ध विहारों ने भी – जहाँ कहीं वे थे–जनता को शिक्षित करने का काम किया। उनके पास विशाल पुस्तकालय थे जिनमें सभी विद्याओं से सम्बन्धित पुस्तकें थीं। समय–समय पर इन पुस्तकों की नकल की जाती थी।[६१]

संस्कृत शिक्षा ब्राह्मणों का एकाधिकार सा हो गया था। विशेष रूप से काफी बड़ी रकमें देकर संस्कृत–शिक्षा को खास तौर पर प्रोत्साहित किया गया। कहीं–कहीं शिक्षा के विषय सिर्फ चार और कहीं–कहीं चौदह या अठारह तक गिनाये गये हैं। चार विषय थे – दर्शन (आणविक्षिकी), वेद (त्रयी), अर्थशास्त्र (वार्ता) तथा राजनीति (दण्डनीति)। शिक्षा के ये चारों विषय राजाओं की दृष्टि से विशेष अनुकूल थे और वस्तुतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन्हें सबसे पहले स्थान मिला है।

चौदह विद्याएँ थीं–चार वेद, छः अंग–स्वरशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, शब्द–साधन (खासकर कठिन शब्दों का), ज्योतिष तथा क्रिया–पद्धति, पुराण, तर्क मीमांसा तथा धर्मशास्त्र। इस चौदह में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र (राजनीति) जोड़ देने से अठारह विद्याएँ हो जाती थीं। इनमें से कई विद्याओं में निपुण ब्राह्मण राजगुरू के पद पर प्रतिष्ठित होता था और देश के विभिन्न भागों में फैलकर धर्मोपदेश द्वारा शहरों तथा गाँवों के निवासियों के जीवन का सुधार करते थे। जहाँ ब्राह्मणों का अभाव होता था वहाँ शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिए प्रलोभन के रूप में जमीन तथा भवन भेंट कर उन्हें बसने के लिए लाया जाता था।

कावेरी–पाक्कम से प्राप्त नृपतुंग के शासनकाल के एक अभिलेख में एक वैष्णव मठ तथा उसके पण्डितों का उल्लेख है। उसी राजा के एक दूसरे अभिलेख से पान्डीचेरी के पास बाहर स्थित एक महाविद्यालय–जहाँ चौदह विद्याएँ पढ़ाई जाती थी, की सफल स्थिति का प्रमाण मिलता है।[६२] सल्गी में एक अन्य प्रसिद्ध महाविद्यालय था जहाँ विभिन्न जनपदों (देशों) के छात्र अध्ययन के लिए आते थे।

६४५ ई० में यहाँ के विद्यार्थी संघ को कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण ने भवन,

भूमि तथा विवाह एवं अन्य समारोहों पर लगायी गयी लेवी से प्राप्त राजस्व के रूप में एक बड़ी राशि सहायतार्थ दी। हम नागाई में भी एक घटिका की बात सुनते हैं जहाँ एक पुस्तकालयाध्यक्ष के अतिरिक्त वेदों का अध्ययन करने वाले २०० तथा शास्त्रों का अध्ययन करने वाले ५० छात्र और वेदों के तीन शिक्षक एवं भट्ट, प्रभाकर–मीमांसा तथा न्याय–इन तीनों शास्त्रों के लिए एक–एक शिक्षक–कुल २५७ व्यक्तियों के लिए पर्याप्त व्यवस्था थी।[63]

केरल में ही नम्बूदरी ब्राह्मण है, जो सिर्फ सबसे बड़े भाई को परिवार हेतु स्थायी रूप से विवाह करने की अनुमति देता था। छोटे भाई पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर साधारणतः अध्ययन और अध्यापन के काम में अपना समय बिताता था तथा जनसाधारण में साक्षरता का प्रसार करने में सहायता करता था। जैसा आय राजा करूणान्दाडक्कन (नवीं सदी के मध्यभाग में) के एक अनुदान से प्रकट है कि सामन्तगण संस्कृत विद्या को संरक्षण प्रदान करते थे। उक्त आय राजा ने एक महाविद्यालय तथा ९५ वैदिक छात्रों के भरण–पोषण की व्यवस्था सहित एक छात्रावास का दान किया था।

इस महाविद्यालय में भर्ती होने से पहले छात्रों को व्याकरण मीमांसा, पौरोहित्य तथा त्रैराज्यव्यवहार (तीन देशों–संभवतः पाण्डय, चोल तथा केरल) में प्रचलित विधि तथा प्रथा विषयों में प्रवेश परीक्षण में उत्तीर्ण होना पड़ा था। इस महाविद्यालय का कार्य दक्षिण ट्रावणकोर में पार्थिव शेखरपुरम स्थित विष्णु मंदिर में चलने वाला था, और वस्तुतः उस समय देश में जो अनेक मन्दिर तथा उसके साथ–साथ मठ और 'सन्त' थे, वे सभी अपने–अपने ढंग से गुरूकुल प्रणाली की शिक्षा के केन्द्र बन गये थे।[64]

मन्दिर सिर्फ पूजा का ही स्थान नहीं था, जनसाधारण के सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन में यह एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करता था। इसके निर्माण और संधारण में अनेक वास्तुकला–विशारदों तथा कारीगरों को रोजी मिलती थी जो साहसपूर्ण योजना तथा उसके कुशल कार्यान्वयन में एक दूसरे से होड़ करते थे।

पत्थर तथा धातु की मूर्तियों के निर्माण कार्य में श्रेष्ठ शिल्पकारों को अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर मिलता था।[६५] मन्दिरों–खास कर बड़े मन्दिरों–के दैनिक कार्यक्रम में अनेक पुजारियों, गायक मंडली के सदस्यों, संगीतज्ञों, नर्तकियों, मालियों, रसोइयों तथा अन्य अनेक प्रकार के सेवकों को रोजी मिलती थी। नियतकालिक पर्वो के अवसर पर मेले लगते थे तथा शास्त्रार्थ, कुश्ती और हर प्रकार के सार्वजनिक मनोरंजन के कार्यक्रम आयोजित होते थे।

मन्दिर के अहाते में ही अधिकतर स्कूल और अस्पताल भी रहते थे तथा यही सभा–भवन के काम में भी आता था जहाँ लोग स्थानीय समस्याओं पर विचार करने अथवा किसी धर्मग्रन्थ की व्याख्या सुनने के लिए एकत्र होते थे। प्रत्येक मन्दिर को क्रमिक पीढ़ियों के धर्मपरायण दाताओं से मिली काफी अधिक जमीन तथा नकद धनराशि के कारण यह एक साथ ही उदार जमींदार तथा महाजन दोनों बन जाता था और उसकी सहायता जरूरतमन्द लोगों को की जाती थी।[६६]

शोलापुर जिले के टेर तथा कृष्ण जिले के चेजार्ला नामक स्थानों में ईंट से निर्मित बौद्ध चैत्य हॉल मिले हैं जो संभवतः पांचवीं सदी में बनाये गये थे और आज तक सिर्फ इस कारण बचे हुए हैं क्योंकि बौद्धधर्म के पतन के बाद अपने धार्मिक उपयोग के लिए ब्राह्मणों ने इन्हें अपने हाथ में ले लिया। यहाँ टेर स्थित त्रिविक्रम मन्दिर तथा चेजार्ला स्थित कपोतेश्वर मन्दिर का उल्लेख मिलता है।

चैत्यों का मुख्य आकार–प्रकार पहले के समान ही रहा, सिर्फ इसके भीतर बुद्ध की प्रतिमा आ गयी, जो कभी–कभी अत्यन्त दीर्घकाय होती थी। किन्तु विहार की बनावट में काफी अधिक परिवर्तन हुए और सबसे भीतरी भाग में छोटे–छोटे कमरों की पंक्ति जो पहले भिक्षुओं के शयनागार के काम में आती थी, अब बुद्ध की प्रतिमाओं को रखने की पुण्यस्थली बन गयी। इस तरह विहार निवास की जगह के साथ–साथ देवालय भी बन गया।

तंजोर मन्दिर की दिवारों पर चोलराज प्रथम के तमिल शिलालेख विशेष रूप से

उल्लेखनीय है। इनमें इस महान् मन्दिर की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पूरा चित्र दिया हुआ है। शिलालेख ग्रामसभाओं के गठन और कार्यों के बारे में रोचक वर्णन प्रस्तुत करते हैं।[६७] यहीं नहीं, उनमें यह सूचना भी रहती है कि देश के आर्थिक और कलात्मक जीवन में कला और व्यापार–विषयक संघों की क्या भूमिका होती थी, महत्वपूर्ण शिक्षा–केन्द्रों में छात्रों ओर अध्यापकों की क्या संख्या थी और पाठ्यक्रम क्या था, आदि। वीर राजेन्द्र का तिरूमुक्कूदल शिलालेख इसलिए अद्वितीय है कि उसमें स्थानीय अस्पताल में रखी जाने वाली दवाओं के स्टॉक की सूची दी हुई है, और काकतीय गणपति का मोतुपल्ली शिलालेख उन थोड़े से अभिलेखों में है जिनमें सामुद्रिक व्यापार की स्थितियों का चित्रण है।[६८]

जैसा कि यह स्पष्ट हो चुका है, अतीतकाल से मन्दिर ही शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। मन्दिरों में देश–विदेश से आये हुए छात्र–छात्राओं को शिक्षा देने की व्यवस्था रही है। मन्दिरों को राज्य की ओर से तथा धनी व सम्पन्न लोगों के द्वारा दान प्राप्त होता था, जिससे मन्दिर की अन्य व्यवस्था के साथ–साथ शिक्षा का भी संचालन होता रहा है। विशाल, सुन्दर एवं चित्ताकर्षक मन्दिर चन्देल राजाओं की देन जाने जाते हैं।[६९] परमर्दिदेव ने भगवान शंकर की स्तुति में सुन्दर श्लोक लिखे थे।[७०]

हरिवंश तथा विष्णुपुराण की रचना उसी युग में हुई। यशोवर्मन ने खजुराहों में बैकुण्ठ मन्दिर का निर्माण करवाया।[७१] मरमर्दिदेव के मन्त्री सलक्षण ने भी विष्णु मन्दिर बनवाया।[७२] मदनवर्मन के मन्त्री गदाधर ने देदू नामक स्थान पर एक विष्णु मन्दिर तथा एक तालाब बनवाया।[७३] इसके अतिरिक्त खजुराहो के जगदम्वी[७४], चर्तुभुज[७५] वामन[७६] तथा वाराह मन्दिर उसी समय निर्मित हुए। धंगदेव ने प्रथमदेव नामक शिव मन्दिर का निर्माण कराया।[७७] गृहपतिवंशीय कोकल्ल ने भी वैद्यनाथ मन्दिर बनवाया[७८] खजुराहो व अन्य स्थलों के कन्दरीय महादेव[७९], विश्वनाथ[८०], मृत्युंजय[८१] तथा नीलकंठ मन्दिर[८२] बहुत प्रसिद्ध हैं। खजुराहो का ब्रह्मा मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है।[८३] यहाँ के छात्र को पत्र नामक सूर्य मन्दिर से सूर्यपूजा का प्रमाण मिलता है।[८४] यहाँ दुर्गा, काली, कपालिनी के अनेक मन्दिर पाये गये हैं।[८५] महोबा में प्राप्त छः बौद्ध प्रतिमाओं में सिंहनाद अवलोकितेश्वर की

मूर्ति अत्यन्त आकर्षक हैं।[८६] खजुराहो, दौनी, दुघई, चांदपुर तथा कुण्डलपुर में जैन मन्दिरों की भी पुष्टि होती है।[८७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्देल कालीन राजाओं–महाराजाओं ने अनेकानेक मन्दिरों एवं मठों का निर्माण करवाया, और उनका भली प्रकार से संरक्षण भी किया। इन मठों एवं मन्दिरों में कन्दरीया महादेव, खजुराहो का महादेव, खजुराहो का विश्वनाथ, मृतंग अथवा मृत्युंजय महादेव, महोबा का नीलकंठ, कुंवर मठ, जतकरी का शिव मन्दिर, महोबा का ककरामठ अथवा ककरा मन्दिर, दौनी का शिव मन्दिर, देवी जगदम्बा मन्दिर, खजुराहो का चर्तुभुज बाराह वामन जबरा, ब्रह्मा अथवा गदाधर, लक्ष्मीनाथ पार्वती, लक्ष्मी जगदम्बा, दुर्गा, चौसठ मन्दिर, जतकरी का चर्तुभुज मंदिर, महोबा का मदारि मन्दिर, गोड़ का विष्णु मन्दिर, विलहरिया का विष्णु मन्दिर, दुधई का ब्रह्मा मन्दिर, मनिया देवी मन्दिर, मैहर की शारदा देवी मन्दिर, रसिन का चण्डमढेश्वरी मन्दिर, खजुराहो का छत्रको पत्र मन्दिर, खजुराहो का घंटई जैन मन्दिर, पार्श्वनाथ मन्दिर, जिननाथ मन्दिर, सेतनाथ, आदिनाथ मन्दिर, दौनी का जैन मन्दिर, दुधई का जैन मन्दिर, कुण्डलपुर का नेमिनाथ मन्दिर, मदनपुर का जैन मन्दिर, चांदपुर का जैन मन्दिर आदि दर्शनीय हैं। ललित एवं मूर्ति कलाओं की दृष्टि से तो इन मन्दिरों का महत्व है ही किन्तु शिक्षा के प्रचार–प्रसार की दृष्टि से भी ये अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

शिलालेखों में अंकित सूचनाएँ किसी भी देश के क्रमबद्ध इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। चन्देल नरेशों के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनके अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन दिनों मन्दिरों के निर्माण एवं देवी–देवताओं की पूजा, आराधना पर विशेष ध्यान दिया गया था। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ज्यादातर अभिलेख भी मन्दिरों से ही प्राप्त हुए हैं। इन मन्दिरों के साथ उस युग के गौरव व वैभव की झलक तथा वहाँ की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक व राजनैतिक प्रगति का चित्रण प्राप्त होता है। मन्दिरों एवं मठों से प्राप्त शिलालेख इस प्रकार हैं।

(१) खजुराहो शिलालेख[८८] (सं० १०११ वि० अथवा सन् ९५४ ई०) – यह शिलालेख खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर से प्राप्त हुआ है। इसमें २८ पंक्तियों में ४६ श्लोक शुद्ध एवं धाराप्रवाह संस्कृत में देवनागरी लिपि में हैं। यह लेख "ओं नमोवासुदेवाय" से प्रारम्भ होता है और फिर इसमें भगवान् बैकुण्ठ की स्तुति है। यशोवर्मन ने एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें हयपति देवपाल से प्राप्त बैकुण्ठ प्रतिमा की स्थापना की थी। इस लेख की समाप्ति भगवान् वासुदेव तथा सूर्य की स्तुति के बाद होती है।

(२) खजुराहो जैन मन्दिर शिलालेख[८९] (सं० १२०११ अथवा सन् ९५४ ई०) – यह लेख खजुराहो जैन मन्दिर के बायें दरवाजे के पास उत्कीर्ण है। इसमें संस्कृत गद्य एवं पद्य की ११ पंक्तियां हैं। यह लेख 'ओम्' से प्रारम्भ होता है और इसमें पहिल द्वारा दिये गये अनेक दानों का उल्लेख है।

(३) ननयौरा ताम्रपत्र[९०] (सं० १०५५ वि० अथवा सन् ९९८ ई०) – यह लेख उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले के ननयौरा ग्राम में प्राप्त हुआ है और इसमें १५ पंक्तियां हैं। इसमें हर्षदेव से महाराज धंग तक चन्देल नरेशों का वर्णन है। इसमें सं० १०५५ वि० अथवा सन् ९९८ ई० में चन्द्रग्रहण के अवसर पर काशिका (वाराणसी) में महाराज धंगदेव द्वारा शरणार्थी भट्ट यशोधर को युलि अथवा चिहि नामक ग्राम के दान देने का उल्लेख है।

(४) कोकल्ल का खजुराहो शिलालेख[९१] (सं० १०५८ वि० अथवा सन् १००० ई०) – यह शिलालेख खजुराहो के वैद्यनाथ मन्दिर में उपलब्ध हुआ था। इसमें २० पंक्तियां हैं और यह 'ओम नमः शिवाय" से प्रारम्भ होता है। इसमें विभिन्न नामों से शिव की स्तुति की गई है। इनमें कोकल्ल की वंशावली दी गई है और मन्दिर के निर्माण का वर्णन है।

(५) खजुराहो शिलालेख[९२] (सं० १०५९ वि० अथवा सन् १००२ ई०) – यह लेख खजुराहो मन्दिर में प्राप्त हुआ है और इसमें संस्कृत में ३३ पंक्तियां हैं। यह "ओम् नमः शिवाय" से प्रारम्भ होता है और इसमें शिव–पार्वती, गणेश आदि की स्तुतियां हैं। इसमें धंग द्वारा निर्मित भगवान् शम्भु के मन्दिर का उल्लेख हैं इसमें यह भी निर्देश है कि धंगदेव

ने प्रभूत स्वर्णदान किया। मन्दिर के निकट ब्राह्मणों के आवास बनवाये और उन्हें भूमि, धन–धान्य तथा गोदान किये।

(६) कालिंजर–स्तंभ–शिला लेख[६३] (विक्रमाशब्द ११८६ अथवा सन् ११२६ ई०) – यह लेख कालिंजर किले के नीलकंठ मन्दिर के एक स्तम्भ से उत्कीर्ण है और इसका प्रारम्भ भगवान नीलकण्ठ की स्तुति से होता है। इसमें महाप्रतिहार संग्राम सिंह तथा महावचनी पद्मावती का उल्लेख है। जनरल कनिंघम के मतानुसार वे दोनों नीलकण्ठ मन्दिर की देखरेख तथा भगवान् नीलकण्ठ की सेवा के लिए नियुक्त किये गये थे।[६४]

(७) कालिंजर का ध्वस्त स्तंभ (विक्रमाब्द ११८७ अथवा सन् ११३० ई०) – जिस टुकड़े में यह लेख उत्कीर्ण है, वह वास्तव में कालिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर का है। इस लेख का प्रारम्भ 'ओम्' से होता है और इसमें किसी व्यक्ति द्वारा दिये गए दान का उल्लेख है।

(८) कालिंजर–शिलालेख[६५] (विक्रमाब्द ११८८ अथवा सन् ११३१ ई०) – नीलकण्ठ मन्दिर के बाईं ओर स्थित शिला में यह लेख उत्कीर्ण है। इसका प्रारम्भ महाराज मदनवर्मन के नाम से होता है। यह लेख सन् ११८८ ई० में उत्कीर्ण हुआ था।

(९) औगसी दानलेख[६६] (विक्रमाब्द ११९० अथवा सन् ११३४ ई०) – यह ताम्रपत्र बांदा जिले की बबेरू तहसील के औगसी परगने में पाया गया था। इस ताम्रपत्र में ऊपर की ओर बीच में पद्मासन में बैठी हुई भगवती लक्ष्मी की मूर्ति उत्कीर्ण है। इस मूर्ति के दोनों ओर एक–एक हाथी भी दिखलाये गये हैं। इसमें सुडाली विषय के अन्तर्गत बम्हरदा नामक ग्राम के भूमिदान का उल्लेख है। यह दान धकरी ग्राम के एक ब्राह्मण को दिया गया था।

(१०) नीलकण्ठ मन्दिर के निकटस्थ शिलालेख[६७] (विक्रमाब्द ११९२ अथवा सन् ११३५ ई०) – जिस शिला में यह लेख उत्कीर्ण है वह कालिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर की बाराह मूर्ति के समीप है। यह 'ओम्' से प्रारम्भ होता है। इसमें यह वर्णन है कि इस वाराह मूर्ति का निर्माण ठाकुर श्री के पुत्र ठाकुर श्री नृसिंहदेव ने करवाया था।[६८]

(११) खजुराहो का जैन मूर्तिलेख[99] (विक्रमाब्द १२०५ अथवा ११४७ ई०) – यह लेख केवल एक पंक्ति का है और इसमें राजा का नामोल्लेख नहीं है।

(१२) हॉर्निमन जैन मूर्ति लेख[100] (विक्रमाब्द १२०८ अथवा सन् ११५१ ई०) – यह लेख २२वें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की पाद–पीठ पर उत्कीर्ण है। यह बुन्देलखण्ड के मण्डलीपुर नामक स्थान में प्राप्त हुआ था।

(१३) अजयगढ़ शिलालेख[101] – यह लेख अजयगढ़ दुर्ग के फाटक के ऊपरी भाग (हटके) पर अंकित है। यह "ओम्" से प्रारम्भ होता है।

(१४) महोबा जैनमूर्ति का लेख[102] यह लेख केवल दो पंक्तियों का है, जो नेमिनाथ के पादपीठ पर उत्कीर्ण है। इसमें मूर्ति स्थापना का उल्लेख है, जिसे रूपकार लेखक ने मदनवर्मन के राज्य में विक्रमाब्द १२१२ अथवा सन् ११५५ ई० में बनाया था।

(१५) खजुराहो जैनमूर्ति लेख[103] – इस लेख में केवल एक पंक्ति है और यह "ओम्" से प्रारम्भ होता है। इसमें यह उल्लेख है कि जिस जैन मूर्ति में यह लेख उत्कीर्ण है, उसकी स्थापना पहिल्ल पुत्र साधु साटे ने करवायी थी।

(१६) वारिदुर्ग दानलेख[104] – परमर्दिदेव के सेमरा दानलेख से यह पता चलता है कि उसके बिना मदनवर्मन ने विक्रमाब्द १२१६ अथवा सन् ११६२ ई० में जब कि वारिदुर्ग (बरगढ़) में निवास कर रहा था, इस दानलेख को उत्कीर्ण करवाया। इसमें मदनपुर वदवारी तथा दुधई ग्रामों के दान का उल्लेख है।

(१७) महोबा जैन मूर्ति लेख[105] – इस लेख का उद्देश्य महाराज मदनवर्मन के राज्यकाल में विक्रमाब्द १२२० अथवा सन् ११६३ ई० में एक जैनमूर्ति की स्थापना मात्र है।

(१८) मऊ शिलालेख[106] – जिस शिला में यह लेख अंकित है वह झांसी जिले के अन्तर्गत मऊ नामक ग्राम के निकट प्राप्त हुई थी। इसमें देद्दु ग्राम के निकट राजमंत्री गदाधर द्वारा एक विष्णु मन्दिर तथा तालाब के निर्माण का निर्देश है।

(१६) सेमरा दान–लेख[१०७] – बुन्देलखण्ड की विजावर स्टेट के सेमरा नामक ग्राम में यह दानलेख प्राप्त हुआ है। इसमें १२४ पंक्तियां हैं और यह तीन ताम्रपत्रों में उत्कीर्ण है। पहिले ताम्रपत्र में भगवती लक्ष्मी की मूर्ति है। इस लेख का प्रारम्भ "ओम् स्वास्ति" से होता है। इसमें चन्देलवंश का उल्लेख है। इसमें विभिन्न वैदिक शाखाओं के तथा अनेक भट्टाग्रहारों में रहने वाले ३०६ ब्राह्मणों के दान का उल्लेख है।

(२०) महोबा जैन लेख[१०८] – यह महोबा की एक जैन प्रतिमा के भग्न पाद–पीठ में उत्कीर्ण है। यह एक लम्बी तथा अपूर्ण पंक्ति में है और इसमें परमर्दिदेव के राज्यकाल में विक्रमाब्द १२२५ अथवा ११६८ ई० में मूर्ति के समर्पण का उल्लेख है।

(२१) इच्छावर दानलेख[१०९] – यह उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में पैलानी के पास इच्छावर ग्राम से प्राप्त हुआ था। इसमें ४५ पंक्तियां हैं और दो ताम्रपत्रों के एक ही ओर लेख उत्कीर्ण है। इसमें दाता के वंश का उल्लेख है और विलासपुर राजनिवास से विक्रमाब्द १२२८ अथवा ११७१ ई० के चन्द्रग्रहण के अवसर पर दिए गए दान का वर्णन है।

(२२) महोबा दानलेख[११०] – यह लेख उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले के महोबा नामक स्थान में उपलब्ध हुआ था। इसमें ३३ पंक्तियां हैं। दाता (नरेश) के वंश–परिचय के पश्चात् एरछा विषय (वर्तमान एरिछ) के धनौरा नामक ग्राम को ६० वर्ग बाढ़ भूमि के दान का उल्लेख है जो ५ हलों से जोती जा सकती थी। यह दान ब्राह्मण रत्न शर्मा को दिया गया था। यह लेख विक्रमाब्द १२३० अथवा सन् ११७३ ई० का है। इसे पृथ्वीधर ने लिखा था।

(२३) पचरा दानलेख[१११] – झांसी से १२ मील उत्तर–पूर्व पचरा नामक ग्राम में यह दानलेख प्राप्त हुआ था। इसमें २२ पंक्तियां हैं और एक ही ताम्रपत्र के एक ही ओर यह अंकित है। इसके ऊपरी भाग में चतुर्भुजी गजलक्ष्मी की मूर्ति है।

(२४) पृथ्वीराज चौहान का मदनपुर शिलालेख[112] – यह लेख मदनपुर के एक पुराने मन्दिर में जनरल कर्निंघम को मिला था। इसमें यह उल्लेख है कि पृथ्वीराज चौहान ने विक्रमाब्द १२३६ अथवा ११८२–८३ ई० में बुन्देलखण्ड को ध्वस्त किया था।

(२५) महोबा शिलालेख[113] – यह लेख किले को अन्दर की दीवार में उल्टे लगे हुए पत्थर में प्राप्त हुआ था। यह सिरे के दोनों ओर टूटा हुआ है। मूल लेख में १६ पंक्तियां थीं, किन्तु यह बहुत ही क्षत–विक्षत है। इसमें सुहिल के द्वारा निर्माण करवाये हुए मन्दिर का उल्लेख हैं इसका निर्माण विक्रमाब्द १२४० अथवा सन् ११८४ ई० में देवराज ने किया था।

(२६) बघरी अथवा बटेश्वर शिलालेख[114] – यह लेख मथुरा के निकट सिंघनपुर बघरी में प्राप्त हुआ था। इसमें २४ पंक्तियां हैं और इसका प्रारम्भ "नमो भगवते वासुदेवाय" से होता हैं इसमें परमर्दिदेव तथा उसके मन्त्री पुरुषोत्तम का वंश–परिचय है। इसमें सलक्षण वर्मन द्वारा निर्मित विष्णु तथा शिव के मन्दिरों का उल्लेख है। विष्णु मन्दिर अपूर्ण रह गया था, जिसे पुरुषोत्तम ने पूरा करवाया।

(२७) कलिंजर शिलालेख[115] – यह कलिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर की एक विशाल कृष्ण शिला में उत्कीर्ण है। इसमें ३२ पंक्तियां हैं और इसका प्रारम्भ "ओम् नमः शिवाय" से होता है। इस लेख के पूर्वार्द्ध में शिव–पार्वती की सुन्दर स्तुति है, फिर परमर्दिदेव की प्रशंसा है और अंत में यह उल्लेख है कि परमर्दिदेव ने भगवान् मुरारि की स्तुति स्वयं लिखी थी। इसे विक्रमाब्द १२५६ अथवा सन् १२०१ ई० में पद्म तथा उसके अनुज देवकी ने लिखा तथा उत्कीर्ण किया।

(२८) गर्रा दानलेख[116] – ये दानलेख छतरपुर से दक्षिणपूर्व गर्रा नामक ग्राम में एक तालाब के समीप प्राप्त हुए हैं। प्रथम ताम्रलेख में केवल एक ओर १६ पंक्तियां उत्कीर्ण हैं। इस ताम्रपत्र के ऊपरी भाग में एक गोल छिद्र है और इसके नीचे भगवती लक्ष्मी की चतुर्भुजी मूर्ति है। इस मूर्ति के दोनों हाथों में कमल है। यह लेख ओम् स्वस्ति से

प्रारम्भ होता है और इसमं कठौहा ग्राम के दान का उल्लेख है, जो रावत सामन्त को दिया गया था।

(२६) रीवां–दानलेख[११७] – यह दानलेख अन्य तीन दानलेखों के साथ रीवां में प्राप्त हुआ था। यह "ओम् सिद्धः" से प्रारम्भ होता है और फिर इसमें भगवान ब्रह्म पुरुषोत्तम (विष्णु) और त्र्यम्बक (शिव) की स्तुति है। इस लेख में ककरेडी के महाराणक कुमारपाल द्वारा ६ ब्राह्मणों को रेही ग्रामदान का उल्लेख है। यह लेख विक्रमाब्द १२६७ अथवा सन् १२४० ई० में उत्कीर्ण हुआ था।

(३०) अजयगढ़ शिलालेख[११८] – यह शिलालेख जनरल कर्निंघम को अजयगढ़ में प्राप्त हुआ था और एक शिला में उत्कीर्ण है। इसमें पहले गंगा की स्तुति है, तत्पश्चात् वीरवर्मन की महारानी कल्याण देवी का वंश–परिचय है। इस लेख का मुख्य उद्‌देश्य रानी द्वारा नन्दिपुर के एक कूप मन्दिर तथा तड़ाग के निर्माण का अंकन मात्र था।

(३१) अजयगढ़ पाषाण लेख[११९] – यह लेख अजयगढ़ के एक मन्दिर की दीवाल में उत्कीर्ण है और इसमें केवल तीन पंक्तियां हैं। इसमें विक्रमाब्द १३२५ अथवा सन् १२६८ ई० में भोज वर्मन के राज्यकाल में अभयदेव द्वारा ईश्वर की आराधना का उल्लेख है।

(३२) अजयगढ़ शिलालेख[१२०] – गणेश प्रतिमा के निकट एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसमें २१ पंक्तियां हैं। इसमें वीरवर्मन के मंत्री गणपति द्वारा विनायक की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है।

(३३) कालिंजर शिलालेख[१२१] – यह लेख कालिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर के एक पत्थर पर उत्कीर्ण है। इसमें चन्देल–नरेश विजयपाल से वीरवर्मन तक के नरेशों का उल्लेख है। इस लेख का उद्‌देश्य अनेक मन्दिर, उद्यान, तड़ाग आदि के निर्माण का उल्लेख करना मात्र था।

(३४) अजयगढ़ शिलालेख[१२२] – यह अजयगढ़ दुर्ग के तरोहिनी अथवा तिरहावां फाटक के निकट एक शिला में उत्कीर्ण है। इसमें १६ पंक्तियां हैं। इसमें शिव की स्तुति है।

इस लेख का उद्देश्य सुभट द्वारा निर्मित मन्दिर का उल्लेख मात्र था। यह लेख एकाएक बीच में ही समाप्त हो जाता है।

(३५) तृतीय अजयगढ़ लेख[१२३] – यह अजयगढ़ दुर्ग की महिला मूर्ति के निकट है। इसमें ११ पंक्तियां हैं।

जैनों का अभ्युदय तथा उत्कर्ष मन्दिरों तथा मूर्तियों की स्थापना तक ही सीमित न था। ये मन्दिरों को दान देते थे और अपने धर्मोपदेशकों का उचित सम्मान करते थे। विक्रमाब्द १०११ अथवा सन् ९५४ ई० के खजुराहो जैन मन्दिर लेख में जैन भक्त पहिल के उपहारों का उल्लेख है। उसने जिननाथ मन्दिर[१२४] को अनेक उद्यान दान दिये थे।

खजुराहो में प्राप्त ३ अन्य शिलालेखों[१२५] में से दो में गहपति वंशीय जैन भक्त श्रेष्ठिन् पाणिधर का उल्लेख हैं तीसरे शिलालेख में विक्रमाब्द १२१६ अथवा सन् ११५८ ई० में साधु द्वारा प्रदत्त जैन–मूर्ति का निर्देश हैं पपौरा के जैन मन्दिर में विक्रमाब्द १२०२ अर्थात ११४५ ई० से विक्रमाब्द १९०३ अथवा सन् १८४६ ई० पर्यन्त यात्रियों के लेख उपलब्ध हैं। इन लेखों से बुन्देलखण्ड में जैन पूजा के प्रचार का बोध होता है।[१२६] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पपौरा जैनियों का मुख्य तीर्थस्थान था, जहाँ हर युग में अनेक जैन यात्री अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। बुन्देलखण्ड के अन्य जैनी तीर्थस्थान सोनागिरि (अथवा सुवर्णगिरि), नयनागिरि तथा द्रोणगिरि में थे और उनका सम्मान आज भी हैं दूर–दूर से सहस्रों यात्री प्रतिवर्ष वहां जाते हैं। महोबा जैन लेख में विक्रमाब्द १२२० अथवा सन् ११६३ ई० में रत्नपाल प्रदत्त अजितनाथ मूर्ति का वर्णन है।[१२७] हार्निमैन जैन–शिलालेख[१२८] में नेमिनाथ की कृष्णमूर्ति का उल्लेख है।

लोगों को यह अनुभव हो चुका था कि ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन–धर्म तथा अनेक सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद न था। विक्रमाब्द १०५८ अथवा सन् १००१ ई० के कोकल्ल के खजुराहों शिलालेख से इस मत की पुष्टि भी होती है।[१२९] इसके अतिरिक्त विभिन्न चन्देल शिलालेखों के प्रारम्भ में शिव, विष्णु, रामचन्द्र, गणेश आदि देवताओं की

स्तुति है, जिससे विभिन्न सम्प्रदायों की एकता का बोध होता है।[१३०] उस युग में मन्दिर संपत्ति के केन्द्र माने जाते थे।

भारतीय नरेश, सामन्त तथा धनी उपासक अपने धन कोष तथा मणियों की वृद्धि करते थे और समय–समय पर उसे मूर्तियों के उपहार के रूप में भेजते थे, जिससे वे उन्हें अपने सत्कर्मों का फल तथा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करावें। विक्रमाब्द ११७३ अथवा सन् १११६ ई० के खजुराहों के धंगदेव के लेख में विश्वनाथ मन्दिर के मरकत मणि निर्मित शिव लिंगम तथा प्रभूत धन के दान का उल्लेख है।[१३१] ऐसे विशाल मन्दिरों के रक्षार्थ द्वारपाल नियुक्त किए जाते थे। कालिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर के स्तम्भ लेख में महाप्रतिहार संग्रामसिंह का निर्देश है।[१३२] कनिंघम की धारणा है कि उसकी नियुक्ति इस नीलकण्ठ मन्दिर के रक्षार्थ की गई थी।

मन्दिरों की यह अतुल धनराशि मन्दिरों के प्रबन्ध तथा नैवेद्य आदि में व्यय होती थी। संपत्तिशाली मन्दिरों में गायिकायें व नर्तकियां होती थीं, जो देवमूर्ति के समक्ष अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। इस सम्बन्ध में कालिंजर शिलालेख में वर्णित मुख्य नर्तकी पद्यमावती का उल्लेख है।[१३३]

मन्दिरों के पूजन का कार्य साधारणतः विद्वान् एवं आचरणशील ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित हुआ था। शिलालेखों में मन्दिरों के निकट देवमूर्ति की रक्षा तथा पूजा के हेतु ब्राह्मण परिवारों के निवास स्थान का निर्देश हैं ऐसे निवास स्थानों का उल्लेख धंगदेव तथा कोकल्ल के खजुराहों शिलालेखों में मिलता है। लेख में यह वर्णन है कि धंगदेव ने खजुराहों के भरकतेश्वर महादेव का निर्माण किया और साथ ही धर्मात्मा ब्राह्मणों को निवास स्थान बनवाए तथा उन्हें भूमि, धन–धान्य तथा गायें दान में दीं।[१३४]

चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिरों[१३५] में उच्च शिक्षा की व्यवस्था रहती थी। मन्दिरों के विशाल मण्डप का प्रयोग पाठशालाओं के लिए किया जाता था।[१३६] वाजसनेयी और छान्दोग्य शाखा के ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिए चन्देल राजाओं ने अनेक शैव व वैष्णव मन्दिरों का निर्माण कराया।[१३७] चन्देलों के शासनकाल में वैदिक

अध्ययन को राज्य की ओर विशेष प्रोत्साहन मिलता था।[१३८] मुहम्मद गोरी ने अजमेर के मन्दिरों को नष्ट करवा कर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करवाया।[१३९] जिनमें शिक्षण की व्यवस्था थी।

नौवीं शताब्दी में कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा ने उस वैष्णव मन्दिर में जिसकी उसने स्थापना की थी व्याकरण की शिक्षा देने के लिए एक प्रसिद्ध विद्वान की नियुक्ति की। उसके बाद दसवीं शताब्दी में राजा यशस्कर ने आर्य देश के विद्यार्थियों के लिए एक मठ स्थापित किया। ग्यारहवीं शती ई० में कश्मीर के मठ शिक्षा के इतने प्रसिद्ध केन्द्र हो गए कि गौड़ देश तक के विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त करने यहाँ आते थे।

१११५ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश के क्षेत्र में राजमाता अल्हणदेवी ने एक मठ और शिक्षा प्रसार के लिए एक बड़ा भवन बनवाया था।[१४०] दक्षिणापथ में अनेक दानी व्यक्तियों ने शिक्षा की उन्नति के लिए भूमि दान में दी। विक्रमादित्य षष्ठ के समय में एक ब्राह्मण ने १०४ महाजनों को अपनी दान में दी हुई भूमि का न्यासी (ट्रस्टी) नियुक्त किया।

विक्रमादित्य षष्ठ को महारानी ने एक गांव महाजनों को न्याय के रूप में दिया था। इस गांव की आय से वे शास्त्रों के एक टीकाकार, एक पुराणों के पाठक और ऋग्वेद और यजुर्वेद के अध्यापकों का व्यय चलाते थे।[१४१] विक्रमादित्य षष्ठ के धर्म संबंधी मामलों के अध्यक्ष ने पूर्व–मीमांसा की शिक्षा के लिए एक सभा–भवन[१४२] एक मन्दिर में एक शैव मठ और एक दानशाला का निर्माण कराया था। यादव राजा सिंघण के राज्यकाल में ज्योतिष के अध्ययन के लिए १२०७ ई० में एक मठ की स्थापना की गई। काकतीय राज्य में एक शैव अध्यापक ने महाविद्यालय सहित एक शैव मन्दिर और शैव साधुओं को भोजन कराने के लिए कुछ भूमि दान में दी। इस महाविद्यालय में तीन अध्यापक ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद पढ़ाते थे और पांच तर्कशास्त्र, साहित्य और आगम (परंपरागत धर्म सिद्धान्त) पढ़ाते थे। इसी प्रकार जो वैद्य, अध्यापकों, विद्यार्थियों और सेवकों की चिकित्सा करते थे उन्हें भी भूमि दान में दी जाती थी।

कांचीपुरम में सिद्धेश्वर मन्दिर के पूर्व में एक महाविद्यालय था। राजेन्द्र चोल प्रथम के एक अभिलेख में इस महाविद्यालय का स्पष्ट उल्लेख है।[१४३] राजराज प्रथम के राज में एक व्यक्ति ने कुछ सुवर्ण मुद्राएं दान में दीं थी। इस दान का उद्देश्य था कि इसके ब्याज से वर्ष में एक निश्चित दिन सामवेद का पाठ करने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा दी जाए।[१४४] राजेन्द्र चोल के समय में छोटी कक्षाओं के ऐसे २७० विद्यार्थियों के भरण–पोषण के लिए जो चारों वेद, कल्प–सूत्र और व्याकरण पढ़ते थे और बड़ी कक्षाओं के ऐसे ७० विद्यार्थियों के लिए जो व्याकरण और मीमांसा पढ़ते थे। ग्राम–सभा ने धान को उपज का कुछ भाग दान में देने का निश्चय किया।[१४५]

राजाधिराज प्रथम के समय में वैदिक साहित्य के बारह और वेदान्त, व्याकरण, रूपावतार, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति और वैखानस स्मृति के सात सिद्धान्तों के लिए ग्राम सभा ने कुछ भूमि खरीद कर दान में दी थी।[१४६] वीर राजेन्द्र ने भी कुछ भूमि एक महाविद्यालय के लिए दान में दी।[१४७] इस महाविद्यालय में भी वे सब विषय पढ़ाए जाते थे जिनका हमने अन्य विद्यालयों के संबंध में उल्लेख किया है। इन विद्यार्थियों को भोजन, चटाइयां और तेल आदि मुफ्त दिया जाता था। सेवकों, रसोइयों, वैद्यों आदि का भी व्यय[१४८] इसी सम्पत्ति की आय से दिया जाता था। इसी प्रकार के अभिलेख विक्रमचोल और राजराज द्वितीय के समय के मिले हैं।[१४९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सातवीं से दसवीं शती ई० तक भारत के प्रत्येक भाग में राजा और प्रजा दोनों ही शिक्षा प्रसार के लिए अनेक शिक्षा–संस्थाओं की स्थापना करते थे और उनको सुचारू रूप से चलाने के लिए पुस्कल धनराशि दान में देते थे। जब उत्तर भारत में महमूद गजनवी के आक्रमण हुए तो उत्तर भारत में शिक्षा केन्द्र नष्ट हो गए किन्तु दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में ये परम्परा बारहवीं शती ई० के अन्त तक चलती रहीं।[१५०] अलबरूनी के वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि महमूद गजनवी के आक्रमणों के कारण अनेक शिक्षा–केन्द्र नष्ट हो गए इसलिए भारतीय ज्ञान–विज्ञान उन्हीं प्रदेशों तक सीमित रह गया जिन पर मुसलमानों का अधिकार नहीं हुआ था।[१५१]

कुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् ११६४ ई० में एक सहस्त्र मन्दिर तुड़वा दिये।[५२] अलाउद्दीन खिलजी ने गर्व के साथ कहा कि उसने केवल बनारस में ही एक सहस्त्र मन्दिरों को नष्ट–भ्रष्ट करा दिया। राजा टोडरमल की सहायता से सन १५८५ ई० में नारायण भट्ट ने विश्वनाथ के मन्दिर को पुनः बनवाया, किन्तु यह मन्दिर भी कालान्तर में ध्वस्त कर दिया गया। विश्वेश्वर–मन्दिर के स्थल पर औरंगजेब ने एक मस्जिद बनवायीं, जो आज भी अव्यवस्थित है। उन्होंने बनारस का नाम मुहम्मदाबाद रख दिया था।

औरंगजेब के समय में बनारस में बीस मन्दिर पाना भी कठिन था। औरंगजेब ने आदेश दे रखा था कि काफिरों के सारे मन्दिर एवं पाठशालाएं नष्ट कर दी जाय और मूर्तिपूजा के आचरण और शिक्षा को कठोरता के साथ बन्द करा दिया जाय।[५३]

जैन धर्म मूलतः अहिंसा, तप, त्याग, ज्ञान एवं वैराग्य प्रधान था, परन्तु युग की मांग के अनुरूप जैन विद्वानों ने न केवल संस्कृत में, अपितु प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी अनेक प्रकार की रचनाओं का सृजन किया। जैनों की साहित्य साधना सर्वप्रथम लोकरूचि की ओर केन्द्रित हुई। अतः उन्होंने प्राकृत–अपभ्रंश के अतिरिक्त अनेक प्रान्तीय भाषाओं, तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, हिन्दी आदि में ग्रन्थों का प्रणयन किया। प्रारम्भिक ब्राह्मण धर्म की लोकप्रियता, प्रभाव एवं जैन धर्म के प्रति उपेक्षा के कारण जैन मुनियों का ध्यान, शास्त्रों, मन्दिरों एवं मूर्तियों के संरक्षण में होने लगा। जैन पुराणों के रचनाकाल के अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस समय आश्रम या गुरूकुल, विहार या मठ में शिक्षा का प्रबन्ध था।[५४]

कल्याण के साधनीय स्थान का बोधक मन्दिर है। संस्कृत के दो शब्द मन्दिर और आत्म सामान्यतः किसी छायावान् वास्तु का बोध कराते हैं किन्तु जैन धर्म में इसे आयतन के नाम से परिभाषित किया गया। जैन धर्मावलम्बी यक्षयानों में ठहरा करते थे। बाद में आयतन शब्द का प्रयोग जिनायतन शब्द के अन्तर्गत होने लगा इसके उपरान्त भी मन्दिर, चैत्य, आलय वसति, वेश्म, विहार, भुवन, प्रासाद, गेह, गृह आदि

शब्दों ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।[१५५] पद्मपुराण में भी एक ही शान्ति जिगलय के लिए शक्ति भवन, शान्तिगेह, शान्त्यालय, शान्तिहर्म्य, शान्तिसद्म आदि का प्रयोग किया गया है।[१५६] महापुराण में जैन मन्दिर के लिए 'सिद्धायान' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[१५७] जैनेतर ग्रन्थ अमरकोष में आयतन और चैत्य शब्दों का एक ही अर्थ बताया गया है।[१५८] जैन आगम ग्रन्थों में २ चैत्य शब्द का प्रयोग देव मन्दिर के लिए हुआ है।[१५९]

जैन पुराणों में चैत्य को चैत्यालय भी कहा गया है।[१६०] वस्तुतः जिनेन्द्रालय का वृहताकार ही चैत्यालय है।[१६१] जैन मन्दिर चैत्यवृक्ष के समीप होने के कारण इन्हें चैत्य भी कहते हैं।[१६२] देवों के समूह को मन्दिर और देवकलिकाओं के समूह को आयतन कहा गया है।[१६३] जैन पुराणों में चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद) शिक्षा (उच्चारण विधि) कल्प व्याकरण, छन्द ज्योतिष, निरुक्ति, इतिहास, पुराण, मीमांसा–न्यायशास्त्र, कामशास्त्र, हस्ति एवं अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, निमित्तशास्त्र, शकुनशास्त्र, तंत्रशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, लक्षणशास्त्र, कलाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा जैन मन्दिरों में होने की बात कही गयी है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में पैतालिस विषय, दण्डिन ने बारह और राजशेखर ने इकहत्तर विषयों का उल्लेख किया है।[१६४]

महापुराण[१६५] और पद्मपुराण[१६६] में जिन प्रतिमा को चैत्य संज्ञा से सम्बोधित किया गया है ; जो कृत्रिम और अकृत्रिम हुआ करती थीं। जैन पुराणों में चैत्य को चैत्यालय भी कहा गया है।[१६७] पद्मपुराण में चैत्यालय को महापवित्र बताया गया है।[१६८] वस्तुतः जिनेन्द्रालय का वृहताकार ही चैत्यालय है।[१६९] महापुराण के वर्णनानुसार जैन मन्दिर चैत्यवृक्ष के समीप होने के कारण इन्हें चैत्य नाम प्रदान किया गया है।[१७०] पद्मपुराण में जिनेन्द्रालय के स्थान पर 'जिनवेश्म' शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[१७१] प्रभाशंकर ओ० सोमसुरा के मतानुसार देवों के समूह को 'मन्दिर' और देवकुलिकाओं के समूह को 'आयतन' कहा गया है। विष्णु, शिव, चण्डी और सूर्य का पंचायतन होता है। इसी प्रकार चौबीस अवतार का विष्णु चतुर्विंशति आयतन हुआ। जैन तीर्थ का चौबीस आयतन का द्वीसप्तायतन हुआ। जैनों में भी इस प्रकार के आयतन होते हैं।[१७२]

पद्मपुराण में प्रत्येक पर्वत, गाँव, पत्तन, महल, नगर, संगम तथा चौराहे पर जैन मन्दिर के निर्माण का उल्लेख उपलब्ध होता है।[१७३] जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जैन मन्दिरों का निर्माण राजाओं एवं सेठों तथा समाज के धनी मानी व्यक्तियों द्वारा कराया जाता है।[१७४] डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के अनुसार ये मन्दिर नगर की शिक्षा–दीक्षा, धर्म–दर्शन, अध्यात्म–चिन्तन, योग एवं वैराग्य के सजीव केन्द्र होते थे।[१७५]

जैन पुराणों के अनुशीलन से जैन मन्दिरों के निर्माण में उपर्युक्त विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार चारों दिशाओं में चार भव्य एवं विशाल जिनालय स्थापित करना चाहिए। इसके मुख्य द्वार के अगल–बगल दो लघुद्वार रखना चाहिए। बड़े द्वार की ऊँचाई–चौड़ाई की दूनी हो। लघुद्वारों की लम्बाई ऊँचाई की दूनी हो और बड़े द्वार की आधी हो। मन्दिर में एक विशाल गर्भगृह होता है। इसकी दीवालों तथा विशाल स्तम्भों पर सूर्य, चन्द्र, उड़ते हुए पक्षी एवं हरिण–हरिणियों के जोड़े निर्मित रहते हैं। गर्भगृह में सुवर्ण एवं रत्न से निर्मित पाँच सौ धनुष ऊँची, एक सौ आठ जिन प्रतिमाएँ रहती हैं। इन प्रतिमाओं के पास चमरधारी नागकुमार, यक्ष–यक्षिणी, सनत्कुमार एवं श्रुत देवी की मूर्तियाँ रहती हैं।[१७६]

आलोचित जैन पुराणों में पर्वत पर मन्दिर–निर्माण की व्यवस्था प्रदत्त है।[१७७] जैन पुराणों से यह भी ज्ञात होता है कि मन्दिर के शिखर बहुत विशाल होते थे, मानों वे स्वर्ग का उन्मीलन करना चाहते हों।[१७८] पद्मपुराण में मन्दिर के बाह्य एवं अन्तःकक्ष (गर्भगृह) का उल्लेख उपलब्ध है। जिनेन्द्र देव आदि के चित्र भित्तियों पर निर्मित होते थे। द्वार अलंकृत होते थे एवं इसके दोनों किनारों पर कलश रहते थे। मन्दिर को सुन्दर ढंग से सुसज्जित किया जाता था।[१७९]

हरिवंश पुराण में यह उल्लेख आया है कि मन्दिर में एक प्रकार (कोट) होता था तथा चारों दिशाओं में एक–एक तोरण द्वार और एक विशाल गोपुर निर्मित होता था। चैत्यालय के आगे विशाल सभामण्डप, उसके सामने प्रेक्षागृह, उसके सम्मुख स्तूप, स्तूपों

के आगे पद्मासित विराजमान प्रतिमाओं से सुशोभित चैत्यवृक्ष होते थे। जिनालय के पूर्व दिशा में एक विशाल सरोवर होता था।[१८०] हरिवंश पुराण के अनुसार जिनालयों में झरोखे, गृहजाली, मोतियों की झालर, रत्न, मूंगा रूपी कमल एवं छोटी–छोटी घण्टियाँ होती थीं।[१८१] पद्म पुराण में भी छोटी–छोटी घण्टियों के लगाने का उल्लेख आया है।[१८२] पद्मपुराण के अनुसार जैन मन्दिर में एक बड़ा स्तूप निर्मित किया जाता था।[१८३] जैनों में दिगम्बर सम्प्रदाय में स्तम्भ की प्रथा है। स्तम्भ को 'माऩक–स्तम्भ' या 'मानव–स्तम्भ' संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं। बौद्धों में भी ऐसे स्तम्भ वर्तमान समय में परिलक्षित होते हैं।[१८४] जैन पुराणों में उपलब्ध उल्लेखों के अनुसार जैन मन्दिरों में वाद्य, गायन एवं नृत्य का कार्यक्रम होता था। वीर–वनितायें, मंगलगान एवं देवांगनाएँ नृत्य करती थीं।[१८५]

पद्म्मपुराण के अनुसार राजगृह को शत्रुओं ने काम मन्दिर तथा विज्ञान के ग्रहण करने में तत्पर मनुष्यों ने विश्वकर्मा का मन्दिर समझा था।[१८६] हरिवंश पुराण में मन्दिरों में छत्र, चमर, भृंगार, कलश, ध्वजा, दर्पण, पंखा और ठौनाइन आठ प्रसिद्ध मंगल द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था।[१८७] जैन पुराणों में आठ[१८८] और दस[१८९] प्रकार के ध्वजाओं का प्रयोग किया गया था। मयूर, हंस, गरुण, माला, सिंह, हॉथी, मगर, कमल, बैल और चक्र से चिन्हित ध्वजाओं का प्रयोग किया जाता था।[१९०]

विद्यागुरु वीरभद्र ने जाबालिपुर में तीर्थकर आदिनाथ का मन्दिर बनवाया जिनमें जैन धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन कराया जाता था। कुमारपाल ने (११४३–११७३ ई०) अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया जिनमें जैन ग्रन्थों की रचना के साथ–साथ अध्ययन का भी कार्य चलता रहता था।[१९१]

उच्च शिक्षा के केन्द्रों के रूप में हिन्दू–देवालयों का विकास १०वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। यह भी सम्भव है कि हिन्दू देवालयों ने यह कार्य कुछ पहिले ही प्रारम्भ कर दिया हो किन्तु इसकी पुष्टि के लिए अभी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

बंबई राज्य के बीजापुर जिले का सालोत्गी नामक गाँव १०वीं और ११वीं शताब्दी में वैदिक–शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यह विद्यापीठ एक विशाल भवन में स्थित था जो त्रयोपुरुष के देवालय से संबद्ध था। उक्त देवालय का निर्माण राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मंत्री नारायण ने करवाया था। विद्यापीठ में विद्यार्थियों के आवास के लिए २७ भवनों की आवश्यकता पड़ती थी। इन छात्रालयों में प्रकाश के निमित्त दीपकों की व्यवस्था के लिए १२ निवर्त्तन भूमि (सम्भवतः ६० एकड़) दान में मिली थी। विद्यार्थियों के लिए भोजन और आवास की व्यवस्था निःशुल्क थी। इस कार्य के लिए ५०० निवर्त्तन भूमि का दान प्राप्त हुआ था। अनुमान है कि इस संस्था की ओर से २०० विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, आवास और शिक्षा दी जाती थी। प्रधान आचार्य के वेतन के निमित्त ५० निवर्त्तन भूमि दी गयी थी।[९२]

आसपास के ग्रामीणों ने प्रत्येक विवाह के अवसर पर ५ रूपया, उपनयन पर ढाई रूपया तथा मुण्डन पर १ रूपया इस विद्यापीठ को देने का निश्चय किया था। इसके अतिरिक्त किसी भी भोज के अवसर पर ग्रामीण अधिक से अधिक संख्या में विद्यार्थियों और अध्यापकों को भोजन कराते थे।[९३]

११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दक्षिणी अरकाट जिले के एन्नारियम् नामक स्थान में स्थित था। यहाँ १६ अध्यापक थे जो पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार अध्यापन करते थे। स्थानीय ग्राम–सभा ने विद्यापीठ को दान में ३०० एकड़ भूमि दी थी। इस प्रकार यह संस्था ३४० विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा, भोजन और आवास प्रदान करती थी। ऋग्वेद और कृष्ण यजुर्वेद में प्रत्येक के ७५, सामवेद के ४०, शुक्ल यजुर्वेद के २०, अथर्ववेद, बौधायन धर्मसूत्र और वेदान्त में प्रत्येक के १०, व्याकरण के २५, मीमांसा के ३५ तथा रूपावतार के ४० विद्यार्थी इन विद्यापीठ में अध्ययन करते थे।

यहाँ ऋग्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के ३, मीमांसा के २ तथा अन्य विषयों में प्रत्येक एक–एक अध्यापक थे। इस प्रकार ३४० विद्यार्थियों पर १६ अध्यापक थे। अर्थात् प्रति अध्यापक सामान्यतया २२ विद्यार्थियों का औसत था। विद्यापीठ की ओर से विद्यार्थियों

को खाद्य सामग्री निःशुल्क वितरित की जाती थी।[१६४] प्रत्येक वैदिक विद्यार्थी को प्रतिदिन १ सेर चावल मिलता था जो उसके लिए पर्याप्त था, उसे प्रति वर्ष डेढ़ मासा सोना भी मिलता था। व्याकरण तथा दर्शन के विद्यार्थियों को इसका दो तिहाई अधिक मिलता था। सामान्यतया प्रत्येक अध्यापक को प्रतिदिन १६ सेर चावल मिलता था। वेदान्त एक कष्टसाध्य विषय माना जाता था। अतः इसके अध्यापक को २५ प्रतिशत अधिक वेतन दिया जाता था।

११वीं शताब्दी में चिंगलपट जिले में तिरिमुक्कुदल नामक स्थान की व्यंकटेश पेरुमल देवालय अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी। इसके तत्वावधान में एक विद्यापीठ, एक विद्यार्थीशाला तथा एक चिकित्सालय चलता था। यहाँ केवल ६० विद्यार्थियों के भोजन और आवास तथा शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था थी। विद्यार्थीशाला के ६० स्थानों में १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पंचरात्र प्रणाली, ३ शैवागम के विद्यार्थियों तथा ७ वानप्रस्थों और सन्यासियों के लिए सुरक्षित थे। प्रति शनिवार को इन्हें स्नान के लिए तेल दिया जाता था।

सम्भवतः विद्यालय की ओर से विद्यार्थियों को चावल या सोना देने का कारण उनके भोजन व वस्त्र की व्यवस्था करना था। अध्यापकों को अधिक चावल की आपूर्ति उनके साथ–साथ उनके परिवार के सदस्यों एवं अतिथियों के भरण–पोषण के लिए की जाती थी। विद्यार्थियों को भोजन तथा उनके शरीर में लगाने हेतु तेल की भी आपूर्ति की जाती थी। तेल आपूर्ति के पीछे धार्मिक कारण भी हो सकते हैं क्योंकि आज भी शनिदेव के प्रकोपों के निवारण हेतु शनिवार को तेल का दान दिया जाता है।

वेदान्त के अध्यापक को प्रतिदिन केवल ३ सेर चावल मिलता था। यहाँ के वैदिक अध्यापकों को उतना ही वेतन मिलता था जितना जड़ी–बूटियाँ जुटाने तथा औषधि बनाने वाले भृत्य को। व्याकरण के अध्यापक को प्रतिदिन आठ सेर चावल मिलता था।[१६५]

पाणिनी की स्मृति में व्याकरण–विद्यापीठ के रूप में चिंगलपट जिले के तिरुवोर्रियूर नामक स्थान में १३वीं शताब्दी में था।[१९६] एक स्थानीय शिवालय के बगल में एक विशाल भवन में विद्यापीठ स्थित था। उक्त स्थान में जनश्रुति थी कि महादेव शिव ने उक्त देवालय में प्रकट होकर पाणिनी को व्याकरण के १४ सूत्रों की शिक्षा १४ दिनों में दी थी। इस विद्यापीठ में विद्यालयों के भोजन, वस्त्र के लिए ४०० एकड़ भूमि दान में मिली थी। इस विद्यापीठ में कम से कम ४५० विद्यार्थी अवश्य रहे होंगे। यहाँ अध्यापकों की संख्या सम्भवतः १५ से २० के बीच थी।

१२६८ ई० के मुल्कापुरम् के एक लेख से मलकापुरम् देवालय, विद्यापीठ, विद्यार्थीशाला तथा चिकित्सालय की स्थिति का पता चलता है।[१९७] उक्त विद्यापीठ में ८ अध्यापक थे जिनमें तीन वेदाध्यापन तथा शेष पांच व्याकरण, साहित्य, न्याय और आगमों के थे। चिकित्सालय का प्रधान एक चिकित्सक था। अनुमान है कि मलकापुरम् विद्यापीठ में लगभग १५० विद्यार्थी थे। जिन्हें भोजन, आच्छादन, आवास तथा औषधि निःशुल्क प्राप्त होती थी। यहाँ के प्रत्येक अध्यापक को दान में २ पट्टि भूमि मिली थी। देवालय से लौहकर्मकारों और कष्टकर्मकारों को १ पट्टि भूमि मिलती थी। आचार्य का वेतन १०० निष्क था किन्तु यह रकम कितनी होती थी, नहीं कहा जा सकता।

दक्षिण भारत के देवालयों में मध्यकाल में (६०० से १४०० ई०) ऐसे अनेक विद्यापीठ चलते थे। इस प्रकार धारवाड़ जिले का भुजबलेश्वर मंदिर १०वीं शताब्दी से एक मठ था जिसे विद्यार्थियों को निःशुल्क अध्यापन और भोजन देने के लिए दो सौ एकड़ भूमि दान में मिली थी। कम से कम २०० विद्यार्थी यहाँ अवश्य शिक्षा पाते थे।[१९८] हैदराबाद राज्य में नगइ नामक स्थान पर भी ११वीं शताब्दी में एक संस्कृत विद्यापीठ था जहाँ २०० विद्यार्थियों को वैदिक साहित्य, २०० को स्मृतियों, १०० को महाकाव्य तथा ५० को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। इस संस्था के पुस्तकालय में ६ पुस्तकालयाध्यक्ष थे।[१९९] १०७५ ई० में बीजापुर के एक देवालय को सन्यासियों तथा मीमांसा के आचार्य योगेश्वर पंडित के शिष्यों की शिक्षा–दीक्षा तथा भोजन–आच्छादन के प्रबन्ध के लिये १२०० एकड़ भूमि दान में मिली थी।[२००]

बीजापुर जिले के ही मनगोली नामक स्थान के एक मंदिर में १२वीं शताब्दी के मध्य में एक पंडित व्याकरण की एक पाठशाला चलाते थे जिसमें कौमार व्याकरण का अध्यापन होता था। उन्हें २० एकड़ भूमि दान में प्राप्त थी।[२०१] कर्नाटक में बेलगंवे नामक स्थान के दक्षिणेश्वर मंदिर की ओर से भी एक निःशुल्क विद्यालय चलाया जाता था।[२०२] ११५८ ई० में शिमोगा जिले से तालगुण्ड नामक स्थान के प्राणेश्वर देवालय की ओर से भी एक पाठशाला चलायी जाती थी। जहाँ ४८ विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क भोजन और आवास का प्रबन्ध था। ये विद्यार्थी यहाँ ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, प्रभाकर मीमांसा, वेदान्त, भाषाशास्त्र तथा कन्नड़ का अध्ययन करते थे। छात्रावास की पाठशाला के प्रबन्ध के लिय २ रसोई वाले नियुक्त थे। तन्जोर जिले के पुन्नबयिल नामक स्थान में भी स्थानीय देवालय से संबद्ध एक व्याकरण विद्यालय था जिसे ४०० एकड़ भूमि दान में प्राप्त थी। यहाँ कम से कम ५०० विद्यार्थी अवश्य रहे होंगे।[२०३]

१९१६ ई० के साउथ इण्डियन एपिग्राफी रिपोर्ट संख्या ६०४, ६६७, ६७१ तथा ६९५ में तामिल देश के विभिन्न देवालयों में चलने वाले विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन के लिए दानों का विवरण है।[२०४] प्राचीन भारत में प्रायः सभी मन्दिरों के साथ विद्यालयों की स्थापना की जाती थी। मन्दिरों के पुजारी, पूजा–अर्चन के साथ–साथ विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे।[२०५]

उत्तर भारत के बहुलांश देवालय तथा उनसे सम्बन्धित लेख मुसलिम आक्रमण से नष्ट–भ्रष्ट हो चुके हैं। औरंगजेब ने हिन्दू मंदिरों को इसलिए भी नष्ट–भ्रष्ट करा दिया था कि क्योंकि उसे सूचना मिली थी कि सिन्ध, मुलतान और काशी के ब्राह्मण मंदिरों में पाठशालाएँ चलाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत के देवालय भी शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे।[२०६]

उड़ीसा में अग्रहार एवं मन्दिर दोनों ऐसे निःशुल्क शिक्षा के केन्द्र थे, जहाँ कि ललितकलाओं की शिक्षा दी जाती थी।[२०७] गंग नरेश नरसिंह तृतीय के राज्यकाल में नारायण सेनापति द्वारा सिंहाचल मन्दिर में पुराण, काव्य, नाटक, व्याकरण अभिधान

और छन्द की शिक्षा देने के लिए दो ब्राह्मण आचार्यों तथा मन्दिर से संलग्न दर्शन और व्याकरण के विद्यालय में चार विद्वानों की व्यवस्था करने का विवरण प्राप्त होता है।[२०८] मन्दिरों में संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी।[२०९] शिल्पप्रकाश में मन्दिर के गवाक्ष–माण्डना पर शिक्षा–दान दृश्यों के उत्कीर्ण करने का निर्देश है।[२१०]

भुवनेश्वर में गवाक्ष–माण्डना पर शिक्षादान का एक उत्कीर्णन ब्रह्मेश्वर मन्दिर पर मिलता है। इतना ही नहीं भुवनेश्वर के अन्य मन्दिरों पर शिक्षादान के दृश्य दाभाग (लिंगराज मन्दिर, गर्भगृह, पाभाग) जघां (लिंगराज मन्दिर, गर्भगृह, उत्तर पश्चिमी जघां) और गण्डि (लिंगराज मन्दिर, जगमोहन, दक्षिण शिक्षर, वज्रमस्तक के आधार) पर मिलते हैं।[२११] उड़ीसा के ही कोणार्क के सूर्य मन्दिर और पुरी के सिद्ध महावीर मन्दिर पर शिक्षादान के दृश्यों का उत्कीर्णन हुआ है।[२१२] इनके अतिरिक्त मुखलिंगम के सोमेश्वर मन्दिर तथा बुधापाड़ा के मन्दिर पर भी शिक्षादान के दृश्य का चित्रण किया गया है।[२१३]

यद्यपि भुवनेश्वर में शिक्षा से सम्बन्धित दृश्यों के चित्रांकन मुक्तेश्वर मन्दिर से ही सुलभ होने लगते हैं। किन्तु शिक्षादान के दृश्यों का सर्वाधिक अंकन ब्रह्मेश्वर तथा लिंगराज मन्दिरों पर ही प्राप्त होता है। शिक्षादान के दृश्यों से युक्त फलकों के नीचे सरस्वती अथवा गणेश की प्रतिमायें उत्कीर्ण की गयी है जो सरस्वती एवं गणेश के ज्ञान एवं बुद्धि से सम्बन्धित होने के साथ–साथ विद्या प्राप्ति में इनकी आराधना के भाव को उजागर करती है। भुवनेश्वर के मन्दिरों पर उत्कीर्ण स्त्री आचार्यों के अंकन तत्कालीन स्त्री शिक्षा के महत्व के परिचायक है।

ब्रह्मेश्वर मन्दिर के जगमोहन (दक्षिण) के एक फलक पर अपने बायें हांथ से कुछ लिए हुए आचार्या भूमि पर बिछे आसन पर मसनद की टेक लगाकर बैठी है। उनका दाहिना हांथ वक्षस्थल के समीप है। उनके समक्ष एक स्थूलकाम आकृति बैठी है और समीप ही तीन स्त्री आकृतियाँ, एक पंखा झेलते हुए तथा दो अपने हांथों में कुछ लिए हुए खड़ी है। द्वार पर भी एक स्त्री को खड़े दर्शाया गया है। द्वार के बाहर दो पुरुष आकृतियाँ एक खड़ी व दूसरी बैठी दर्शायी गयी है।[२१४] आचार्या द्वारा शिक्षादान का

दूसरा चित्रांकन लिंगराज मन्दिर (गर्भगृह, पश्चिम, तलजघां) के एक फलक पर उत्कीर्ण है। चन्दोबा बंधे आसन पर विराजमान आचार्या मसनद की टेक लगाये बैठी हैं। उनके पीछे तीन चामरधार्णिणी और सामने आभूषणयुक्त स्त्रियाँ उपस्थित है। फलक के नीचे के भाग में तीन स्त्रियाँ खड़ी हैं जिनमें से एक के हाँथ में चामर है। उक्त मन्दिर के एक दृश्य में चौकी के समान आसन पर मसनद की टेक लगाकर एक आचार्या बैठी है। आचार्या के पीछे एक चामर धार्मिणी तथा दो स्त्रियाँ खड़ी हैं तथा एक स्त्री बैठी है। लिंगराज मन्दिर के जगमोहन पर एक स्त्री आचार्या का व्याख्यान सुनने के लिए स्त्रियों के साथ पुरुष आकृतियों का भी प्रदर्शन हुआ है।[२५]

सामान्यतः मन्दिरों में शिक्षादान के चित्रित दृश्यों में आचार्यों को व्याख्यान की मुद्रा में बैठे और उनके सम्मुख नमस्कार मुद्रा में बैठे हुए अथवा खड़े सामान्य स्त्री–पुरुषों अथवा शिष्यों की आकृतियाँ दर्शायी गयी हैं। ऐसे दृश्यों में शास्त्र शिक्षा के अतिरिक्त अस्त्र–शास्त्र शिक्षा, ललितकलाओं की शिक्षा, संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य की शिक्षा दर्शायी गयी हैं भुवनेश्वर के साथ ही कोणार्क तथा मोढेरा में भी ऐसे चित्रांकन देखने को मिलते हैं। खजुराहों के लक्ष्मण एवं कन्दरिया महादेव मन्दिरों पर आचार्य के समक्ष तख्ती पर लिखते बैठे हुए शिष्यगण, पार्श्वनाथ मन्दिर की भित्ति चित्र बनाती, खजुराहों एवं हलेविड़ की नृत्यरत तथा नृत्य की शिक्षा पाती और ह्लेबिड़ की आखेटिका मूर्तियाँ इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

ब्रह्ममेश्वर मन्दिर के जगमोहन के पश्चिमी सारा पर उत्कीर्ण फलक पर जटाजूट, लम्बी डाढ़ी यज्ञोपवीत तथा मेखलाधारी आचार्य एक आसन पर मसनद की टेक लगाये बैठे हैं। आचार्य के सम्मुख पुस्तक पीठिका पर पुस्तक रखी है। पुस्तक पीठिका के सम्मुख तक युवा शिक्षार्थी और उसके पीछे दो बड़े आकार की पुरुष आकृतियाँ बैठी हैं। उसके समीप तीन, लम्बी डाढ़ी व जटाजूट से युक्त पुरुष आकृतियाँ खड़ी हैं। शिक्षा दान का एक अन्य उदाहरण लिंगराज मन्दिर, जगमोहन के पाभाग पर उत्कीर्ण है। प्रस्तुत दृश्य में जटाजूटधारी एक आचार्य के सम्मुख पुस्तक–पीठिका रखी है जिसके सुम्ख दो पुरुष बैठे हैं। आचार्य के पीछे दो बैठी, दो

खड़ी तथा सामने की ओर तीन जटाजूटधारी खड़े सन्यासियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। लिंगराज मन्दिर के गर्भगृह की बाड पर उत्कीर्ण शिक्षा दान के एक अन्य दृश्य में एक कृशकाय मुण्डित मस्तक, किन्तु शिखरधारी आचार्य को चन्दोवा युक्त ऊँचे आसन पर आसीन दिखाया गया हैं आचार्य के सम्मुख पांच जटाजूट तथा कौपीन धारी सन्यासी खड़े हैं। जिनमें से चार ऊँची पीठिका पर रखी पाण्डुलिपि पद ने अथवा श्रवण करने में तल्लीन है।[२१६]

ब्रह्ममेश्वर मन्दिर के जगमोहन के उत्तरी राहा पर अंकित शिक्षा दान के दृश्य में एक चन्दोवा के नीचे सामान्य आसन पर मसनद की टेक लगाकर आचार्य बैठे हैं। आचार्य के पीछे की ओर एक चामर धारिणी आकृति और सामने दो व्यक्ति बैठे हैं जो आचार्य से विचार–विमर्श कर रहे हैं। लिंगराज मन्दिर के जगमोहन की गण्डि पर उत्कीर्ण फलक में एक बड़े चन्दोवे के नीचे सामान्य आसन पर बैठे आचार्य उनके शिष्यों का चित्रांकन हैं आचार्य के पीछे एक चामरधारिणी और सम्मुख तीन बैठी तथा चार खड़ी पुरुष आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।[२१७]

गौतम बुद्ध के समय से ही बौद्ध दर्शन और धर्म के अध्ययन तथा अध्यापन के लिए भारत के प्रत्येक भाग में असंख्य विहार बने। विहारों में बौद्ध दर्शन और धर्म के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों के दर्शन व धर्म के शिक्षण का प्रबन्ध था इसके अतिरिक्त लौकिक उपयोगिता के अनेक विषयों के अध्ययन की भी यहाँ व्यवस्था थी। ह्वेनसांग के अनुसार भारत में ७वीं शती में लगभग ५००० विहार थे। जिनमें २ लाख से अधिक भिक्षु शिक्षा प्राप्त करते थे। विहारों में भिक्षु आजीवन रहते थे और अध्ययन–अध्यापन तथा चिन्तन व समाधि में अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करते थे।[२१८]

११वीं शती में हैदराबाद राज्य के नगई नगर में स्थित विद्यामन्दिर में वेद पढ़ने वाले २००, स्मृति पढ़ने वाले २००, पुराण पढ़ने वाले १०० तथा दर्शन पढ़ने वाले ५२ विद्यार्थी थे। यहाँ ६ पुस्तकालय अध्यक्ष थे। १०७५ ई० में बीजापुर के एक मन्दिर में योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा दर्शन की उच्च शिक्षा दिया करते थे। ऐसे ही अनेक

विद्यामन्दिर १०वीं शती से १४वीं शती तक बीजापुर जिले में मनगोली, कर्नाटक जिले में बेलगमवे, शिमोग जिले में तालगुण्ड, तंजोर जिले में पुन्नवयिल आदि स्थानों पर थे।[२१९]

ईश्वी दशवीं शती की एक कलाकृति में तत्कालीन गुरू–शिष्य का वास्तविक चित्रण उपलब्ध है। यह भुवनेश्वर के राजा–रानी मन्दिर का एक शिलापट्ट है। गुरू जी एक ऊँचे दिव्य आसन पर विराजमान हैं। उनका दायाँ हाँथ वेदपाठ की मुद्रा में उठा हुआ हैं उनके दोनों शिष्य हाँथ जोड़े खड़े हैं। उनकी मुद्रा गुरूजी के साथ वेदपाठ करने की हैं एक शिष्य गुरूजी के बायें पैर के समीप खड़ा है उसके हाँथ में पुस्तक है, ग्रन्थ ताड़–पत्र प्रतीत होता है। चौथा शिष्य आसन्दी के पीछे खड़ा है उसके हाँथ में दीपक जैसी वस्तु है। नीचे एक दीवट रखी है। यह शिष्य सम्भवतः गुरूजी की आरती कर रहा है। इसकी दीवट गुरूजी के सामने है।

प्राचीन भारत में राजाओं के प्रति सम्मान का यह अच्छा उदाहरण हैं उक्त शिलापट्ट में चारों शिष्यों की वेशभूषा विशेष प्रकार की है। चारों के छोटी–छोटी दाढ़ी है जो बीस वर्ष से कम आयु के लगते हैं। उनके सिर पर बाल अच्छी तरह बंधे हुए हैं। दो शिष्यों ने केशों की जटा–जूट बना लिया है और चारों लंगोटा पहने हुए हैं जिनमें से मात्र एक जनेऊ भी धारण किए हुए है। शिक्षक धोती पहने हुए हैं।[२२०]

साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त प्राचीनकाल के कुछ ऐसे अवशेष मिले हैं जिनमें गुरूओं व विद्यार्थियों के चित्रण मिलते हैं, मथुरा, अजन्ता, गन्धार, भुवनेश्वर आदि स्थानों की कला में शिक्षण के दृश्य उपलब्ध हैं। मथुरा के एक वेदिका स्तम्भ पर एक अध्यापक द्वारा शिष्यों के व्याख्यान देने का चित्रण मिलता है इसमें गुरू महोदय बायें हाँथ में छत्र लिए खड़े हैं और दायां हाँथ अष्ट उठाकर वह शिष्यों को कुछ समझा रहे हैं। शिष्य लोग नीचे बैठे हुए एकाग्रता से शिक्षक का उपदेश सुन रहे हैं।

मथुरा में ही एक अन्य वेदिका स्तम्भ पर पर्णशाला के बाहर स्थित एक ऋषि दिखाये गये हैं जो अपने पास बैठे हुए पशु–पक्षियों को उपदेश दे रहे हैं। वे दोनों वेदिका–स्तम्भ शुंगकाल (ई० पू० प्रथम शती) के हैं। ईसवी पांचवी शती के अजन्ता के

चित्रों में एक स्थान पर बालकों को पढ़ाते हुए गुरूजी दिखाये गये हैं। अध्यापक महोदय ऊँची चौकी पर विराजमान हैं, उनके हाँथ में एक दण्ड है। विद्यार्थी हाँथों में पट्टी लिए हुए नीचे बैठे हैं।

शिप्रा नदी के तट पर बसी सम्राट विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयनी, जहाँ महाकाल ज्योर्तिलिंग, हरिसिद्धि शक्तिपीठ कुम्भ मेला आदि प्रसिद्ध है, यह शैव, शाक्त एवं वैष्णव जनों का स्थल होने के साथ–साथ भगवान श्री कृष्ण की शिक्षा स्थली के रूप में भी प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण के गुरूदेव संदीपानि का आश्रम यहीं स्थित था। श्री कृष्ण की बुआ यहाँ के राजा जयत्सेन को व्याही थीं। सम्भवतः उन्होंने यहाँ 'संदीपनि विद्यापीठ' की स्थापना की होगी। यहाँ श्री कृष्ण के अतिरिक्त, बलराम, सुदामा, प्रदुम्न, अनिरूद्ध, वज्रनाथ आदि ने शिक्षा प्राप्त किया था। श्री कृष्ण ने यहाँ सांगवेद, उपनिषद, राजनीति, अर्थनीति, शास्त्रविद्या, अश्वविद्या, गजविद्या, आयुर्वेद, गान्धर्वविद्या के साथ ६४ कलाओं का अध्ययन किया।[२२१]

८वीं शताब्दी में 'दशकुमार चरित' में राजकुमारी कन्दुकावती के नृत्य का विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में वर्णन है।[२२२] डा० पी० सी० राय ने लिखा है कि ११वीं शताब्दी तक मठों से सम्बन्धित अनेक विद्यालय तन्त्र अध्ययन के उसी प्रकार केन्द्र बन गये, जैसे प्राचीन मिश्र में पिरामिड से सम्बन्धित मन्दिर थे।[२२३]

प्राचीन भारत में एक अध्यापक के पास प्रायः १५ से अधिक विद्यार्थी एक साथ नहीं पढ़ते थे। जिन अध्यापकों के घरों में स्थान की कमी होती थी वे अपने छात्रों को लेकर आस–पास के मन्दिरों में चले जाते थे।[२२४]

प्रागैतिहासिक काल में १००० ई० पूर्व तक साहित्य–व्यवसाय सभी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही थी। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में शिक्षा के क्षेत्र में एकाधिकार ब्राह्मणों का ही रहा। इसी काल के आस–पास बौद्ध विहारों में सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं का जन्म हुआ और इसी का अनुसरण करते हुए हिन्दुओं ने भी अपने मन्दिरों में पाठशालाएँ खोलकर शिक्षण कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस काल में छात्रों को

आध्यात्मिक अभ्यासों के अतिरिक्त धार्मिक ग्रन्थों का भी अध्ययन कराया जाता था। उन्हें पालि, संस्कृत, न्याय, दर्शन आदि का ज्ञान कराया जाता अथवा समझाया जाता था। बौद्ध विहार भी हिन्दू गुरूकुलों के प्रतिरूप थे क्योंकि वहाँ भी एक ही गुरू सारे विहार का प्रधान हुआ करता था।[२२५]

आरम्भ में विहारों में भिक्षु–भिक्षुणियों को ही शिक्षा दी जाती थी किन्तु शीघ्र ही इनके द्वार आम लोगों के लिए भी खोल दिये गये। धर्म प्रचार की दृष्टि से यह कार्य अत्यधिक लाभदायी सिद्ध हुआ क्योंकि युवकों के सीधे–सादे मस्तिष्क पर शिक्षा व्यवस्था के द्वारा, धर्म की छाप छोड़ना अपेक्षाकृत आसान होता है। मन्दिरों में खोले गये विद्यालय बौद्ध विश्वविद्यालयों की प्रतिक्रिया में ही स्थापित किये गये। मध्यकाल में विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों के मठों ने भी यह परम्परा कायम रखी।[२२६]

शंकराचार्य वेदान्त दर्शन के प्रतिपादक कहे जाते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार शिक्षा का एकमात्र उद्‌देश्य बालक को अज्ञान से मुक्त करके, सत्यज्ञान का आलोक कराना। शंकराचार्य ने समाज के शिक्षार्थ चार मठों की स्थापना की। इन मठों के माध्यम से सम्पूर्ण देश में वेदान्त की शिक्षा का प्रचार–प्रसार किया। वैदिक वांङमय में चारों वेदों की चार दिशाएँ निश्चित हैं। ऋग्वेद का सम्बन्ध पूर्व दिशा से, यजुर्वेद का सम्बन्ध दक्षिण दिशा से, सामवेद का सम्बन्ध पश्चिम दिशा से तथा अथर्ववेद का सम्बन्ध, उत्तर दिशा से है। शंकराचार्य ने इसी के अनुसार चार मठों की स्थापना की, जिनमें से प्रत्येक मठ का एक वेद, एक महावाक्य तथा एक मठाधीश नियुक्त किया। इसका विवरण आचार्य ने महाम्नाय नामक ग्रन्थ में दिया है।[२२७]

आचार्य द्वारा स्थापित मठ, ज्योर्तिमठ अर्थात बदरी नारायण मठ के प्रथम आचार्य 'तोरक' थे। इसका वेद अथर्ववेद है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। अयमात्मा ब्रह्म का प्रचार–प्रसार कर समाज को दीक्षित करने का दायित्व इस मठ को दिया गया। दक्षिण में रामेश्वर क्षेत्र में स्थापित श्रृंगेरी मठ का वेद यजुर्वेद है। इसके प्रथम आचार्य सुरेश्वराचार्य थे। यह मठ प्रत्येक व्यक्ति एवं ब्रह्म है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान देने के

लिए निर्धारित किया गया।[२२८] पूर्व क्षेत्र में स्थित गोवर्द्धन मठ के प्रथम आचार्य पद्मपाद थे। ऋग्वेद यहाँ का वेद तथा प्रज्ञान ब्रह्म इसका महावाक्य है। इसका तात्पर्य है – ब्रह्मज्ञान स्वरूप है, उसकी नित्य सत्ता है और वह ज्ञान व चित् के स्वरूप में है।[२२९] पश्चिम दिशा में द्वारिकापुरी के शाखामठ के प्रथम आचार्य हस्तामलक थे। यहाँ का वेद वाक्य सामवेद है। इस मठ का महावाक्य 'तत्वमसि' है इसका अर्थ है 'वह तू ही है' अर्थात् जीव ही ब्रह्म है।[२३०]

रामानुजाचार्य ने वेदान्त दर्शन को अद्वैत के स्थान पर विशिष्टद्वैत का सिद्धान्त दिया। श्री रामानुज से प्रभावित होकर स्वामी रामानन्द ने उत्तर भारत में भक्ति सम्प्रदाय चलाया, जिसमें सन्त कबीर और गोस्वामी तुलसीदास जैसे महान कवि हुए। दार्शनिक दृष्टि से भी रामानुज का महत्व बहुत अधिक है क्योंकि इन्होंने ही शंकर के मायावादी दर्शन के हानिकारक प्रभाव को कम किया।[२३१]

रामानुजाचार्य वैदिक शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे। पाठशाला पद्धति को उन्होंने पुष्ट किया। विभिन्न संस्कृत पाठशालाओं द्वारा ज्ञान के आदान–प्रदान पर उनका बल था। जनसाधारण तक अपने मत के प्रचार–प्रसार हेतु उन्होंने भी मठों की स्थापना की। अपने चौहत्तर शिष्यों को साथ लेकर वैष्णव धर्म की शिक्षा देते हुए रामानुजाचार्य जी ने १०८ स्थानों का भ्रमण किया। उन्होंने तोताद्रि मठ, व्यंकटादि मठ, ब्रह्मतन्त्र परकाल मठ, ऊहौबिल मठ, मुनित्रय मठ, श्रीरंगम मठ, विष्णु कांची मठ आदि महत्वपूर्ण मठों की स्थापना की। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपने प्रिय शिष्य पाराशरभट्ट को अपने श्री रंगम मठ का उत्तराधिकारी नियुक्त किया। श्रीरंगम मठ एवं विष्णुकांची मठ सन्यास आश्रम के मठ हैं। उनके उपदेश 'उपदेश रत्नमाला' के नाम से संग्रहीत व विख्यात हैं।[२३२]

अतः प्राचीन अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि बौद्ध विहारों की भांति मन्दिरों में भी शिक्षण–कार्य की जानकारी प्राप्त होती है। प्रारम्भ में शिक्षा देने का कार्य पुरोहित अपने घरों पर करते थे, किन्तु देवालयों की स्थापना के उपरान्त यह कार्य देवालयों में भी

होने लगा। दक्षिण–भारतीय प्रालेखों से ज्ञात होता है कि वहां के देवालयों में बहुत–सी पाठशालाएँ चलती थीं, जिनका प्रबन्ध ग्राम–सभा की देवालय उप–समिति करती थी। कतिपय पाठशालाओं में चिकित्सालय भी होते थे। मन्दिरों के अन्तर्गत चलने वाले शिक्षण कार्य से सम्बन्धित भवन उसके आस–पास ही होते थे। खुले मौसम में वृक्षों के नीचे भी अध्ययन अध्यापन चलने का उल्लेख मिलता है।

चूँकि, आलोच्यकाल में शिक्षा का धर्म से गहरा सम्बन्ध था और ब्राह्मण समुदाय के लोग पुरोहिती के अतिरिक्त शिक्षण कार्य भी करते थे। अतः शिक्षणकार्य के लिये उनका निवास स्थान भी महत्वपूर्ण रहा। किन्तु कालान्तर में यह कार्य मन्दिरों में भी होने लगा। निःसन्देह इस परम्परा को स्थापित करने में बौद्ध मठों की भूमिका एवं राज्य का सहयोग मुख्य रहा। महायान बौद्धों की भांति ब्राह्मणों ने भी अपने देवालयों में न केवल विभिन्न प्रतिमाएँ स्थापित की बल्कि वहाँ शिक्षण कार्य भी प्रारम्भ किया। इस प्रकार समय–समय पर शिक्षा के प्रतिमान बदलते रहे।

जहाँ तक देवालय शिक्षा की प्राचीनता एवं उसके क्रमिक विकास का प्रश्न है, हिन्दू देवालय विद्यापीठ को व्यवस्थित रूप में स्थापित करने का श्रेय बौद्ध विहारों को जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि बौद्धों के पूर्व इसका अस्तित्व नहीं था। प्राचीन शिक्षा का धर्म से गहरा संबंध होने के कारण विद्वान ब्राह्मण धार्मिक कार्यों के साथ ही साथ शिक्षण कार्य भी करते थे और इसके लिये वे अपने आवास का उपयोग करते थे। लेकिन वे विद्वान ब्राह्मण जिनका आवास मन्दिरों में होता था, वे शिक्षण कार्य के लिए मन्दिर का प्रयोग करते थे और खुले मौसम में वृक्षों के नीचे अध्यापन कार्य करते थे। यह प्रथा कमोवेश हर समय स्थापित रही। लेकिन, इसे सर्वमान्य एवं व्यवस्थित रूप देने में बौद्धों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। कालान्तर में भारत के लगभग सभी बड़े देवालय संस्कृत विद्यापीठ के रूप में स्थापित हुए।

अतः यह स्पष्ट हो चुका है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पूर्णतः धर्म पर आधारित थी और विद्याओं के सर्वोच्च केन्द्र ऋषि–महर्षियों के आश्रम थे। इन आश्रमों में वैदिक

साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विधानों की शिक्षा प्रमुखता से दी जाती थी। आश्रमों से जो आध्यात्मिक ज्योति दिग्दिगन्त में परिव्याप्त होती थी, उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था। आश्रमों की तीर्थरूप में प्रतिष्ठा रामायण और महाभारतकाल से हुई। उसी समय से आश्रमों और तीर्थों के लिए आयतन और पुण्यायतन 'पवित्र करने की शक्ति' रखने वाले स्थान के अर्थ रूप में प्रयुक्त हुए हैं। आश्रमों में यज्ञ–ह्वनादि हुआ करते थे और वहाँ अनेक देवी–देवताओं की प्राण–प्रतिष्ठा की गयी। धीरे–धीरे यज्ञों का स्थान देवपूजा ने ले लिया और समस्त 'पुण्यायनन' मन्दिरों के रूप में प्रतिष्ठित होते गये। इन मन्दिरों में पूजा के साथ–साथ धार्मिक व्याख्यान दिये जाते थे।

बौद्ध विहारों में शिक्षा का प्रचलन प्रारम्भ होने के बाद, मन्दिरों में पठन–पाठन का कार्य व्यापक स्तर पर प्रारम्भ हुआ। पहले बौद्ध विहारों में भिक्षु एवं भिक्षुणियों को ही शिक्षा दी जाती थी किन्तु बाद में जनसाधारण में शिक्षा के साथ–साथ धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु इन्हें शिक्षा के केन्द्रों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। प्राचीन मन्दिरों में शिक्षा के विषय में जानकारी उनमें लगे शिलालेखों से प्राप्त होती है। चोल राजाओं के समय से मन्दिर उस समय के भारतीयों की धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक गतिविधियों की धुरी बन गये। इन मन्दिरों के संचालन हेतु राजाओं, धनियों, व्यापारियों एवं सामान्य लोगों द्वारा भूमिदान, स्वर्णदान, अन्नदान, तथा पुस्तकदान, खुले मन से दिये जाते थे। दान से प्राप्त संसाधनों का उपयोग आचार्यों तथा शिष्यों के निःशुल्क आवास, भोजन तथा पठन–पाठन की अन्य सुविधाओं के लिए किया जाता था।

मन्दिरों में पठन–पाठन अथवा शिक्षादान पुण्य अथवा महादान माना जाता था। जैसा कि यह स्पष्ट है कि मन्दिरों में पूर्ववर्ती आश्रम जीवन का आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था और इन मन्दिरों की रूपरेखा, वातावरण, संचालन आधुनिक मन्दिरों से सर्वथा भिन्न था। यदि मन्दिरों को प्राचीन युग के ऋषियों व महर्षियों का स्मारक कहा जाय तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। ऐसे गौरवशाली शिक्षा केन्द्र सम्पूर्ण भारतवर्ष में

स्थापित थे। किन्तु उनकी संख्या दक्षिण भारत में अधिक रही होगी। यवन आक्रमणकारियों द्वारा उत्तर भारत के मन्दिरों को लूटने व ध्वस्त करने की कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप यहाँ के शिक्षा केन्द्रों का प्रमाण दक्षिण भारत की तुलना में कम देखने को मिलता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि उत्तर भारत में मन्दिरों में शिक्षा कार्य नहीं होता था। दक्षिण भारत में आज भी अनेक मन्दिरों द्वारा या उनके प्रांगण में शिक्षण कार्य का संचालन किया जाता है।

१. यादव, आर०पी० – प्राचीन भारतीय कला, पृष्ठ ७६।
२. अग्निपुराण, पृष्ठ १६–१७।
३. यादव, आर० पी०, प्राचीन भारतीय कला, पृष्ठ ८०।
४. मजुमदार, हिन्दू हिस्ट्री, पृष्ठ ८३१।
५. जफर, एस० एम० – एजुकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, लाहौर १९३६, पृष्ठ २८।
६. भोजप्रबन्ध, ४४, ३४।
७. अथर्ववेद, ६। ६। १७।
८. छान्दोग्योपनिषद्, २। २३।
९. वामनकाणे, पाण्डुरंग, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रथम) पृष्ठ ४–५।
१०. आपस्तम्बगृह्यसूत्र, २०। ११३।
११ . बौधायनगृह्यसूत्र २। २। १३।
१२. शंखायनगृह्यसूत्र, ४। १२ं १५
१३. आपस्तम्बधर्मसूत्र, १। ११। ३०। २८।
१४. मनुस्मृति, २। १७६ ; ४। ३६, ४। १३०, ८। ८।
१५. विष्णुधर्मसूत्र, २३। ३४, ४३। २७, ३। ११७, ६। २८५।
१६. वही, ६६। ७, ३०। १५, ७०। १३, ९१। १०।
१७. पतंजलि महाभाष्य, जिन्द २, पृष्ठ २२२, ३१४, ४२६।
१८. महाभारत, आदिपर्व, ७०। ४६।
१९. वही, अनुशासनपर्व, १०। २०–२१।
२०. वही, आश्वमेधिकपर्व, ७०। १६।
२१. वही, भीष्मपर्व, ११२। ११।
२२. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२८, पृष्ठ १४–२३।
२३. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १९२७, पृष्ठ ८६, १२०।
२४. राजतरंगिणी, ५। २६।
२५. अग्निपुराण, २११। ५७१।
२६. एपिग्राफिका इण्डिका, जिन्द १, पृष्ठ ३३८, एपिग्राफिका कर्नाटिका, जिन्द ६, संख्या ११।
२७. स्कन्दपुराण, दानचन्द्रिका, पृष्ठ १५२।
२८. राजतरंगिणी, ६। ३००।

२६. रामायण, २। ६। ११–३।
३०. वही, २। ३। १८–६।
३१. वही, २। २५। ४।
३२. वही, २। १७।
३३. वही, २। ७१। ४२।
३४. वही, ५। १२। १५।
३५. वही, ५। १५। १६।
३६. कुमारस्वामी, आनन्द, ए हिस्ट्री ऑव इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ७६।
३७. मुखर्जी, राधाकुमुद, एन्शियण्ट इंडियन एजुकेशन, फलक १५, पृष्ठ ३४८।
३८. पुरातत्व विभाग, भारत सरकार, मेमायर, संख्या ५४, फलक ४५।
३६. दास, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३२५।
४०. राजतरंगिणी, १, १२।
४१. यादव, बी० एन० एस०, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृष्ठ ४०३।
४२. चेतना संस्कृति एवं मन्दिर संस्कृति – राष्ट्रीय संगोष्ठी १६६१, ब्रज अकादमी वृन्दावन पृष्ठ २४।
४३. वही, पृष्ठ २५।
४४. तैत्तिरीय संहिता, ५, २, ६–६।
४५. जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १६१६, १६१७,१६१८।
४६. षडविंश ब्राह्मण, १०, ५।
४७. अर्थशास्त्र (शामशास्त्री संहिता, द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ५६।
४८. हुल्स, कार्पस; १, गिरनार शिलालेख, पृष्ठ ७, टिप्पणी ; ७।
४६. महाभाष्य, १, १, ६।
५०. चेतना संस्कृति एवं मन्दिर संस्कृति – राष्ट्रीय संगोष्ठी १६६१, ब्रज अकादमी वृन्दावन पृष्ठ २५–२६।
५१. अभिनव भारती, भाग १, ३३०।
५२. समरांगणसूत्रधार, १, १६६।
५३. स्वतन्त्र कला शास्त्र, पृष्ठ ६२३।
५४. समरांगणसूत्रधार, ८२।
५५. गांगुली, डी०सी०, हिस्ट्री आफ दि परमार डाइनेस्टी, डेका १६३३, पृष्ठ २७५।
५६. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग ८, पृष्ठ ६६–१००।

५७. दक्षिण भारत के मन्दिर – प्रथम संस्करण नेशनल बुक ट्रस्ट ५६२५ पर, १६६६ पृष्ठ ३।
५८. प्राचीन भारतीय कला, १६६५, पृष्ठ ६१–६२।
५६. वही, १६६५, पृष्ठ ६१–६२।
६०. शास्त्री, नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास, नवां संस्करण, २००२, पृष्ठ २७८।
६१. वही, २००२, पृष्ठ २७८।
६२. वही, पृष्ठ २७६।
६३. वही, पृष्ठ २७६।
६४. वही, पृष्ठ, २८०।
६५. वही, पृष्ठ २८०।
६६. शास्त्री, नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास, नवां संस्करण, २००२, पृष्ठ २८०।
६७. वही, पृष्ठ २८१।
६८. वही, २०००, पृष्ठ १४।
६६. पाण्डेय, अयोध्या प्रसाद, चन्देल कालीन बुंदेलखण्ड का इतिहास, हिन्दी साहितय सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण, १६६८, पृष्ठ १८७–१८८।
७०. जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग १८, पृष्ठ ३१३–१७।
७१. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १३४, श्लोक ४२।
७२. वही, पृष्ठ २०६, श्लोक २५–२६।
७३. वही, पृष्ठ १६५, श्लोक ४६–४८।
७४. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग ७, पृष्ठ ४२१।
७५. वही, पृष्ठ ४२५।
७६. वही, पृष्ठ ४२७।
७७. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १४६।
७८. वही, पृष्ठ १४७।
७६. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २, पृष्ठ ४१६–२०।
८०. वही, पृष्ठ ४२२–२३।
८१. वही, पृष्ठ ४२७।
८२. वही, पृष्ठ ४२७।
८३. वही, भाग २१, पृष्ठ ५६।
८४. वही, भाग २, पृष्ठ ४४२।

८५. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २।
८६. मेमायर्स ऑफ आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, संख्या ८, पृष्ठ १।
८७. पाण्डेय, अयोध्या प्रसाद, चन्देल कालीन, बुदेलखण्ड का इतिहास, प्रथम संस्करण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ २३६।
८८. आर्क्योलाजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २, पृष्ठ ४२६ ; भाग २१, पृष्ठ ६५ (एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १२३–१३५)।
८९. आर्क्योलाजिकल सर्वे, रिपोर्टस्, भाग २, पृष्ठ ४२६ ; भाग २१, पृष्ठ ६५।
९०. जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग ५२, पृष्ठ १३५–३६, इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २६, पृष्ठ २०१–२०४।
९१. आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २१, प्लेट १६, एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १४७–५२।
९२. जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, एपिग्राफिका इण्डिका, पृष्ठ १३७–४७।
९३. आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २१, पृष्ठ ३४, प्लेट १० अ।
९४. राय, हेमचन्द्र, डायनोस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, भाग २, पृष्ठ ७०५।
९५. आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २१, पृष्ठ ३४, प्लेट १० ब।
९६. वही, भाग २१, पृष्ठ ३४, प्लेट १० इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १६, पृष्ठ २०२।
९७. वही, भाग २, पृष्ठ ३६, प्लेट १० ई।
९८. वही।
९९. वही।
१००. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १८४८, पृष्ठ १०१–१०२।
१०१. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २१, पृष्ठ ४६।
१०२. वही, पृष्ठ ७३।
१०३. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १५१।
१०४. वही, भाग ४, पृष्ठ ५८।
१०५. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २, पृष्ठ ४४८, संख्या २५।
१०६. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १६५–२०७।
१०७. वही, भाग ४, पृष्ठ १५३–१७०।
१०८. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २१, पृष्ठ ७६।
१०९. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २५, पृष्ठ २०५–२०८।

११०. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १६, पृष्ठ ६–१५।

१११. वही, भाग १०, पृष्ठ ४४–४६।

११२. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग १०, पृष्ठ ६८–६६ ; वही, भाग २१, पृष्ठ १७३–७४।

११३. वही, भाग २१, पृष्ठ ७२।

११४. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ २०७–१४।

११५. जर्नल ऑफ दि एंशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, भाग १८, पृष्ठ ३१३–१७।

११६. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १६, पृष्ठ २७२।

११७. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २१, पृष्ठ ५०, प्लेट १२ डी।

११८. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २१, पृष्ठ ५१, प्लेट १३ ; इपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ ३२५–३०।

११६. वही, भाग २१, पृष्ठ ५१, प्लेट १४, एफ०।

१२०. वही, पृष्ठ ५२, प्लेट १४, जी० ; एपिग्राफिका इण्डिका, भाग ५, परिशिष्ट, पृष्ठ ३४, संख्या २३६।

१२१. वही, भाग २१, पृष्ठ २८–४० ; जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८८४, पृष्ठ ३१६–३२०।

१२२. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ ३३०–३८।

१२३. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २, पृष्ठ ५३।

१२४. इपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १३६।

१२५. मधुकर : १६ मई, सन् १६४२ ई०।

१२६. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २१, पृष्ठ ७४।

१२७. वही।

१२८. जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १८६८, पृष्ठ १०१–१०२।

१२६. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १४७, श्लोक ३।

१३०. वही, भाग १, पृष्ठ १३७, श्लोक १–२।

१३१. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १४५, श्लोक ३२।

१३२. आर्क्योलोजिकल सर्वे रिर्पोट, भाग २१, पृष्ठ ३४।

१३३. वही।

१३४. इपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १४५, श्लोक ५३–५४।

१३५. मित्रा, एस० के०, अर्लीरूलर्स आफ खजुराहो, कलकत्ता १६५८, पृष्ठ १७।

१३६. मिश्र, केशव चन्द, चन्देल और उनका राजत्वकाल, पृष्ठ १७०।
१३७. बोस, एन० एस०, हिस्ट्री आव चन्देलाज, पृष्ठ १५०।
१३८. आर० के० दीक्षित, लैण्ड ग्रान्ट आफ चन्देल किंग्स, जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग २३, पृष्ठ २२८–५०।
१३९. ला, एन० एन प्रमोशन आफ लर्निंग, पृष्ठ १७–१८।
१४०. एपिग्राफिका इण्डिका, २, ७।
१४१. वही, १५, ३५०।
१४२. वही, ५, २२१–२२२।
१४३. एनुअल रिर्पोट ऑफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी, १९३०–३१ का ४०।
१४४. वही, १९१४ का ७६।
१४५. वही, १९१७ का ३३।
१४६. वही, १९१७ का १७६।
१४७. एपिग्राफिका इण्डिका, २१, २३०।
१४८. एनुअल रिर्पोट ऑफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी, १९२५ का १५९।
१४९. वही, १९२५ का २७६।
१५०. देशोपदेश, ७।
१५१. सचाउ का अनुवाद, १, २२।
१५२. इलियट एवं डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द २, पृष्ठ २२२।
१५३. वही, जिल्द ७, पृष्ठ १८४।
१५४. यादव, ब्रज नाथ सिंह, मद्यमपुराण, पृष्ठ ४०३, मिश्र, देवी प्रसाद, जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २३४।
१५५. घोष अमलानन्द, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर (अनु० लक्ष्मी चन्द्र जैन – जैन कला और स्थापत्य) नई दिल्ली, १९७५, पृष्ठ ४६१, ५१५–५१६।
१५६. पद्ममपुराण ७१। ३३–४९।
१५७. महापुराण, ४। ६४।
१५८. अमरकोष, २। २। ७।
१५९. सोमसुरा, प्रभाकर, ओ०, भारतीय संहिता, नई दिल्ली, बम्बई १९७५, पृष्ठ २०६।
१६०. महापुराण, ८। २३५।
१६१. पद्ममपुराण, ७। ३३८, ३३। ३३२।
१६२. महापुराण, ६। ५६।

१६३. महापुराण, ८। २३५ ; मद्यमपुराण ६७। ११।
१६४. यादव, ब्रजनाथ सिंह, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, इलाहाबाद १६७३, पृष्ठ ४००।
१६५. महापुराण ५। १६१।
१६६. पद्मपुराण, ६८। ५६।
१६७. वही, ३। ४५ ; महापुराण ८। २३५।
१६८. वही, ६८। ५८।
१६६. वही ७। ३३८, ३३। ३३२।
१७०. महापुराण ६। ५६।
१७१. पद्मपुराण २८। १००।
१७२. सोमसुरा, प्रभाकर ओ० – भारतीय संहिता, नई दिल्ली, बम्बई १६७५, पृष्ठ २०७।
१७३. पद्यमपुराण ६७। १४–१५।
१७४. महापुराण ८। २३५ ; पद्यपुराण ६७। ११।
१७५. शुक्ल, द्विजेन्द्र नाथ – भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, १६६८, पृष्ठ ६७।
१७६. हरिवंश पुराण ५। ३५४–३६५।
१७७. महापुराण ४८। १०७–१०८ ; हरिवंश पुराण ५। ३५६।
१७८. वही ६। १८२ ; पद्यपुराण ७१। ४७।
१७६. पद्मपुराण ७१। ४३–४८ ; ६५। ३८–४२।
१८०. हरिवंश पुराण ५। ३६७–३७२।
१८१. वही ५। ३६६।
१८२. पद्मपुराण ६५। ४३।
१८३. वही, ४०। २८, ५३। २६४, ६०। २६।
१८४. सोमसुरा, प्रभाकर ओ०, – वही, पृष्ठ २०६।
१८५. महापुराण १६। १६७, ४। ७७ ; हरिवंश पुराण ५। ३६४–३६५।
१८६. पद्मपुराण २। ३६–४१।
१८७. हरिवंश पुराण २। ७२।
१८८. महापुराण २२। २६६ ; हरिवंश पुराण २। ७३।
१८६. वही २२। २१६ ; ५७। ४४।
१६०. हरिवंश पुराण, ५७। ४४ ; महापुराण, २२। २१६।

१९१. दास, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३३६, सिंधी जैन सिरीज भाग ३, पृष्ठ १२।

१९२. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १०१–१०२।

१९३. वही, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १७२।

१९४. ऐनुअल रिर्पोटिंग आफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी १९१८, पृष्ठ १४५ ; लेख संख्या ३३३ सन् १९१७।

१९५. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २१, संख्या २२०।

१९६. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १०४।

१९७. ऐनुअल रिर्पोट्स आफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी, सन् १९१७, पृष्ठ १२२–२४।

१९८. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द ४, पृष्ठ ३५५।

१९९. हैदरावाद आर्क्योलाजिकल सर्वे, सं० ८, पृष्ठ ७।

२००. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, भाग १०, पृष्ठ १२९–३१।

२०१. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द ५, पृष्ठ २२।

२०२. एपिग्राफिका कर्नाटिका, १ संख्या ४५।

२०३. ऐनुअल रिर्पोट्स आफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी, १९१३, पृष्ठ १०९–१०।

२०४. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १०६।

२०५. कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, प्रथम संस्करण, १९९९, पृष्ठ ३६४–३६६।

२०६. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १०७।

२०७. सुब्रह्मण्यम, आर, सूर्यवंशी जगपतीज आफ उड़ीसा, बाल्टेयर, १९५७, पृष्ठ ६७।

२०८. साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, खण्ड ६, स० ६०४।

२०९. वही, खण्ड ६, सं० १०९१।

२१०. शिल्पप्रकाश (रामचन्द्र कौलाचार कृत) अनु० एलिस बोनर एवं सदाशिव रथ शर्मा, लीडन १९६६, १/३७४।

२११. गिरि, कमल चिति वीथिका, जर्नल आफ आर्ट, हिस्ट्री, कल्चर एण्ड लिटरेचर, जिल्द भाग १–२, १/१९९५–९६।

२१२. डोनाल्डसन, टी, ई०, हिन्दू टेम्पुल आर्ट आफ उड़ीसा, खण्ड ३, लीटेन १९८४–८६ चित्र ४२०७–४२०८।

२१३. वही, चित्र ४१९०, ४२००, ४२०१।

२१४. रथ, बी० के०, कल्चरल हिस्ट्री आफ उड़ीसा (ए० डी० ८५५–१११०) नई दिल्ली, १६८३, चित्र ६१।
२१५. गिरि, कमल चिति वीथिका, जर्नल आफ आर्ट, हिस्ट्री, कल्चर एण्ड इलाहाबाद म्यूजियम इलाहाबाद, लिटरेचर, जिल्द १, भाग १–२, १६६५–६६, पृष्ठ १५६–१६१।
२१६. वही, पृष्ठ १६०–१६१।
२१७. चिति वीथिका, जिल्द १, भाग १–२, इलाहाबाद म्यूजियम इलाहाबाद, १६६५–६६, पृष्ठ १६१।
२१८. कल्याण शिक्षांक, पृष्ठ २३५।
२१६. उपाध्याय, रामजी, कल्याण शिक्षांक, १६८८।
२२०. वाजपेई, कृष्ण दत्त, कल्याण शिक्षांक, १६८८, अन्तिम परीक्षा, पृष्ठ २६६–२६७।
२२१. शुक्ल, नाथूशंकर, कल्याण शिक्षांक – संदीपानि के आश्रम में श्री कृष्ण और भक्त सुदामा का विद्याध्ययन, पृष्ठ २७४–२७५।
२२२. दशकुमार चरित, अध्याय ६।
२२३. मजुमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल, पृष्ठ ३४०।
२२४. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, प्रथम संस्करण, १६५५, पृष्ठ ६०।
२२५. वही, पृष्ठ ५६–५७।
२२६. वही, पृष्ठ ५८।
२२७. पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, २००२, पृष्ठ १४६–१६०।
२२८. वृहदारण्यक उपनिषद १।४।१०।
२२६. ऐतरेय उपनिषद, ५।
२३०. छान्दोग्य उपनिषद, ७।८।७।
२३१. पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, २०००, पृष्ठ १७१–१७७।
२३२. कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, प्रथम संस्करण, १६६६, पृष्ठ

चतुर्थ अध्याय

मन्दिरों के अतिरिक्त शिक्षा के केन्द्र

मन्दिरों के अतिरिक्त शिक्षा के केन्द्र

प्रारम्भिक काल में परिवार ही शिक्षा के केन्द्र थे और अभिभावक ही अपने बच्चों के गुरु हुआ करते थे। आचार्य हरिभद्र ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा का अभ्यास अपने कुटुम्ब के साथ रह कर किया था।[1] उस समय शिक्षा व्यक्तिगत रुचि और प्रयासों पर ही आधारित रही। अध्यापक अपने ही अभिमन्त्रणा और उत्तरदायित्वों पर अपने ही घरों पर अध्ययन–अध्यापन का कार्य किया करते थे।[2] अध्यापन का कार्य विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए ही वैधानिक था।[3] डा० नरेन्द्रनाथ ला के अनुसार 'ब्राह्मण केवल धर्म व दर्शन के अध्यापक नहीं थे, वे अर्थशास्त्र, राजनीति एवं शस्त्र–शास्त्र के भी आचार्य होते थे।'[4] ब्राह्मणों के साथ–साथ हिन्दू धर्म के सन्यासियों एवं परिब्राजकों ने भी शिक्षा के प्रचार–प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

बौद्ध भिक्षु–संघ का संगठन आश्रम–व्यवस्था के आदर्शों पर किया गया, अतः बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्र बन गये। भिक्षु–जीवन में ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम का समन्वय होने के कारण विहारों में शिक्षण–कार्य को प्रमुखता मिली। इन विहारों के छात्रों के आदर्शों, गुरू–शिष्य–सम्बन्धों तथा अनुशासन के नियम आदि पर बौद्ध–संघ के प्रसंग में विचार किया गया है।

बुद्ध–काल में राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती तथा कपिलवस्तु आदि नगरों में कई प्रसिद्ध विहारों का निर्माण हुआ जो बौद्ध–शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बन गये। राजगृह में वेणुवन, यष्टिवन तथा सीतवन; वैशाली में कूटागारशाला तथा आम्रवन; कपिलवस्तु में निग्रोधाराम और श्रावस्ती में जेतवन तथा पूर्वाराम इस युग के प्रसिद्ध विहार थे।[5] इनके अतिरिक्त अनेक विहारों का निर्माण हुआ। इन्हें संघाराम कहा जाता था। इन संघारामों में आध्यात्मिक चिंतन होता था। यहाँ के आचार्य अपने शिष्यों को अध्यात्म–ज्ञान के सागर में अवगोहन कराते थे।

बुद्ध के समय के बौद्ध विहारों के भिक्षुओं को सारिपुत्त, महामोग्गलायन, महाकच्चायन, महाकोट्ठित, महाकप्पिन, महाचुन्द, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनन्द तथा राहुल आदि के प्रवचनों को श्रवण करने तथा उनसे वार्तालाप कर अपने को कृतार्थ करने का मौका मिलता रहता था। ये लोग प्रायः भ्रमणशील रहा करते थे और जिस विहार में कुछ समय व्यतीत करने के लिए रुक जाते, वहां के भिक्षुओं को इनसे जटिल विषयों पर विचार–विमर्श कर शंका–समाधान का सुअवसर अनायास ही प्राप्त हो जाता था।[६] इन बौद्ध विहारों में भिक्षुओं को आध्यात्मिक ज्ञान के साथ–साथ लौकिक विषयों तथा शिल्पों की शिक्षा प्रदान करने को भी व्यवस्था की गयी थी।

भिक्षु नये भवनों के निर्माण के निरीक्षण के साथ–साथ पुराने भवनों को मरम्मत के कार्यों की भी देखभाल करता था।[७] भिक्षुओं द्वारा बुनने का काम करने के उल्लेख मिलते हैं।[८] वे अपने पहनने के लिए चादरों की सिलाई भी करते थे।[९] कालान्तर में जब बौद्ध विहारों में उपासकों को शिक्षा दी जाने लगी, तो लौकिक विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया था।

बौद्ध–भिक्षु भी वर्ष के आठ या नौ मास भ्रमण करते हुए बौद्ध–भिक्षु–नीति और दर्शन पर व्याख्यान देते थे और वाद–विवाद करते थे।[१०] व्यक्तिगत ब्राह्मण अध्यापकों का उल्लेख बाण के हर्षचरित में मिलता है।[११] इन ब्राह्मणों के घर विद्यार्थियों के निरन्तर अध्ययन से मुखरित होते रहते थे।[१२] प्रारम्भ में लेखन कला का आविष्कार न होने के कारण शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी।[१३] मौखिक शिक्षा विधि की प्रधानता का उल्लेख अल्बरूनी ने किया है।[१४]

प्राचीनकाल में आज की भांति प्रारम्भिक स्कूलों का कोई उल्लेख नहीं मिलता और न ही उच्च शिक्षा उवं प्रारम्भिक शिक्षा को आपस में अलग करने की विशेष समय सीमा ही निर्धारित थी।[१५] कालान्तर में साहित्यकोश की वृद्धि और लेखन कला के ज्ञान के साथ–साथ अक्षर का भी ज्ञान हुआ।[१६]

साक्षरता के विकास में बौद्ध–विहारों ने अधिक सहयोग दिया। तिब्बत में भी

बौद्ध–विहार प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करते थे।[१७] चीन में भी प्रारम्भिक शिक्षा बौद्ध–मठों में दी जाती थी।[१८] वर्मा में आज भी बौद्ध–विहारों के कारण ही साक्षरता का अधिक प्रचार हो रहा है। अतः हम देखते हैं कि प्रारम्भिक पाठशालाएँ प्रायः मन्दिरों और मठों से ही सम्बन्धित रहा करती थी। इस प्रकार भारत में शिक्षा की संगठित संस्थाओं को जन्म देने का श्रेय बौद्ध धर्म का है। संघों के रूप में बौद्ध विहार पहले से ही निर्मित थे। इनमें जब शिक्षण कार्य होने लगा तो इनका स्वरूप ही बदल गया।

आरम्भ में विहारों में भिक्षु भिक्षुणियों को ही शिक्षा दी जाती थी पर शीघ्र ही अनुभव किया गया कि यदि इन्हें जन–साधारण के लिए खोल दिये जायें तो योग्य भिक्षुओं की भी कमी न रहेगी और धर्म के प्रचार–प्रसार में भी वृद्धि होगी। बौद्ध विहारों के अनुकरण के फलस्वरूप हिन्दू मन्दिरों एवं जैन मठों में भी पाठशालायें खुलने लगीं और इस तरह शिक्षण–संस्थाओं का जाल सा बिछाया। धीरे–धीरे बौद्ध विहारों ने विकास करके विश्वविद्यालयों का रूप प्राप्त कर लिया था। नालन्दा, विक्रमशिला जैसे बौद्ध–विहार विश्वविद्यालय के रूप में विख्यात थे, इनमें उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। इन विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा से प्रभावित होकर मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, कोहिमा, जापान, बर्मा, लंका, चम्पा, कम्बुज, जावा, यूनान, बोर्नियों, मलाया, स्याम आदि देशों के विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करने आते थे।[१९]

अतः इन विश्वविद्यालयों के कारण भारत का एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित हो गया जिसे वृहत्तर भारत कहा जाता है। वस्तुतः यह भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय थी जिसका सम्पूर्ण श्रेय इन विहारों, संघों एवं विश्वविद्यालयों को है जो बौद्ध धर्म के आदर्शों पर स्थापित किये गये थे।

नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों को हम बौद्ध विश्वविद्यालयों का प्रतिनिधि मान सकते हैं। इनका प्रबन्ध आधुनिक विश्वविद्यालयों की भांति ही था। सम्पूर्ण विश्वविद्यालय का अध्यक्ष ख्यातिलब्ध भिक्षु होता था जिसका चुनाव संघ के सदस्य करते थे।

बौद्ध विश्वविद्यालय आज की भांति प्रमाण–पत्र या उपाधियाँ नहीं वितरित करते थे। उच्च कक्षाओं में प्रवेश के लिए कठिन प्रवेश परीक्षा ली जाती थी। इस परीक्षा द्वारा विद्यार्थियों के चरित्र और बुद्धि दोनों की जांच की जाती थी। नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों में दस में से दो या तीन को ही प्रवेश मिल पाता था।[२०] नालन्दा और विक्रमशिला दोनों विद्यापीठों में प्रवेशार्थियों की योग्यता, चरित्र और बुद्धि की परीक्षा के लिए दस आचार्यों की नियुक्ति की गयी थी जिन्हें 'द्वारपाल' कहा जाता था।[२१]

विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता समय–समय पर दिये गये दानों से मिलती थी। राजाओं ने भवनों के निर्माण हेतु दान दिया। अतः हम देखते हैं कि विश्वविद्यालयों के भवन निर्माण की समस्या राजाओं के सहयोग से सहज ही हल हो जाया करती थी। अधिकतर बौद्ध शिक्षा संस्थायें, राजाओं द्वारा संस्थापित तथा सहायता प्राप्त थीं जिनका पुनर्निमाण गुप्त एवं पाल राजाओं ने कराया था। कभी–कभी विदेशी नरेश भी भवन–निर्माण करवा दिया करते थे।

लंका के नरेश ने गया में महाबोधि विहार का निर्माण कराया था।[२२] नालन्दा की शिक्षा–व्यवस्था से प्रभावित होकर जावा और सुमात्रा के शासक बालपुत्रदेव ने भी एक विहार का निर्माण कराया था।[२३] भवन–निर्माण की तरह भूमिदान भी शिक्षण संस्थाओं की आय का एक प्रमुख साधन था। शिक्षकों की सहायता हेतु हर्ष ने ऐसा नियम बनाया था कि भूमि कि आय का १/४ भाग विद्वानों एवं विद्यार्थियों पर व्यय किया जाय।[२४]

बौद्ध–विहारों में भिक्षुओं को उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रत्येक सुविधा प्राप्त थी, इनका व्यय विहार ही वहन करते थे। इन विहारों को राजाओं तथा धनिक वर्ग से पर्याप्त भूमि मिलती थी जिसकी समस्त आय का उपभोग विहार ही करते थे। इस प्रकार के दान को 'विद्या धन' कहा जाता था।[२५] शिक्षण संस्थाओं को दान में ग्राम भी प्राप्त होते थे। नालन्दा ताम्रपत्र में शासकों द्वारा अनेक ऐसे ग्राम दानों का उल्लेख है जिनकी आय से विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र और औषधि की आपूर्ति की जाती थी।[२६]

मनुस्मृति के अनुसार धर्म सम्बन्धी संशय के निराकरण हेतु गठित १ अथवा ३ श्रेष्ठपुरुषों की सभा को परिषद् कहा गया था[२७] और याज्ञवल्क्य[२८] स्मृति के अनुसार परिषद् में ४ श्रेष्ठ पुरुष होते थे।[२९] विज्ञानेश्वर ने इसे परिषद् के स्थान पर धर्म संघ नामकरण किया था।[३०] उनके अनुसार विद्वान ब्राह्मणों की यह सभा ब्राह्मण धर्म तथा शिक्षा सम्बन्धी सभी बातों पर निर्णय देती थी। इसके सदस्य वेद, तर्कशास्त्र, मीमांसा–शास्त्र, निरुक्त तथा ब्रह्मचारी होते थे।[३१]

आश्रम

हरे–भरे वनों में स्थित ऋषियों–मुनियों और तपस्वियों के आश्रम, जिन्हें 'गुरुकुल' की संज्ञा दी जाती थी, प्राचीन भारत में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।[३२] ये आश्रम उच्च दार्शनिक सिद्धान्तों एवं धार्मिक क्रिया–कलापों के शिक्षण का कार्य करते थे।[३३] महाकाव्यों के काल में ऐसे ही अनेकानेक आश्रमों का वर्णन आया है।[३४] गुरुकुल की यह गौरवशाली परम्परा पूर्व मध्यकाल तक भी चलती रही होगी।[३५] पराशर संहिता में देवदारु के वन में व्यास के आश्रम का वर्णन आया है। बाण[३६] ने हषचरित में भैरवाचार्य के आश्रम का वर्णन किया है।[३७] इसी में विन्ध्याचल पर्वत पर स्थित दिवाकर मित्र के आश्रम का भी वर्णन किया गया है।[३८]

दिवाकर मित्र पहले वैदिक, फिर बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया था।[३९] बाण की कादम्बरी में जाबालि आश्रम का वर्णन है।[४०] आश्रम में मुनियों को रहने के लिए पर्णशालाएँ बनाई जाती थीं तथा मुंज, मेखला और वल्कल वस्त्र का निर्माण आश्रम के विद्यार्थी स्वतः करते थे। आश्रम में यज्ञविद्या की व्याख्या, धर्मशास्त्रों की मीमांसा तथा अनेक ग्रन्थों का अध्ययन तथा समस्त शास्त्रों के अर्थो एवं भावों पर विचार किया जाता था।[४१] प्राचीनकाल में (६००–१२०० ई०) में आश्रमों का उल्लेख किया गया है जिसमें रहने वाले साधु–सन्त शिक्षा देने का कार्य किया करते थे।

जयदेव द्वारा संचालित एक आश्रम का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है।[४२] उसने कई सौ विद्यार्थियों को शिक्षित किया था।[४३] आश्रमवास में ऋषि गृहस्थ होते हुए भी

ऐश्वर्य से दूर रहते थे।[८४] विश्वामित्र, वशिष्ठ, मनु, रामचन्द्र, सांदीपनि, श्रीकृष्ण, याज्ञवल्क्य, अत्रि, पुलस्त्य, अंगिरा, पातन्जलि, पाणिनि इसी परम्परा के शिष्य रत्न थे। इस शिक्षा प्रणाली का ब्रह्मचर्य प्राण, धार्मिकता शरीर तथा राष्ट्रीयता सौन्दर्य थी। अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का पर्याय समझा जाने लगा था।[८५]

अरण्य जैसे एकान्त स्थल ब्रह्मर्षियों की साधना–भूमि थे जहाँ विद्यार्थी गुरू की सेवा करते हुए अध्ययनरत रहता था। किन्तु कालान्तर में आकर विशाल और भव्य शिक्षा केन्द्रों का विकास हुआ। ऐसे शिक्षा–केन्द्रों के विकास में सुधी और विद्वान् राजाओं का सहयोग प्रमुख था, जिन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान कर ऐसे शिक्षा–केन्द्रों के उन्नयन में उल्लेखनीय कार्य किया। प्रमुख राजधानियों और बड़े–बड़े नगरों के अतिरिक्त छोटे–छोटे गाँव भी शिक्षा के केन्द्र थे। ऐसे गांव 'अग्रहार' कहे जाते थे, जिनकी व्यवस्था के लए राजा की ओर से कुछ गांव विद्वान् शिक्षक ब्राह्मण को प्रदान कर दिये जाते थे।

गृहस्थ ब्राह्मण के पांच महायज्ञों में ब्रह्म यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान था। इसमें विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रधान था।[८६] बौद्ध विहारों की तरह हिन्दू मंदिर भी शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित हुए। काशी, कांची, कर्नाटक, नासिक जैसे नगर अपने आप विद्या–केन्द्रों के रूप में परिवर्तित होकर विख्यात हुए। तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कन्नौज, धारा, अनहिलपाटन नामक विभिन्न राजधानियाँ भी प्रधान शिक्षा–केन्द्रों के रूप में जानी गई।

रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों से शिक्षा के केन्द्रों का पता चलता है, जहाँ उस युग के विद्यार्थी महान् ऋषियों के सान्निध्य में जाकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रयाग में संगम के तट पर महर्षि भरद्वाज का आश्रम था, जिसके चारों ओर सुन्दर वृक्ष और पुष्प लगे हुए थे। अध्ययन–अध्यापन ओर निवास–आवास के लिए पर्णशालाओं का निर्माण किया गया था। इसी प्रकार का आश्रम चित्रकूट में वाल्मीकि का था, जो मन्दाकिनी नदी के तट पर स्थित था, जहाँ अध्ययन के लिए

छात्र निवास करते थे। वशिष्ठ के आश्रम में भी ज्ञान प्रदान किया जाता था। महर्षि अगस्त्य का आश्रम दंडकारण्य में था, जहाँ उनके समस्त शिष्य यज्ञ और अध्ययन में लगे रहते थे। विद्या और ज्ञान के ऐसे ही मुनियों और ऋषियों के आश्रमों का विवरण महाभारत में भी मिलता है।[४७]

मालिनी नदी के तट पर स्थित ब्रह्मर्षि कण्व का आश्रम था, जो ज्ञान–गरिमा से परिपूर्ण था। मनोरम प्राकृतिक स्थल में स्थित होने के कारण वह आश्रम तपस्वियों और अध्येताओं के आकर्षण का केन्द्र था। वहाँ अनेकानेक विद्याओं तथा विभिन्न दार्शनिक विचारों पर विद्यार्थियों को व्याख्यान दिये जाते थे। इसी तरह का आश्रम महर्षि व्यास का था जो हिमालय पर्वत पर बदरी क्षेत्र में अवस्थित था। उनके निर्देशन में सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि आदि वेद का अध्ययन करते थे।

नैमिषारण्य में महर्षि शौनक का आश्रम था, जहाँ विद्यार्थियों का अध्ययन–काल १२ वर्षो के सत्र का था। वहाँ विभिन्न दर्शनों और विद्या की शिक्षा दी जाती थी। गंगद्वार (हरिद्वार) में ब्रह्मर्षि भरद्वाज का आश्रम था। जहाँ विभिन्न वेद–वेदांगों और शास्त्रों–शस्त्रों का ज्ञान छात्रों को प्रदान किया जाता था। इसी आश्रम में महाराज द्रुपद और द्रोणाचार्य ने साथ–साथ शिक्षा ग्रहण की थी। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम स्थित था जहाँ अन्य विद्याओं के अतिरिक्त युद्ध–कौशल का भी ज्ञान कराया जाता था।[४८]

कई कुटियों वाली तपस्वियों की बस्ती को 'आश्रम–मंडल' या 'तप' कहते थे और बस्ती के पृथक–पृथक निवास 'तापसालय' कहलाते थे। आमंडल का सर्वाधिक पवित्र स्थल 'अग्नि–शरण' या 'अग्निशाला' होती है। अग्निहोत्र और यज्ञ करने के लिए यह एक विस्तृत भवन था, जिसमें एक पूर्वाभिमुख वेदी बनी रहती थी। अतिथियों के लिए पृथक अतिथिशाला थी। देव–पूजा, चैत्य तथा बलि–कर्म के लिए नियत स्थान रहते थे। जहाँ के चौक साफ–सुथरे रखे जाते थे।[४९]

इस प्रकार के आश्रम–मंडल का अधिपति एक वयोवृद्ध मुनि होता था, जिसे

कुलपति कहते थे। वाल्मीकि, अगस्त्य, भरद्वाज आदि उस युग के विख्यात कुलपति थे। उसके आध्यात्मिक नेतृत्व में ऐसे अनेक तपस्विगण आकर निवास करते थे, जो लौकिक प्रलोभनों से मुक्त होने के लिए समाज को छोड़ चुके थे और धार्मिक क्रिया–कलापों में ही जीवन–यापन करते थे।

रामायणकालीन भारत में उत्तर में सरयू के तट से लेकर दक्षिण में गोदावरी तट तक आश्रमों की एक लम्बी श्रृंखला चली गई थी। दंडकारण्य में, नर्मदा और गंगा के किनारे तथा चित्रकूट पर अनेकानेक आश्रम केन्द्रित थे। अगस्त्य वशिष्ठ, अत्रि, शरभंग, वाल्मीकि, भरद्वाज, गौतम, सुतीक्ष्ण और शबरी के आश्रम तथा विष्णु का सिद्धाश्रम और शिव का कामाश्रम उस युग के विख्यात तपोवन थे।

राम ने अपने वनवास के तेरह वर्ष दंडकारण्य के आश्रम–मंडल में व्यतीत किये थे। इस आश्रम–समुदाय में 'बड़ी यज्ञ–शालाएं, स्रुव, मृग–चर्म, कुशा, समिधा, जल के कलश और फल–मूल शोभित थे। कुश और चीर फैले हुए थे।

ऋषि भरद्वाज का प्रयाग–स्थित आश्रम उस युग के सबसे बड़े आश्रमों में एक था। वहां भरत, उनके अंतःपुर और उनकी विशालवाहिनी–सबके ठहरने का सुचारू प्रबन्ध था। आश्रम में सफेद चौबारे, हाथी–घोड़ों के रहने की शालाएं तथा हर्म्य और तोरणयुक्त प्रासाद बने थे। राजकीय अतिथियों के लिए एक राजवेश्म भी निर्मित था, जो दिव्य रस, भोजन, वस्त्र, शैया, आसन और सवारियों से सुसज्जित था।

आश्रमों को आध्यात्मिक तेज से ओत–प्रोत बताया गया है। वहां उपर्युक्त शिष्टाचार तथा भद्र व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी, उच्छृंखलता का आचरण सर्वथा त्याज्य था।[५०] अत्रि के आश्रम में प्रवेश करने से पहले राम ने अपने धनुष की प्रत्यंचा उतार ली थी। भरत ने अपनी सारी सेना को भरद्वाज के आश्रम से एक कोस इधर ही ठहराया था तथा अपने भी अस्त्र–शस्त्र और राजोचित वस्त्र वहीं उतार दिये थे। आश्रमों के पावन वातावरण में मनुष्य असत्य आदि तन–मन के पापचरण से दूर रहने को स्वतः ही प्रेरित होता था।[५१] महात्मा अगस्त्य के प्रभावो उनके आश्रम में कोई झूठ

बोलने वाला क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता था।[५२]

बाल्मीकि रामायण में वर्णित है कि विश्वामित्र के आग्रह पर राजा दशरथ ने राम और लक्ष्मण को कुछ समय के लिए उन्हें सुपुर्द कर दिया था। इसे इन राजकुमारों की 'गुरुकुल–शिक्षा' कहना उचित होगा, क्योंकि तब–तक वे अपना औपचारिक अध्ययन समाप्त कर स्नातक बन चुके थे। विश्वामित्र से उनको जो शिक्षा मिली, उसे 'स्नातकोत्तर प्रशिक्षण' कहना अधिक उपयुक्त होगा। विश्वामित्र के अल्पकालीन साहचर्य से भी दोनों राजकुमार पर्याप्त लाभान्तिव हुए थे। मुनि की संगति में वे दोनों ऐसे वातावरण और ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आये, जो उनके स्वस्थ्य नैतिक एवं मानसिक उत्थान के लिए परम सहायक सिद्ध हुए।[५३]

रामायण–काल में सुसंचालित शिक्षा–संस्थाएं भी थीं। तत्कालीन आश्रम विद्या के स्थायी केन्द्र थे। वस्तुतः सारा देश ही आश्रमों से भरा–पूरा था। उनमें ज्ञान–विज्ञान की अजस्र धारा बहती थी। सुविख्यात कामाश्रम में विद्यार्थी पिता–पुत्र की परम्परा से बराबर आते रहते थे ; उसमें अनेक परिवारों की कई पीढ़ियां शिक्षा पा चुकी थीं।[५४] आश्रमों के मुनि–शिक्षक अपनी पत्नियों और संतान के साथ निवास करते थे।

अंधमुनि अपने आश्रम में वानप्रस्थ–धर्मानुसार सपत्नीक एकांत जीवन व्यतीत करते थे और उनका पुत्र भी वहीं वेदाध्ययन में निरत रहता था। रात्रि के चौथे पहर में वह शास्त्रों का स्वाध्याय एवं मधुर घोष करता था।[५५]

वनवास काल में राम, लक्ष्मण और सीता अनेक आश्रम–विद्यालयों में गये थे। गंगा–यमुना पर स्थित भरद्वाज–आश्रम में वे सूर्यास्त के समय पहुँचे थे। उस समय ऋषिवर अग्निहोत्र करके शिष्यों से घिरे हुए आसन पर विराजमान थे। आश्रम के उपवनों में से यमुना नदी बहती थी, जिसके दोनों ओर सफेद चूने से पुते अनेक रमणीय आवास बने हुए थे।[५६] इन आश्रमों में सायंकाल का समय प्रायः कथा–वार्ता में व्यतीत होता था।[५७]

ऋषि वाल्मीकि की आश्रम–शाला में भी कई शिष्य वास करते थे, जिसमें से

एक का नाम भरद्वाज था। वाल्मीकि का आश्रम विशेषतः साहित्य और ललित कलाओं का केन्द्र रहा होग, जैसा कि लव–कुश की शिक्षा–दीक्षा से विदित होता है। राम के ये दोनों पुत्र 'आश्रमवासिनौ' थे। वाल्मीकि ने उन्हें वेदों के अतिरिक्त संगीत और अभिनय–कला में भी पारंगत बनाया था। समस्त रामायण–काव्य को कंठस्थ करके वीणा की मधुर लय के साथ गाना भी उन्हें सिखाया गया था। अपने गायन के बदले किसी प्रकार का पारितोषिक न लेने की शिक्षा देकर वाल्मीकि ने उनके सामने कला को बिक्री की वस्तु न बनाने का आदर्श रखा था।

आश्रमों के गुरुजन तथा छात्रगण, समय–समय पर, शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए, शैक्षणिक यात्राओं पर भी जाया करते थे। सिद्धाश्रम के मुनि और शिष्य, कौशिक कुलपति तथा कोसल–राजकुमार राम और लक्ष्मण के साथ, जनक के यज्ञ–महोत्सव को देखने के लिए सदल–बल गये थे। इसी प्रकार उत्तरकांड में वाल्मीकि भी अपने शिष्यों–सहित राम के अश्वमेध–यज्ञ में उपस्थित हुए थे, जहां लव–कुश ने अपनी रामायण–शिक्षा का प्रदर्शन कर ख्याति अर्जित की।

उच्च शिक्षा के लिए एक आश्रम या गुरु से दूसरे आश्रम या गुरु के पास जाने की वैदिक प्रथा रामायण में भी दृष्टिगोचर होती है। विश्वामित्र पहले उत्तर अंगराज्य में कौशिकी नदी के तटवर्ती एक आश्रम में रहते थे। बाद में वह अपना कर्मकांड पूरा करने दक्षिण–पश्चिम में स्थित सिद्धाश्रम में गये थे।[५८] राम को अपनी प्रारंभिक सैनिक शिक्षा सुधन्वा से मिली तथा उच्चतर युद्ध–शिक्षा विश्वामित्र से। अगस्त्य से भी उन्हें कुछ प्रयोग–विधि–सहित नवीन शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए थे।[५९]

ब्राह्मणों के इन परम्परागत वैदिक आश्रमों के अतिरिक्त राजधानी अयोध्या में भी अनेक शिक्षा–केन्द्र स्थापित थे, जिनमें पारम्परिक शास्त्रीय ज्ञान के साथ–साथ व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। उदाहरणार्थ, इक्ष्वाकु–वंशी राजकुमारों के सैन्य–शिक्षक का एक आश्रम अयोध्या में या उसके आसपास कहीं बसा हुआ था। इस आचार्य के 'संद्म' (घर) में शस्त्राभ्यास के निमित्त

राम–लक्ष्मण के शस्त्रास्त्र और कवच रखे रहते थे।[60] यह आचार्य संभवतः कोसल राजकुमारों के गुरु उपाध्याय सुधन्वा ही थे, जो बाण आदि अस्त्रों के प्रयोग में संरक्षण तथा अर्थशास्त्र के विशारद थे। राम ने उनका सम्मान करने के लिए भरत को चित्रकूट में विशेष रूप से स्मरण दिलाया था।[61]

अयोध्या के परम्परागत राजपुरोहित वशिष्ठों का भी एक विद्यालय था। इसका संचालन राजकुमारों के सखा सुयज्ञ–वशिष्ठ करते थे। वन–प्रस्थान करते समय राम ने सुयज्ञ को अपने यहां आदरपूर्वक बुलाया था और अपनी तथा सीता की अनेक सुन्दर एवं बहुमूल्य वस्तुएं उनके और उनकी पत्नी के लिए भेंट की थी। लक्ष्मण स्वयं सुयज्ञ को लिवाने उनके घर गये थे। उस समय सुयज्ञ अग्निशाला में विराजमान थे और लक्ष्मण ने युवराज की ओर से उन्हें राजप्रासाद चलने के लिए विनयपूर्वक आमंत्रित किया था।

अयोध्या में एक शिक्षणालय तैत्तिरीयों का था। इसके अभिरूप नामक एक वैदिक आचार्य को राम से वाहनों, कौशेय वस्त्रों तथा दासियों का उपहार मिला था। इसके अतिरिक्त, अगस्त्य और कौशिक के भी आश्रम राजधानी में रहे होंगे, क्योंकि किन्हीं अगस्त्य ओर कौशिक ऋषि को, जो संभवतः इन्हीं अगस्त्य और कौशिक आश्रमों के आचार्य थे, राम ने मणि, सुवर्ण रजत और गौएं भेंट की थी।

अयोध्या में कठ–कालाप आदि वैदिक चरणों के भी बहुत से ब्रह्मचारी छात्र निवास करते थे, जो आलसी और स्वादु भोजन के अकांक्षी थे, पर नित्य स्वाध्याय में संलग्न रहने के कारण महापुरूषों के आदरणीय थे।[62] राम ने उनके लिए रत्नों से भरे अस्सी यान धान के लदे सौ बैल, दो सौ भद्रक (नामक धान्य या हाथी) तथा सुस्वादु व्यंजन प्रदान करने वाली एक सहस्र गौएं प्रदान की थीं।[63]

प्राचील काल से तक्षशिला ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध था। इसकी प्रसिद्धि सातवीं सदी ई० पू० में ही हो गई थी। यह उल्लिखित है कि इसकी स्थापना भरत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौंपा गया था।[64] अतः तक्ष के

नाम पर इस स्थान का नाम तक्षशिला हुआ। महाभारत से विदित होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यहीं सम्पन्न किया था।[६५]

जातकों से विदित होता है कि देश के विभिन्न स्थानों से छात्र वहाँ जाकर आचार्यों के सान्निध्य में रहकर शिल्प का ज्ञान प्राप्त करते थे[६६] प्राचीनकाल में विद्यार्थी को 'अन्तेवासी' कहते थे जिसका शाब्दिक अर्थ है आचार्य के सान्निध्य में वास करने वाला। इसी प्रकार का 'समावर्तन' का अर्थ है आचार्य के घर या आश्रम से घर लौटना। प्राचीन साहित्य में नाभानेष्टि तथा कृष्ण की कथाएँ भी यही सिद्ध करती हैं कि विद्यार्थियों को गुरुकुल में निवास के लिए भेजा जाता था।[६७]

गुरुकुल प्रथा बड़े खानदान के लड़कों को ठीक करती थी और विद्यार्थियों को अधिक दक्ष, आत्मनिर्भर तथा व्यवहारचतुर बना देती थी।[६८] यह अनुभव कर लिया गया था कि गुरुकुल के नियमबद्ध रहन–सहन के प्रभाव में न आने से विद्यार्थी उतने लगन से समय पर व कुशलता से कार्य नहीं कर सकते थे जितने गुरुकुलनिवासी करते थे।[६९] साधारणतया लोगों की यह धारणा है कि गुरुकुल नागरिक चहल–पहल से दूर वनों में ही स्थित होते थे। किन्तु यह आंशिक रूप में ही यथार्थ है।

निस्संदेह अधिकांश दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में ही निवास चिन्तन और अध्यापन करते थे। वाल्मीकि, कण्व, सान्दीपनि आदि के आश्रम वनों में ही थे, यद्यपि यहाँ वेद, धर्म और दर्शन के अतिरिक्त निरुक्त, व्याकरण ज्योतिष और नागरिक शास्त्र जैसे विषयों का भी अध्यापन होता था। गुरुकुलों के निर्माण में यह ध्यान अवश्य रखा जाता था कि ये किसी उपवन या एकांत स्थान के पवित्र वातावरण में हों।[७०] यहाँ स्नातकों को समावर्तन के अनन्तर गृहस्थ जीवन के पालन का उपदेश दिया जाता था न कि सन्यास लेने का।

प्रागैतिहासिक काल अर्थात ई० पू० १००० से पूर्व शिक्षा प्रणाली में शिक्षा का व्यवसाय करने वाले आचार्यों की संख्या कम थी। अतः पिता ही प्रायः आचार्य का काम करते थे और कुल ही पाठशाला थी। वैदिक और उपनिषद् साहित्य में अनेक उदाहरण

प्राप्त हैं जिनमें पिता ही पुत्र का आचार्यत्व करते थे।[७१] ब्रह्मचारियों के लिए मधु, मांस, सुगन्धित द्रव्य, माला, रसीले पदार्थ, स्त्री संगति एवं प्राणियों की हिंसा आदि कर्म वर्जित थे।[७२]

महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अवसर पर जब उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने उनसे पूछा कि "हम किस प्रकार तथागत के शरीर या धातुओं का सम्मान करें ?" तो महात्मा बुद्ध ने स्पष्टतः कहा था कि "जिस प्रकार चतुष्महापदों पर चक्रवर्ती सम्राट के लिए स्तूप बनाए जाते हैं उसी प्रकार तथागत के लिए स्तूप बनवाना चाहिए।" बुद्ध के महपरिनिर्वाण के पश्चात् उनके अस्थि–अवशेषों को आठ भागों में विभाजित कर उन पर आठ स्तूप बनाए गये। उसके पश्चात् अशोक ने उन स्तूपों से अस्थि–धातु निकलवाकर उन पर असंख्य स्तूपों का निर्माण कराया। परम्परानुसार अशोक को ८४ हजार स्तूपों के निर्माण का श्रेय प्रदान किया गया है। डा० रामन्नय के अनुसार स्तूप, चैत्यगृह एवं विहार परम्पराएँ प्राक्बौद्धयुगीन हैं।[७३]

साहित्यिक विवरण एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से निर्विवादतः ज्ञात होता है कि स्तूप ब्राह्मण एवं जैन धर्मों में भी प्रचलित था। मथुरा के आयागपट्टों से जैन स्तूपों की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद में स्तूपों के विवरण से महात्मा बुद्ध के पूर्व तक इसकी प्राचीनता ज्ञात होती हैं। ऋग्वेद[७४] में हवन की प्रज्वलित अग्निज्वाला को स्तूप नाम से अभिहित किया गया। एक अन्य मन्त्र[७५] में छायादार–वितानदार वृक्ष एवं स्तूप में तादात्म्य स्थापित किया गया है। महाभारत में गरुणासीन कृष्ण को उच्च्च चैत्ययूप कहा गया है।[७६]

मध्य प्रदेश में विदिशा (भिलसा) से ५ मील की दूरी पर स्थित साँची बौद्ध धर्म एवं कला के केन्द्र के रूप में विख्यात है। यह स्थान मथुरा से प्रतिष्ठान के प्राचीन व्यापारिक मार्ग पर स्थित पूर्वी मालवा का महत्वपूर्ण राजनीतिक केन्द्र था। विदिशा अशोक के पूर्व से ही बौद्ध केन्द्र था। यहीं की एक श्रेष्ठी की पुत्री से अशोक का विवाह हुआ था जिसने अशोक के हृदय में बौद्ध धर्म का बीजारोपण किया था।

इसीलिये अशोक ने साँची में भी एक स्तूप का निर्माण कराया।

इनकी मूर्तिकला एवं वास्तुकला में जो तादात्म्य है उसके विषय में पर्सी ब्राउन[७७] की यह उक्ति अत्यन्त ही समीचीन है– संभवतः साँची तोरणद्वार परम्परा को ही आदर्श स्वीकार करते हुए कालिदास ने तोरण का वर्णन किया है।[७८] साँची की शालभंजिका ने अश्वघोष को भी आकृष्ट किया।

अमरावती स्तूप द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी में महायान परम्परा में पूर्ण हुआ। वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी, यज्ञश्री शातकर्णि तथा श्री शिवमक शातकर्णि के लेख स्तूप पट्टों पर अंकित हैं। नैगम श्रेष्ठि, विभिन्न अधिकारियों, भिक्षुओं एवं सामान्य बौद्ध प्रेमियों ने इसके निर्माण में सहयोग किया, जिनके नाम दान सूचियों में अंकित है। प्रख्यात वज्रयानी नागार्जुन ने भी आन्ध्र को अपना आवास बनाया जिनका पूर्ण प्रभाव इस स्तूप में द्रष्टव्य है।[७९]

अमरावती स्तूप में वास्तुगत विशेषताओं की अपेक्षा मूर्तिगत विशेषताओं ने आलोचकों एवं प्रशंसकों का ध्यान अधिक आकृष्ट किया है। मूर्तियाँ मूर्तिकलाकार का आत्मोद्घाटन करती हैं। प्रत्येक दृश्य एक भाव से संयुक्त है। मूर्तिगत सौन्दर्य से वास्तुगत रूप भी अतुलनीय बन गया है। पर्सीब्राउन का मत अत्यन्त ही समीचीन है।[८०]

तख्त–ए–बाही स्तूप के बौद्ध अवशेष अधिकांशतः विनष्ट है, किन्तु जो अंश अवशिष्ट हैं उनसे सम्पूर्ण रचना का अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ का स्तूप समस्त गन्धार स्तूपों का प्रतिनिधि माना जाता है। यहाँ से प्रथम लेख ४६ ई० का गोल्डोफरीस के काल का प्राप्त हुआ है किन्तु पूर्णता उसे तृतीय–चतुर्थ शताब्दी ईसवी में प्राप्त हुई।[८१] यहाँ एक विशाल आयत के मध्य मुख्यतः तीन अंश–दक्षिण में स्तूप–प्रांगण, उत्तर में विहार तथा दोनों के मध्य उच्च अधिष्ठान जिन पर अनेक स्मारक स्तूप, विहार इत्यादि निर्मित हैं–प्राप्त हुए हैं।[८२]

पर्वतों को काट कर गुफाओं के निर्माण की परम्परा मौर्य युग से ही प्रचलित

थी। नागार्जुनी की पहाड़ियों में मौर्य युगीन शैलोत्खनित गुफाएँ प्राप्त होती हैं। ये गुफायें प्रारम्भ में सभी धर्मों में प्रचलित थीं, किन्तु शुंग–सातवाहन युग में बौद्धों ने जब इस कला को आत्मसात किया तो गुफा वास्तु बौद्ध कला की एक अनिवार्य परम्परा बन गई। जिस समय साँची, भरहुत एवं बोधगया के स्तूपों का निर्माण हो रहा था उसी समय बौद्ध जगत में गुहा वास्तु का भी सृजन हुआ।

पर्सी ब्राउन[८३] के अनुसार मिस्र, असीरिया, लीसिया, पेट्रा, नक्श–ए–रुस्तम में भी अनेक शैलोत्खनित वास्तु–अवशेष उपलब्ध होते हैं किन्तु भारतीय कलाकारों ने इस क्षेत्र में जिस कल्पनात्मक मौलिक प्रतिभा, अदम्य शक्ति एवं उत्कृष्ट कौशल का परिचय दिया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पर्वतों को काट कर कन्दराओं का निर्माण करने के कारण इन्हें गुफा नाम से सम्बोधित किया गया है।

एलोरा के चैत्यगृह अजन्ता से भिन्न शैली में निर्मित हैं। अजन्ता में ऊँची पहाड़ियों को काट कर ऊँचे चैत्यगृह बने हैं। किन्तु एलोरा के कलाकारों ने स्थानीय परिस्थिति के अनुसार नीची पहाड़ियों को काट कर नीचे चैत्यगृहों का निर्माण किया। ४५० ई० से ६५० ई० के मध्य यहाँ १२ गुफाएँ बनाई गई हैं। गुफा संख्या १ से ५ तक की गुफाओं को 'ढैड़वाडा समूह' के नाम से सम्बोधित किया गया है। गुफा सं० ५ को महानगंड़ा कहा गया है। गुफा सं० ६ से १२ तक गुफाओं का द्वितीय समूह है। इनमें चैत्यगुहा एवं विहार दोनों सम्मिलित हैं। द्वितीय वर्ग की मुख्य गुफा सं० १० है जिसे विश्वकर्मा गुफा कहा गया है। महानवाडा तथा विश्वकर्मा दोनों गुफाएँ चैत्यगृह हैं।

ह्वेनसांग द्वारा वर्णित गजदेश के १० मठों में सर्वास्तिवादी शाखा के तीन सौ भिक्षु रहते थे।[८४] उन्होंने वामन में ऐसे १० मठों का उल्लेख किया है जिसमें कि हजारों की संख्या में लोकोत्तरवादी शाखा के भिक्षु रहते थे।[८५] ह्वेनसांग ने एक अन्य स्थान कपिस में एक सौ से भी अधिक बौद्ध मठों का वर्णन किया है। इनमें ६ हजार से भी अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे।[८६] उत्तरी भारत में स्थित लम्पादेश में महायान शाखा के १० से अधिक बौद्ध विहारों का उल्लेख ह्वेनसांग द्वारा मिलता है।[८७]

गान्धार की राजधानी पुरुषपुर के ख्यातिप्राप्त स्नातक नारायणदेव और पार्श्व का वर्णन भी ह्वेनसांग न किया है। नालन्दा के पूर्व सम्भवतः यही सर्वश्रेष्ठ बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था।[८८] बौद्ध भिक्षु व सुमित्र ने पुस्करावती में 'अभिधर्म प्रकरण पादशास्त्र' की रचना की थी।[८९] ह्वेनसांग ने पलुश के एक मठ में ५० भिक्षुओं का उल्लेख किया है।[९०] और उसी के पास महायान सम्प्रदाय के दो अन्य मठ भी देखे थे।[९१] महायान सम्प्रदाय के उद्यान में १८००० बौद्ध भिक्षु थे। वे ऐन्द्रजालिक विषयों में भी प्रवीण थे।[९२] कश्मीर में आनन्द के शिष्य महयान्तिक से प्रेरित ५०० मठों का निर्माण हुआ। यहाँ दूर–दूर के विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे।[९३]

ह्वेनसांग ने आचार्य विनीतप्रभ, जो कि एक भारतीय राजा के पुत्र थे, उनसे शिक्षा ग्रहण की थी।[९४] तमसावन के भिक्षु अशोक की सभा में आमन्त्रित होते थे।[९५] तमसावन मठ में सर्वास्तिवादी शाखा के तीन सौ भिक्षु रहते थे।[९६] जालन्धर में ५० से भी अधिक विहारों का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है इनमें हीनयान तथा महायान शाखा के लगभग २००० भिक्षु रहते थे।[९७]

जालन्धर के मठों में ह्वेनसांग ने ४ मास तक बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था।[९८] कुलुतो के बीस मठों में महायान सम्प्रदाय के एक हजार से भी अधिक भिक्षु रहते थे।[९९] मथुरा के बीस से अधिक मठों में, दोनों सम्प्रदायों के २००० से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे।[१००] स्थानेश्वर के बौद्ध विहारों में ७०० से अधिक हीनयान सम्प्रदाय के भिक्षु रहते थे।[१०१] इसी के समीप एक सुप्रसिद्ध गोविन्द मठ भी था।[१०२] मतिपुर के १० बौद्ध विहारों में ८०० भिक्षु रहते थे।[१०३] इसी के समीप गुणप्रथ ने कई ग्रन्थ लिखे।[१०४] हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र गोविश्न में भी दो मठों में हीनयान सम्प्रदाय के ३०० भिक्षु रहते थे।[१०५] अहिछत्र के १० बौद्ध विहारों में एक हजार भिक्षु हीनयान सम्प्रदाय के थे।[१०६] संकाश्य में भी ४ बौद्ध विहार थे।[१०७]

बौद्ध शिक्षा केन्द्र कान्यकुब्ज में १०० मठ थे जिनमें दोनों सम्प्रदायों के १०,००० भिक्षु रहते थे।[१०८] नवदेव कुल में तीन मठ एवं पांच सौ भिक्षुओं का वर्णन आता है।[१०९]

अयोध्या में एक सौ मठ एवं ३००० भिक्षुओं की संख्या बताई गयी है।[११०] प्रयाग में भी दो मठों की किन्तु न के बराबर भिक्षुओं की संख्या का वर्णन मिलता है।[१११] कौशाम्बी में १० से अधिक[११२] तथा विशोक में २० मठ एवं तीन हजार भिक्षुओं की संख्या बताई गयी है।[११३]

बौद्ध धर्म के शिक्षा के केन्द्र श्रावस्ती में भी कुछ मठों के अवशेष देखे गये हैं।[११४] पाटलिपुत्र के समीप, बौद्ध शिक्षा के सुप्रसिद्ध केन्द्र चेतवन विहार के पुस्तकालय में वैदिक धर्म एवं अन्य विषयों की भी पुस्तके थीं।[११५] कपिलवस्तु में एक हजार मठों के अवशेष ह्वेनसांग के समय में देखे गये।[११६] वाराणसी में तीस बौद्ध मठ एवं तीन हजार बौद्ध भिक्षु[११७] तथा सारनाथ में १५०० बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है।[११८]

वैशाली में कई सौ जीर्ण विहारों का वर्णन मिलता है।[११९] इसके अतिरिक्त वज्जि[१२०], नेपाल[१२१] तथा मगध[१२२] में अनेक मठों का वर्णन आया है। मगध के एक अन्य मठ का वर्णन तीलडक के नाम से आया है।[१२३] उस समय नीति–शास्त्र के ज्ञानचन्द नाम के एक बौद्ध आचार्य का उल्लेख है।[१२४] गुणवती[१२५] तथा शीलभद्र विहार पास–पास ही स्थित थे।[१२६] बौद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध केन्द्र 'मालवा' में कई सौ विहारों एवं भिक्षुओं का वर्णन आता है।[१२७] इसके अतिरिक्त आनन्दपुर में दस मठ एवं एक हजार बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है।[१२८] प्राचीनकाल में कश्मीर शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था।[१२९] राजा सुरेन्द्र ने नरेन्द्र भवन[१३०] तथा एक अन्य[१३१] विहार बनवाया था। राजा जनक[१३२] ने एक तथा राजा जालौक[१३३] ने कृत्याश्रम नामक विहार बनवाया था।

बौद्ध मठों की भांति जैन विहारों ने भी शिक्षा देने का कार्य किया[१३४], गणधन सारध शतक में वर्णित एक मठ में अनाथ व अपंग शिक्षा पाते थे।[१३५] अपभ्रंश काव्यत्रयी में वर्णित दिनेश्वराचार्य के मठ में श्रावक पुत्र पढ़ते थे। उक्त मठ में सर्वाकर्षिणी एवं सर्वमोचिनी विद्याओं के साथ लक्षण छन्द, तर्क व अलंकार का ज्ञान कराया जाता था।[१३६] वाराणसी के केदार मठ में शिक्षा का कार्य होता था।[१३७] इनमें गीत, वाद्य तथा रसायन विद्या का भी ज्ञान कराया जाता था। वत्सराज की हास्य चूणामणि में मठ के

एक शिक्षा का उल्लेख है। जैन मठों में प्रारम्भिक शिक्षा के साथ–साथ उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध रहता था।

कश्मीर के किन्नर ग्राम में एक मठ का वर्णन आया है।[१३८] कश्मीर के नर नाम के राजा ने हजारों विहारों को जलवा दिया था।[१३९] कश्मीर की रानियों ने 'अमृतभवन'[१४०] नन्दवन[१४१], इन्द्रदेवी भवन[१४२], प्रकाशिका विहार[१४३] अनंगभवन[१४४] विहारों को बनवाया। इसी प्रकार जयमती और उनके पति ने भी एक–एक विहार बनवाये।[१४५] राजा जयसिंह की पत्नी ने एक श्रेष्ठ विहार बनवाया।[१४६] राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने अनेक मठों का निर्माण करवाया था।[१४७] उनके समय में 'राज्यविहार' और 'काव्य विहार' अति प्रसिद्ध विहार थे।[१४८] राजा जयापीड ने एक विहार में बुद्ध की तीन मूर्तियाँ स्थापित किया था।[१४९]

प्रवरसेन द्वितीय के मन्त्री मोरक ने मोरक भवन नामक एक विहार बनवाया।[१५०] युधिष्ठिर द्वितीय के मन्त्री सर्वरत्न, जय और स्कन्दगुप्त ने अनेक विहार बनवाये।[१५१] दर्शन के नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विद्यार्थी को सम्मानित किया जाता था।[१५२] बाद में मठों में फैले दुराचार का विशेष रूप से स्त्री शिक्षा पर विशेष प्रभाव पड़ा।[१५३] प्रायः मठों में नियमों का पालन कठोरता से नहीं होता था।[१५४]

अशोक के समय में बौद्ध विहारों की बहुत वृद्धि हुई। इन विहारों में बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को शिक्षा दी जाती थी। बाद में जन–साधारण में शिक्षा के साथ–साथ धर्म का प्रचार करने के उद्‌देश्य से ये विहार शिक्षा के केन्द्र बन गये।[१५५] कालान्तर में बौद्ध मठों ने विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया तथा बौद्ध भिक्षु उसके आचार्य का कार्य करने लगे। बौद्ध विहारों के अनुकरण के फलस्वरूप हिन्दू मन्दिरों एवं जैन मठों में भी पाठशालायें खुलने लगीं। इन विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा प्रणाली से आकर्षित होकर कोरिया, चीन, तिब्बत और जावा जैसे सुदूर देशों के विद्यार्थी अध्ययन के लिए यहाँ आते थे।[१५६] तक्षशिला अशोंक के समय में शिक्षा का प्रमुख केन्द्र रहा था।[१५७] किन्तु फाह्यान के समय इसका कोई महत्व नहीं था।[१५८] ह्वेनसांग के भारत आने के पूर्व इसका वैभव समाप्त हो चुका था।[१५९]

नालन्दा विश्वविद्यालय

नालन्दा का नाम बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में वर्णित है किन्तु शिक्षा के केन्द्र के रूप में इसकी ख्याति ४५० ई० के पूर्व नहीं थी।[१६०] अशोक ने यहाँ एक मन्दिर का निर्माण कराया था।[१६१] नालन्दा के प्रथम संस्थापक अशोक थे।[१६२] बालादित्य ने भी यहाँ कुछ मन्दिरों का निर्माण कराया था।[१६३] तथागत गुप्त एवं बुद्धगुप्त (४७५–५०० ई०) ने यहाँ क्रमशः एक–एक विहार का निर्माण कराया।[१६४] ह्वेनसांग के सात सौ वर्ष पूर्व नालन्दा विहार का निर्माण हुआ था।[१६५]

इत्सिंग के अनुसार नालन्दा शब्द नागनन्द का परिवर्तित रूप है।[१६६] यह पटना राजगृह से दक्षिण लगभग ४० मील दूर है।[१६७] इसका आधुनिक नाम बरागाँव है।[१६८] उत्खनन से पता चला है कि एक मील लम्बी तथा डेढ़ मील चौड़ी परिधि वाले नालन्दा के अन्दर छः विहार और स्तूपों का निर्माण हुआ था। इसमें आठ विशाल व्याख्यान मन्दिर तथा अध्यापन के लिए तीन सौ छोटे–छोटे कमरे भी थे। नालन्दा में एक विशाल पुस्तकालय था जिसके तीन भाग थे। तीनों भागों के नाम 'रत्नसागर' रत्नोदधि और रत्नरंजक थे। नालन्दा में विद्यार्थियों के भोजन, निवास एवं वस्त्र की व्यवस्था विश्वविद्यालय की ओर से थी।[१६९] किन्तु इत्सिंग के अनुसार यह सुविधा विहार में कुछ श्रमदान करने वाले छात्रों के लिए ही थी।[१७०]

इत्सिंग के समय में भी मंगोलिया के विद्यार्थी यहाँ अध्ययन के लिए आते थे।[१७१] ६वीं शताब्दी में नालन्दा की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में हो चुकी थी।[१७२] यहाँ शोध कार्य भी होता था।[१७३] नालन्दा के उच्च आदर्श के नाम पर ही विद्यार्थियों का सम्मान होता था।[१७४] नालन्दा में विद्यार्थियों की संख्या दस हजार एवं अध्यापकों की संख्या एक हजार थी।[१७५] यहाँ के विद्यार्थी जीवन के आदर्श नैतिक एवं बौद्धिक दोनों दृष्टिकोण से श्रेष्ठ थे।[१७६] इत्सिंग के अनुसार नालन्दा के नियम अति कठोर थे।[१७७] माध्यमिक दर्शन के प्रणेता नागार्जुन ने नालन्दा के निर्माण में विशेष योगदान दिया था।[१७८]

प्रसिद्ध विद्वान एवं तार्किक कमलशील नालन्दा का प्रधान था।[७९] पाल नरेश न्यायपाल (१०४२) के समय में दीपंकर श्री ज्ञान नालन्दा का प्रधान था।[८०] आर्यदेव, नागार्जुन का शिष्य था। इसके अतिरिक्त धर्मपाल, कांचीपुर से नालन्दा अध्ययन के लिए आया था और बाद में वहाँ का प्रधान नियुक्त हुआ था। शीलभद्र ने धर्मपाल का शिष्यभाव ग्रहण किया था। बुधकीर्ति ने तन्त्र पर एक संस्कृत ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। विक्रमशिला के अभयकर मुरत ने इस अनुवाद में सहायता की थी।[८१]

नालन्दा के जिनमित्र नामक आचार्य ने तिब्बत का भ्रमण करके संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया।[८२] चन्द्रगोमिन, नालन्दा का (८वीं शताब्दी) सर्वश्रेष्ठ स्नातक था उसने साठ संस्कृत पुस्तकें बौद्ध धर्म पर लिखी। उसी समय एक श्रेष्ठ स्नातक शस्तरक्षित था। पद्मसंभव नालन्दा का ख्याति प्राप्त आचार्य था।[८३] तेरहवीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी ने आक्रमण करके यहाँ के विशाल पुस्तकालय को जला दिया एवं अनेक भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया।[८४]

विक्रमशिला विश्वविद्यालय

विक्रमशिला के संस्थापक पाल राजा धर्मपाल (७७५–८०० ई०) थे।[८५] छः द्वारों वाले इसके विशाल भवनों के बीच एक विशाल कक्ष था जिसे विज्ञान भवन कहा जाता था।[८६] इसके मध्य प्रांगण में एक मन्दिर था जिसमें महाबोधि की मूर्ति स्थापित थी। इसके अतिरिक्त यहाँ १०७ छोटे–छोटे मन्दिर थे।[८७] इसका प्रबन्ध छः सदस्यों के परिषद् के अधीन था। विद्यार्थियों का प्रवेश द्वारपंडितों से वाद–विवाद के बाद ही सुनिश्चित होता था। ये द्वारपंडित रत्नाकर शान्ति, वागीश्वरकीर्ति, नरोपा, प्रज्ञाकरमति, रत्नबज्र तथा ज्ञान श्रीमित्र थे।[८८]

विश्वविद्यालय की परिषद् विद्यार्थियों को पंडित की उपाधि राजाओं द्वारा वितरित कराती थी।[८९] जेतारि तथा रत्नबज्र को क्रमशः महीपाल तथा कनक नामक राजाओं द्वारा उपाधियाँ दी गयी थीं।[९०] नागार्जुन और अतिस का इसी प्रकार चित्रांकन हुआ था।[९१] दीपंकर श्री ज्ञान एवं अतिस प्रमुख लेखक थे जिन्होंने कि दो सौ से

अधिक पुस्तकों की रचना की थी।[१९२] आचार्य बुद्ध ज्ञानपाद विक्रमशिला का सर्वश्रेष्ठ तन्त्राचार्य थे।[१९३] विद्वान रत्नबज्र कश्मीर का रहने वाला था।[१९४] ज्ञानश्रीमिश्र एवं रत्नकीर्ति भी यहाँ के मुख्य द्वारपंडित थे।[१९५] जेतारि ने भी अनेक पुस्तकों की रचना की थी।[१९६]

वलभी विश्वविद्यालय

काठियावाड़ के पूर्वी किनारे पर बला नामक स्थान पर वलभी विहार का निर्माण राजकुमारी दिद्दा ने (४७५–७७५ ई०) करवाया था।[१९७] धरसेन प्रथम ने (५८० ई०) एक विहार का दान किया जिसकी स्थापना आचार्य भदन्त स्थिर मति ने की थी।[१९८] ह्वेनसांग के अनुसार वलभी में लगभग सौ संघाराम थे जिनमें छः हजार विद्यार्थी 'हीनयान' का अध्ययन करते थे।[१९९] इत्सिंग ने प्रमुख शिक्षा केन्द्र के रूप में इसका वर्णन किया है।[२००] इसका शिक्षा केन्द्र के रूप में उल्लेख कथा सरित्सागर में भी मिलती है।[२०१]

वलभी राजाओं का संरक्षण ब्राह्मणों को वैदिक अध्ययन के लिए प्राप्त था। 'भट्टिकाव्य' की रचना वलभी में हुई थी। विश्वविद्यालय के प्रमुख विद्वानों का नाम नालन्दा की भांति वलभी में भी द्वार पर अंकित कराया जाता था।[२०२] इत्सिंग ने वर्णन किया है कि वलभी से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्वानों की नियुक्ति राजकीय पदों पर होती थी अथवा उन्हें जीवन–निर्वाह हेतु आर्थिक सहायता दी जाती थी।[२०३] १२वीं शताब्दी तक यहाँ ज्ञान पिपासु आते रहे।[२०४]

ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय

८वीं शताब्दी के मध्य में लगभग ७३० ई० में ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय की स्थापना पालवंश के प्रथम राजा गोपाल द्वारा की गयी।[२०५] अभयकर गुप्त के समय यहाँ एक हजार से अधिक विद्यार्थी अध्ययन करते थे।[२०६] यह स्थल बौद्धों के तन्त्र विद्या का केन्द्र था। विक्रमशिला का रत्नाकर, ओदन्तपुरी में सर्वास्तिवादी शाखा का विद्यार्थी था। यहाँ भिक्षुक प्रभाकर ने 'सामुद्रिक व्यन्जन वर्णन' का तिब्बती में अनुवाद किया था।[२०७]

सन् ११९९ में बख्तियार खिलजी द्वारा इस शिक्षा केन्द्र को नष्ट कर दिया गया।[२०८] यहाँ पढ़ने–पढ़ाने की आवासीय व्यवस्था थी।

जगद्दला विश्वविद्यालय

जगदल महा विहार का निर्माण बंगाल व मगध के पाल राजा रामपाल (१०८४–११३० ई०) द्वारा हुआ था।[२०९] गंगा करतोया नदी के संगम पर रामावती नगर में यह विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी थी। महापंडित विभूतिचन्द जगदल का प्रसिद्ध स्नातक था।[२१०] आचार्य दानशील, शुभकर, मोक्षकर गुप्त, विभूति चन्द्र यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान थे।[२११] विक्रमशिला विहार के नष्ट होने पर शक्य श्रीभद्र जगदल में चला आया था।[२१२] यहाँ बौद्ध दर्शन, महायान, हीनयान दर्शन, तर्कशास्त्र, पायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, साहित्य एवं तन्त्रविद्या की पढ़ाई होती थी।

विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त शिक्षा के अन्य केन्द्र

ये स्थल राज्यों की राजधानी अथवा तीर्थस्थल थे, जो बाद में शिक्षा के भी केन्द्र बन गये थे।

काशी (वाराणसी) तीर्थस्थल के साथ–साथ शिक्षा का केन्द्र था।[२१३] उपनिषदकाल में यह आर्य सभ्यता एवं धर्म का केन्द्र था।[२१४] तिन्तीर जातक में, शिक्षा के केन्द्र के रूप में इसका वर्णन आया है।[२१५] मत्स्यपुराण के वर्णन के अनुसार यहाँ सर्वत्र अध्ययन और दान चलता रहता था।[२१६] शंकराचार्य जी ने वाराणसी में ही अध्ययन किया था।[२१७] यहाँ उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।[२१८] १२वीं शताब्दी में वाराणसी बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था।[२१९] यहाँ ज्योतिष का अध्ययन होता था।[२२०] संगीतशास्त्र का यहाँ अध्ययन होता था।[२२१]

पंडित दामोदर के अनुसार वाराणसी के विद्यार्थियों का अध्यापन ओझा या उपाध्याय द्वारा होता था।[२२२] उक्ति व्यक्ति प्रकरण से स्पष्ट है कि यहाँ जाट नामक एक ब्राह्मण को 'ऋग्वेद चरणे चतुर्वेदी', वील्ह नाम के ब्राह्मण को 'यजुर्वेद चरणे चतुर्वेदी', चिहिल को अथर्ववेद चरणे त्रिवेदी तथा देमिग को छान्दोग्य चरण त्रिपाठिन की उपाधि प्राप्त थी।[२२३]

मिथिला

बृहदारण्यक उपनिषद से ज्ञात होता है कि राजा जनक के समय से ही मिथिला नगरी में दूर–दूर से विद्वान वाद–विवाद प्रतियोगिता में भाग लेते थे।[२२४] मिथिला के प्रसिद्ध स्नातक जगधर थे जिन्होंने गीता, देवी महात्म्य, मेघदूत, गीतगोविन्द तथा मालती माधव पर अपनी टीका प्रस्तुत की और रसिक संगीत–सर्वस्व की रचना की।[२२५] यहाँ के गंगेश उपाध्याय (१०६३–११५० ई०) ने नव्य–न्याय की शाखा को जन्म देने के साथ–साथ तत्वचिन्तामणि की रचना की।[२२६] इनके पुत्र ने इसका प्रचार–प्रसार किया। एक अन्य विद्वान विद्यापति ने पदावली की रचना की।[२२७] कुमारिल भट्ट, उदयनाचार्य भी यहीं से सम्बन्धित थे।

मृगदाव

फाहियान ने यहाँ हीनयान शाखा का अध्ययन करने वाले[२२८] लगभग पन्द्रह सौ भिक्षुओं का वर्णन किया है।[२२९] इत्सिंग के अनुसार यहाँ के मठ विशाल थे जो ईटों से बने थे वह यहाँ से बहुत प्रभावित था।[२३०]

उज्जैन

बाण के अनुसार उज्जैन उच्च शिक्षा का केन्द्र था।[२३१] यहाँ के निवासी महाभारत, रामायण एवं पुराणों में रुचि लेते थे।[२३२] अल्बरूनी के अनुसार, राजा विक्रमादित्य के समय का व्याडि रसायन के अध्ययन में पारंगत था।[२३३] उसने रसायन पर अनेक पुस्तकें लिखीं।[२३४] उज्जैन में ज्योतिष विद्या का वृहद प्रचार था।[२३५]

श्रीमाल या भिन्नमल

७वीं शताब्दी में श्रीमाल हिन्दू शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था।[२३६] श्रीमाल पुराण के अनुसार यहाँ एक हजार ब्रह्मशाला तथा चार हजार मठ थे।[२३७] यहाँ के ब्राह्मण वैदिक मन्त्र के लिए दूर–दूर तक प्रसिद्ध थे।[२३८] आबू, शाक्त पीठ माना जाता था।[२३९] जैन आचार्य हरिभद्र ने संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में अनेक रचनाएँ की है।[२४०] एक अन्य

आचार्य सिद्धर्ष ने 'चन्द्रप्रभाचरित' का संस्कृत में अनुवाद किया। यहाँ के उद्योतन सूरि ने, जाबालपुर में प्राचीन प्राकृत धर्मकथा कुवलयमाला की रचना की। उद्योतन सूरि के गुरू बीरभद्र ने एक मन्दिर का निर्माण करवाकर स्वयं जैन धर्म की शाखाओं का अध्ययन कराता था।[२४१]

नवदीप (नदिया)

वर्तमान कोलकाता से दक्षिण–पूर्व में कुछ दूरी पर गंगा तथा जलांगी के संगम पर नवदीप, गोपालपाड़ा और शान्तिपुर नामक तीन परिसरों में फैला, नदिया उच्च शिक्षा का प्रख्यात केन्द्र था। यह बंगाल के सेन राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी थी।[२४२] वह एक कवि थे, उनकी रचनाएँ श्रीधरदास की सदुक्ति कर्णामृत में सुरक्षित है।[२४३] उनके दरबार में जयदेव–गीत गोविन्द के रचयिता, पवनदूत के रचयिता धोई तथा श्रीधरदास आदि थे।[२४४]

लक्ष्मणसेन के मन्त्री हलायुध ने स्मृति सर्वस्व, मीमांसा सर्वस्व तथा न्याय सर्वस्व की रचना की थी।[२४५] हलायुध के विद्वान भाई ने हिन्दू संस्कारों पर पथुपवि पद्धति नामक पुस्तक लिखी।[२४६] इसका शिलालेख विक्रम संवत ११७३ अर्थात् सन् १११६ ई० का मिलता है। विधि शास्त्र के शूलपाणि यहीं थे। रघुनाथ शिरोमणि, उमापति, वासुदेव सर्वभौम जैसे विद्वान इसके स्तम्भ थे। १६२० तक नदिया का अस्तित्व किसी न किसी रूप में बना रहा।[२४७]

अन्य बौद्ध विद्यापीठ

जीवनी तथा युवाङ. च्वांङ् की 'यात्रा' में आये स्फुट तथा अन्य प्रासंगिक वर्णनों से ज्ञात होता है कि ७वीं शताब्दी में कश्मीर की राजधानी के पास जयेन्द्र विहार, पंजाब में चिनपति तथा जालंधर के विहार, बिजनौर (उ० प्र०) जिले में मतिपुर विहार, हिरण्य देश में एक विहार, कन्नौज के पास भद्र विहार और आन्ध्र देश में अमरावती के विहार, विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र थे।

इसमें अधिकांश विहारों में युवाङ् च्वाङ् ने बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन और उनकी

प्रतिलिपि तैयार करने में कई मास बिताये थे। इनके 'महास्थविर अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य के लिए विख्यात थे। १२०० ई० तक विहार और बंगाल में बौद्धधर्म शक्तिशाली था। इस प्रदेश में ओदंतपुरी तथा जगदल विहार (बंगाल के राजा रामपाल ने अपनी राजधानी रामावती में इसका निर्माण कराया था) प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ थे जहाँ से बौद्धधर्म देश–देशान्तरों में प्रचारित हो रहा था।[२४८]

तीर्थ शिक्षा के केन्द्र

पुराणों से तीर्थों का बड़ा प्रचार हुआ। तत्कालीन युग में तीर्थों की बड़ी महत्ता थी। प्रयाग, काशी, गया आदि का बड़ा नाम था। लघु समृति में गया की बड़ी प्रशंसा है। इसमें यह उल्लेख है कि अधिक पुत्रों का होना शुभ है, क्योंकि उनमें से कोई भी समय निकालकर गया में श्राद्ध सम्पन्न करने में सफल होगा।[२४९] यम–स्मृति में मृत व्यक्तियों के गंगा में अस्थि विसर्जन का बड़ा महत्व है। सम्पूर्ण तीर्थों में प्रयाग का बड़ा महत्व है और उसे तीर्थराज कहा गया है। इन शास्त्रीय प्रमाणों की पुष्टि शिलालेखों से भी होती है।

धंगदेव के खजुराहो शिलालेख में यह उल्लेख है कि उसने ध्यानावस्थित हो, भगवान रूद्र के मंत्रों का जप करते हुए प्रयाग के गंगा–यमुना संगम में प्राण विसर्जित किए थे।[२५०] मऊ शिलालेख में चन्देल मंत्री अनन्त का भी निर्देश है, जिसने गंगा–यमुना के संगम में अपने प्राण विसर्जित किये। प्रयाग की भांति काशी की भी महत्ता हैं ऐहिक बन्धनों से मुक्त होने की अभिलाषा से सभी वर्णों के लोग वहां तीर्थयात्रा में जाते थे। धंगदेव के ननयौरा ताम्रलेख में उसकी (धंगदेव की) काशीयात्रा का निर्देश है। उसने वहां चन्द्रग्रहण के अवसर पर एक धार्मिक ब्राह्मण को ग्रामदान दिया था।[२५१]

प्राचीनकाल में काशी, गंगाद्वार (हरिद्वार), अयोध्या, मथुरा, द्वारिका आदि तीर्थ क्षेत्रों में साधु, महात्मा, ब्रह्मर्षि, पंडित, अपंडित आदि हर तरह के पुण्यलाभ की इच्छा या मुक्ति–कामना से आकर इकट्ठे होते थे। तीर्थों में तपस्वी महापुरुषों द्वारा दिये गये अनेकों प्रकार के उपदेश व वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास आदि की आलोचना से भी

सम्भवतः सभी उपकृत होते थे।

तीर्थराज प्रयाग एवं काशी तो अभी तक भारत का श्रेष्ठ शिक्षा केन्द्र है जहाँ महापुरुषों के समागम में श्रेष्ठ व गौण विद्याओं की कैसी आलोचना होती थी, प्रयाग का प्रमाण 'कुंभमेला' है। बुद्धदेव भी धर्म प्रचार के लिए सबसे पहले काशी ही गये थे। अतएव तीर्थभ्रमण से भी शिक्षा प्रसार में बहुत सहायता मिलती है, यह अनायास ही कहा जा सकता हैं सम्भवतः आर्य भ्रमण के प्रलोभन तथा गुणगान में इस तरह का गूढ़ रहस्य भी था। तीर्थभ्रमण का अन्यतम उद्देश्य शिक्षा में परिणत हुआ कि नहीं, यह भी सोचने का विषय है। जिस देश में विद्वान व्यक्ति न रहते हों, शास्त्रकारों ने उस जगह को रहने के लिए अनुपयुक्त बताया है। शिक्षा प्रसार के उपायों में ये उपदेश भी अति महत्वपूर्ण स्थान रखते रहे हैं।

यज्ञमंडप शिक्षा-प्रसार के केन्द्र – शिक्षा–प्रसार का एक और भी साधन था। प्राचीन भारत के यज्ञमंडपों में यज्ञदर्शन व्यक्तियों को पवित्र होम धूम्रसेवन के साथ–साथ अनेकों प्रकार की शास्त्रीय आलोचनाएँ सुनने का भी मौका मिलता था। नाना देशों से आये हुए याज्ञिकों की वेदालोचना से यज्ञभूमि निरन्तर मुखरित रहती थी। अधिकांश पुराण व इतिवृत्त यज्ञभूमि द्वारा ही जनसाधारण तक पहुँचते थे।

महाभारत का प्रथम प्रचार–तक्षशिला (रावलपिंडी) में जनमेजय के सर्पयज्ञ के मंडप में हुआ था। दूसरी आवृत्ति नैमिषारण्य में कुलपति शौनक के द्वादश वार्षिक यज्ञ में हुई थी। अतएव यह अनुमान बिल्कुल सही है कि यज्ञमंडप भी एक विराट शिक्षणालय का काम करते थे। यज्ञ भी उस युग में कम नहीं होते थे। प्रत्येक जनपद में याज्ञिक ब्राह्मण थे। विशेषतः अग्निहोत्र उस युग में प्रातः व सायंकाल के नित्यकर्मो में गण्य था।

रामायण–काल एक यज्ञ–बहुल युग था। श्रेष्ठ यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा ही राजागण यश और गौरव प्राप्त करते थे। लक्ष्मण ने सुग्रीव के सम्मुख अपने पिता का परिचय अग्निष्टोम आदि प्रभूत दक्षिणा वाले यज्ञों के कर्ता के रूप में दिया था।

अयोध्यापुरी में समृद्ध, गुणी, वेद–पारंगत एवं यज्ञ–कर्ता ब्राह्मण निवास करते थे।[२५२] राम ने भरत से चित्रकूट में पूछा था –"तुमने अपने राज्य में अग्निहोत्र करने के लिए बुद्धिमान, सरलचित्त एवं विधियों के ज्ञाता व्यक्ति को ही नियुक्त किया है ? यज्ञों की समाप्ति और उनके आरम्भ का उपयुक्त समय वह तुम्हें सदा बताता रहता है ?"

उस युग के यज्ञ–समारोह अपनी विद्वत परिषदों तथा गंभीर ज्ञान–चर्चाओं के कारण शिक्षा–प्रसार के प्रबल साधन सिद्ध होते थे। इन यज्ञों से जहां यजमान संपत्ति, शक्ति, दीर्घायु, संतति और स्वर्ग–प्राप्ति की कामना करता था, वहां निमंत्रित अतिथियों को अन्न–पान, स्नेह–सम्मान तथा भेंट पुरस्कार देकर धन और सत्ता का पुनर्वितरण भी स्वतः हो जाता था। वास्तव में राम का अश्वमेघ बौद्धिक महामेल या महासम्मेलन था, जिसे तब विभिन्न भागों में विजित किया गया था। यज्ञ–भूमि को 'यज्ञ–वाट', आश्रमों से आये ऋषि–मुनि के निवास–स्थान को 'ऋषि–संवात' तथा वाल्मीकि और उनकी मंडली के निर्मित आवास को 'वाल्मीकि–वाट' के नाम से अभिहित किया गया।

कथा–शैली भी एक लोकप्रिय शिक्षा–प्रणाली थी। इसके अनुसार गुरु रोचक एवं उपदेशपूर्ण कथाएं सुनाकर शिष्य को ऊँचे धार्मिक और नैतिक सिद्धान्त हृदयंगम करा देता था। ये कथाएं परंपरागत होती थीं और उनमें महान् नर–नारियों की स्मरणीय कृतियां उपनिबद्ध रहती थीं। वनवासी ऋषि–मुनि इन कथाओं के भंडार होते थे। वे इन कथाओं के माध्यम से अपने शिष्यों को पौराणिक साहित्य से अवगत करा दिया करते थे। शिक्षा की इस कथा–शैली के अनेक लाभ थे। शुष्क और गंभीर ज्ञान कथा–कहानियों के रूप में प्रस्तुत होकर सरस, सुबोध और आकर्षक बन जाता था।

आर्ष–ग्रन्थों को सीखने के लिए उनका प्रातःकाल उच्च्व स्वर से घोष किया जाता था। अंधमुनि ने अपने मृत पुत्र के लिए विलाप करते हुए कहा था कि अब शेष रात्रि में अध्ययन करते हुए कौन मुझे मधुर स्वर से वेदों का पाठ या शास्त्रचर्चा सुनाया करेगा।[२५३] वैदिक आश्रमों का वायु–मंडल मंत्रों के घोष से गुंजायमान रहता था।[२५४]

प्राचीन शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र (अग्रहार गाँव)

प्राचीन भारत में शुभ अवसरों पर राजा ब्राह्मणों को अपनी सभाओं में निमंत्रित करते थे तथा उन्हें किसी गाँव में बसाकर उनके निर्वाह के लिए उस गाँव की सारी आय उन्हें दान कर देते थे। ऐसे गाँवों को अग्रहार कहते थे और प्रकृत्या ये उच्च शिक्षा के केन्द्र हो जाते थे जहाँ संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन होता था। ऐसे दो अग्रहार गाँवों का विवरण उदाहरण के लिए दिया जायगा। राष्ट्रकूटों के शासनकाल में वेद, पुराण, न्याय दंडनीति, निबंध तथा टीका आदि में पंडित २०० विद्वानों को कर्नाटक प्रदेश में धारवाड़ जिले में कादियूर—आधुनिक नाम कलास—नामक गाँव अग्रहार में मिला था।[२५५] यह गाँव शिक्षा के कार्यसाधक केन्द्र के रूप में विख्यात था।[२५६]

सर्वज्ञपुर (मैसूर के हसन जिले का आधुनिक अर्सिकेर गाँव) एक अन्य अग्रहार गाँव था। यहाँ के कतिपय स्थानों पर ब्राह्मण वेद, शास्त्र और षड्दर्शन पढ़ा करते थे। यहाँ के ब्राह्मण या तो वेदाध्ययन करते रहते थे या किसी अन्य तत्व—विद्या के व्याख्यान सुनते थे या न्याय पर विवाद किया करते थे। सर्वज्ञपुर के ब्राह्मण अध्ययन तथा धर्म और नीति के वाक्यभूतों के श्रवण में तल्लीन रहा करते थे।[२५७]

उक्त दोनों अग्रहार गाँव अपने वर्ग का सही प्रतिनिधित्व करते थे। सामान्यतया प्रत्येक अग्रहार गाँव में ब्राह्मण संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन करते थे। इसी के लिए तो उन्हें दान भी मिलते थे। कभी—कभी अन्य गाँवों में भी उच्च शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इनके पंडितों को भी गाँव दान में मिलते थे क्योंकि यहाँ देश—देशान्तरों से ज्ञानपिपासु आते थे। पाण्डचेरी से १५ मील दक्षिण बाहुर ऐसा ही एक गाँव था।[२५८]

उड़ीसा में अग्रहार उच्च शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे।[२५९] वहाँ ब्राह्मण शिक्षक का कार्य करते थे। राजकीय सहायता प्राप्त होने के बावजूद ये अग्रहार पूर्णरूप से स्वायत्तशासी संस्था के रूप में थे।[२६०] माठरवंश के शासक उमावर्मन के राज्य में

बत्तीस अग्रहारों के होने का उल्लेख मिलता है।[२६१] वट्टपल्लिक नामक अग्रहार, सातवीं सदी ईसवी में उड़ीसा का एक प्रसिद्ध अग्रहार था, जिसके प्रमुख हरिस्वामी तथा बप्पस्वामी थे।[२६२] गंगशासक भानुदेव प्रथम के अग्रहार को दान देने का सन्दर्भ प्राप्त है।[२६३] गजपतिवंश के शासनकाल में अग्रहार शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।[२६४]

टोल

ये टोल आधुनिक काल में भी बंगाल, विहार और उत्तर प्रदेश में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल से टोलों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के जीवन–निर्वाह के लिए दान दिये जाते थे।[१६५] कार्नवालिस के स्थाती बंदोबस्त से जब जमींदार निश्चित हो गये और उनको अधिक लाभ होने लगा तब उन्होंने भी टोलों को अधिक दान देना प्रारम्भ किया। जिस टोल को ये दान प्राप्त न थे उनके पण्डित मेलों, त्योहारों तथा धनिकों से चंदे इकट्ठे कर विद्यार्थियों के भोजन–आच्छादन का व्यय निकाल लेते थे। इस प्रकार टोल भी अग्रहार गाँवों के एक रूप थे।

इन टोलों में झोपड़ियों में अध्यापन होता है। सामान्यतया प्रत्येक टोल में २५ विद्यार्थी होते थे। जो टोल के सन्निकट मिट्टी के झोपड़ों में रहते हैं। इनमें ६ या ८ साल का पाठ्यक्रम होता है ताकि विद्यार्थी प्रवेशिका परीक्षा में सम्मिलित हो सकें। इस देश के विद्वान ब्राह्मण सर्वदा योग्य विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा देने के लिए उत्सुक रहते थे। यह परम्परा काशी, नासिक, बाई[१६६] और नदिया जैसे संस्कृत के प्राचीन केन्द्रों में अब भी जीवित है। इस प्रकार यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन और मध्यकाल में विद्यार्थी ऊँची से ऊँची शिक्षा निःशुल्क प्राप्त कर सकता था। यदि वह आचार्य के लिए कुछ शारीरिक श्रम करने को तैयार हो तो निर्धनता उसके मार्ग में बाधक नहीं हो सकती थी।

अतः उपरोक्त से यह स्पष्ट होता है कि आरम्भ में पिता ही शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करते थे और परिवार पाठशाला होती थी। धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरू कहा गया है, किन्तु विकास के क्रम में शिक्षा का स्वरूप एवं क्षेत्र विस्तृत होता गया।

सामान्य अध्ययन की जगह विशेषाध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हुई। विषय विशेषज्ञ अवतरित हुए तथा सम्बन्धित ज्ञान को वितरित करने के उद्देश्य से निजी पाठशालाएँ स्थापित होने लगी। कालान्तर में ऐसी ही पाठशालाएँ गुरूकुलों के रूप में अपनी पहचान बनाई।

कतिपय शिक्षणशालायें बड़े शिक्षण–संस्थान के रूप में स्थापित एवं विकसित हुए। तक्षशिला और काशी जैसी संस्थाएँ इसी प्रकार की थीं। बौद्ध धर्म के विकासोपरान्त संघाराम, मठ एवं विहार बौद्ध शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बने। कालान्तर में कई मठ एवं विहार बड़े संस्थान के रूप में स्थापित हुए। बौद्धों से प्रभावित होकर दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों ने भी अपने मन्दिरों में शिक्षाण कार्य प्रारम्भ किया। यद्यपि बड़े शिक्षण–संस्थान कतिपय प्रसिद्ध क्षेत्रों तक ही सीमित थे, जहाँ धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म के अतिरिक्त अन्य विषयों की उच्च्व शिक्षा दी जाती थी, जबकि शेष क्षेत्रों में शिक्षा प्रदान करने का कार्य वे ही शिक्षक करते रहे, जो स्वेच्छा से अध्यापन कार्य करते आ रहे थे। इस कार्य में तत्कालीन पुरोहित वर्ग भी सम्मिलित था। ये शिक्षक प्रारम्भिक शिक्षा के साथ–साथ विभिन्न शिल्पों, ललितकलाओं एवं अन्य उपयोगी विषयों की भी शिक्षा प्रदान करते थे।

यद्यपि प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य वैदिक ज्ञान से था, फिर भी तत्कालीन शिक्षा वैदिक धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म पर ज्यादा केन्द्रित रही। वेदों का अध्ययन–अध्यापन, आध्यात्मिक चिंतन एवं मनन ब्राह्मणों का धर्म माना गया था। अतः प्रारम्भ में प्रत्येक ब्राह्मण स्वयं में एक संस्था था, उसका व्यक्तिगत प्रयास ही शिक्षा के उत्थान में सहायक बनता था। यद्यपि, तक्षशिला और काशी जैसे प्रमुख नगर प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित होने लगे थे, जहाँ विद्वान ब्राह्मण स्वेच्छा से शिक्षण कार्य करते थे तथा शिक्षार्थियों की संख्या अधिक होने पर वे ज्येष्ठ शिष्यों की मदद से अपने शैक्षिक दायित्वों का निवर्हन करते थे। किन्तु, वर्तमान की भांति किसी स्वतंत्र संस्था का उल्लेख नहीं मिलता।

भारत में सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाओं को स्थापित एवं विकसित करने का श्रेय बौद्धों को जाता है। प्रारम्भिक बौद्ध मठ एवं विहार जिज्ञासु भिक्षुओं को धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म की शिक्षा प्रदान करते थे, किन्तु आगे चलकर जनसाधारण वर्ग भी बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुआ और शैक्षिक पाठ्यक्रमों का फलक विस्तृत होता गया।

बौद्धों से प्रेरणा प्राप्त कर ब्राह्मणों ने भी देवालयीय शिक्षा की परम्परा प्रारम्भ की। इस प्रकार परिवार, गुरूकुल, देवालय, संघाराम, मठ एवं विहार आदि आलोच्यकालीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र रहे, जो विकास के क्रम में बड़े शिक्षण–संस्थाओं के रूप में स्थापित हुए। देशभर में विभिन्न शिक्षण–संस्थाओं एवं विद्यापीठों का विकास हुआ, जो गुरूकुलीय आश्रम, ऋषिकुल, आचार्य–कुल, तक्षशिला, नालन्दा, वलभी आदि रूप में वर्णित है। इन संस्थाओं को दो वर्गो में विभक्त करना समीचीन होगा – 'ब्राह्मण शिक्षण केन्द्र एवं संस्थाएँ' तथा 'बौद्ध शिक्षण केन्द्र एवं संस्थाएँ'।

प्रारम्भ में प्रत्येक अध्यापक स्वयं में एक संस्था था। व्यक्तिगत प्रयास से चलने वाले विद्यालय सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे, जो प्रसिद्ध तीर्थ स्थल या धार्मिक केन्द्र होते थे। किन्तु, कालान्तर में शिक्षा का क्षेत्र एवं उसका फलक विस्तृत होने के कारण शासक एवं कुलीन वर्ग के सहयोग से प्रमुख नगर और कतिपय गांव शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में विकसित हुए। तक्षशिला, कन्नौज, मिथिला, धारा, काशी, अनहिलपाटन, कांची, मालखेड़, कल्याणी, नासिक, तंजौर और कर्नाटक जैसे स्थल प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। कभी–कभी शासक या कुलीन वर्ग के सम्भ्रांत व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वानों को आमंत्रित कर और उनकी जीविका का समुचित प्रबन्ध कर किसी गांव में बसा देते थे, जिनका प्रमुख कर्तव्य लोगों को शिक्षा प्रदान करना होता था। इस प्रकार के ग्राम "अग्रहार ग्राम" कहलाये।

व्यवस्थित–शिक्षण संस्थाओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम "गुरूकुलीय शिक्षा प्रणाली" का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में आचार्य–कुल ही व्यवस्थित शिक्षा के प्रधान केन्द्र होते थे। महाकाव्य साहित्य से ज्ञात होता है कि जिज्ञासु शिक्षार्थी महान ऋषियों

के सान्निध्य में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनयन संस्कार के उपरान्त वे आचार्य कुल में निवास कर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे।

उपनिषद् साहित्य में "गुरूकुल" के स्थान पर "आचार्य कुल" का प्रयोग मिलता है। कालान्तर में गुरूकुल के दो प्रकार विकसित हुए, एक गृहस्थ गुरू आश्रम एवं दूसरा वानप्रस्थ प्रव्रजित–आश्रम। महाकाव्य साहित्य में भी गुरूकुलों का दृष्टान्त मिलता है, जो शिक्षा के विख्यात अधिष्ठान थे। बुद्ध के उपरान्त उनके विचारों एवं सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रचार–प्रसार हुआ। संघाराम, मठ एवं विहार, जो प्रारम्भ में विशुद्ध धार्मिक केन्द्र थे, शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बनते गये और बड़े शिक्षण संस्थाओं के रूप में स्थापित हुए।

प्रारम्भ में इन स्थानों पर मुख्यतः धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी, किन्तु कालान्तर में जनोपयोगी विषयों की भी शिक्षा दी जाने लगी। प्रारम्भ में इनके नियम और अनुशासन गुरूकुलीय शिक्षा पद्धति की भांति था, किन्तु उत्तरकाल में सांगठनिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत इनका विकास हुआ। राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, लुम्बिनी आदि कई नगरों में मठों एवं विहारों का उदय हुआ जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप में विकसित हुए। इन विहारों में श्रावस्ती का जेतवन, कपिलवस्तु का निग्रोधाम, वैशाली का कुटागार शाला तथा आम्रवन, राजगृह का वेणुवन, यष्टिवन और सीतावन आदि उल्लेखनीय है।

नालन्दा, वलभी और विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र, जो प्रारम्भ में बौद्ध विहार थे, उसकी व्यवस्था संघ के सदस्य देखते थे। कालान्तर में वह प्रसिद्ध शिक्षण–संस्था के रूप में स्थापित हुआ। बौद्ध मठ एवं विहार, जो प्रारम्भ में धार्मिक केन्द्र थे। वृहद शिक्षण संस्था के रूप में स्थापित हुए, जहाँ धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त विभिन्न शिल्पों, तथा ललित कलाओं एवं अन्य उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। कोने–कोने में मठों एवं विहारों का जाल बिछा हुआ था, देश–विदेश के लगभग १० प्रतिशत छात्र विभिन्न विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। भारतीय राजाओं के

सहयोग एवं प्रोत्साहन के कारण मठ एवं विहार उच्च शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने।

इस प्रकार बौद्ध शिक्षण संस्थाओं में नालन्दा, वलभी एवं विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तथा कतिपय अन्य विद्यापीठ प्रमुख थे, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में स्मरणीय भूमिका का निर्वहन करते हुए ज्ञान वितरण की उच्च परम्परा को बनाए रखा।

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १०–११।
२. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १७।
३. मनुस्मृति, १, ६।
४. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, १९१८, पृष्ठ २४०।
५. मुखर्जी, राधाकुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ ४४३।
६. वही, पृष्ठ ४५२।
७. चुल्लवग्ग, ६। ५, ६। ७।
८. वही, ५। २८।
९. वही, ५। ११।
१०. ला ; बी० सी०, हिस्टारिकल ग्लीनिंग्स, पृष्ठ ६।
११. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था इण्डियन प्रेस प्रा० लि० इलाहाबाद १९८०, पृष्ठ ६७।
१२. वही, द्वितीय उच्छ्वास। वही, पृष्ठ ६८।
१३. मुकर्जी, राधा कुमुद, ऐन्शियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ २११।
१४. सचाउ, अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग १, पृष्ठ १२५।
१५. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एन्सिएण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३२।
१६. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्करण, पृष्ठ १७६।
१७. दास, एस० सी०, इण्डियन पंडित्स इन दि लैण्ड आफ स्नो, कलकत्ता, १८९३, पृष्ठ ३–११।
१८. दास, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, कलकत्ता, १९६३ पृष्ठ ४३।
१९. वही, पृष्ठ १७।
२०. वाटर्स, आन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन, १९०४, भाग २, पृष्ठ १६५ ; लाइफ आफ ह्वेनसांग बाई शमत लुई० ली, लन्दन, १९११।
२१. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ दि बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज, मद्रास १९२५, पृष्ठ ४७।
२२. वाटर्स, आन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन, भाग १, पृष्ठ १३६।
२३. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १७, पृष्ठ ३१०।
२४. वाटर्स, आन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन, भाग १, पृष्ठ १७६।
२५. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १२, पृष्ठ १९३–९४।
२६. वही, भाग १७, पृष्ठ ३१०, भाग २०, पृष्ठ ४४।

२७. मनुस्मृति २, ११०।
२८. वही, २, ११२।
२९. याज्ञवल्क्य स्मृति, १, ६।
३०. वही, मिताक्षरा, १, ६।
३१. डुट, आर० सी०, सिविलाइजेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, भाग १।
३२. मुकर्जी, आर० के०, दि कल्चर एण्ड आर्ट आफ इण्डिया, पृष्ठ १८७ ; दास, एस० के०, दि एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एन्शियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३२३–३२५।
३३. मेहता, दि बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ २९९।
३४. (क) महाभारत, वनपर्व, पृष्ठ १०१।
(ख) वही, पृष्ठ ९६–९९
(ग) रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ४५।
(घ) रघुवंश, १४, ३८।
(ड.) उत्तररामचरित, ४, ५, ३१–३३।
(च) कथा सरित्सागर, भाग १, पृष्ठ १६६।
३५. यादव, डा० बी० एन० एस० सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृष्ठ ४०३।
३६. हर्षचरित, काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८६–८७।
३७. अग्रवाल, वी० एस०, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ५७–६२।
३८. हर्षचरित, काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८७।
३९. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एन्शियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ १७२।
४०. कादम्बरी, पृष्ठ ३८, ४१।
४१. हर्षचरित, अध्याय १, पृष्ठ ६९, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, ३६।
४२. दास एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एन्शियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ १७।
४३. वही, पृष्ठ १७।
४४. वही, पृष्ठ ५९।
४५. छान्दोग्योपनिषद् ८। ५। ३।
४६. मनुस्मृति ३। ७०।
४७. उपाध्याय, राम जी, कल्याण, शिक्षांक, पृष्ठ २३१–२३२।
४८. वही, पृष्ठ २३३–२३४।
४९. रामायण, ३। १। ३।
५०. वही, ३। ६२। ६।

५१. रामायण, ३। १७। १४।
५२. वही, ३। ११। ६०।
५३. वही, १। २०। २।
५४. वही, १। २३। १५।
५५. वही, २। ६४। ३२।
५६. वही, २। ६१। ४२।
५७. वही, २। ५४। ३४।
५८. वही, १। ३४। १२।
५९. वही, ३। १२। ३२।
६०. वही, २। ३१। ३१।
६१. वही, २। १००। १४।
६२. वही, २। ३२। १६।
६३. व्यास, नानूराम शान्तिकुमार, रामायण कालीन संस्कृति, १९८७, सस्ता साहित्य मंडल, पृष्ठ १२५–१२७।
६४. महाभारत, ७.१०१, १०–१६।
६५. वही, १.३.२०।
६६. जातक, ३, पृ० १५८।
६७. छान्दोग्य उपनिषद् ४–१०, ३. ; पराशर स्मृति की माधव टीका में कात्यायन का वचन, जिल्द, ३. १, पृ० १४८।
६८. जातक संहिता, २५२।
६९. महाभारत १३–३६. १५।
७०. गोपथ ब्राह्मण, १–२। १–८।
७१. वृहदारण्यक उपनिषद ५. २. १, ६.१। छान्दोग्य उपनिषद। ५. ३।
७२. मनुस्मृति २। १७७।
७३. यादव, आर० पी०, प्राचीन भारतीय कला, १९९५, पृ० ८२।
७४. ऋग्वेद ७, २, ११।
७५. वही, १, २४, ७।
७६. महाभारत सभापर्व, २२, २०।
७७. इण्डियन आर्किटेक्चर।
७८. रघुवंश, १, ४१।

७६. सुब्रमनियन, के आर० ; बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आन्ध्र, पृ० ५३–६३।
८०. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृष्ठ ४८।
८१. स्पूनर, एक्सकैवेशन एट तख्त–ए–बाही, ए० एस० ए० आई० आर० १६०७–०८।
८२. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ४२।
८३. वही, पृष्ठ २४।
८४. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृष्ठ ११४।
८५. वही, पृष्ठ ११६।
८६. बील, बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पुष्ठ ५५।
८७. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृष्ठ १८१।
८८. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट, इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ ५०६।
८६. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृष्ठ २१४।
६०. वही, पृष्ठ २१७। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १६८०, पृष्ठ ७३।
६१. वही, पृष्ठ २१८।
६२. वही, पृष्ठ २२५–२२६।
६३. वही, पृष्ठ २२६।
६४. क्षेमेन्द्र, देशोपदेश, पृष्ठ २६२।
६५. वही, पृष्ठ २६४।
६६. वही, पृष्ठ २६४।
६७. वही, पृष्ठ २६६।
६८. बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग १ पृष्ठ २६७।
६६. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृष्ठ २६८।
१००. वही, पृष्ठ २६८।
१०१. वही, पृष्ठ ३१४।
१०२. वही, पृष्ठ ३१६।
१०३. वही, पृष्ठ ३२२। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १६८०, पृष्ठ ७५।
१०४. वही, पृष्ठ ३२२।
१०५. वही, पृष्ठ ३३१।
१०६. वही, पृष्ठ ३३१।

१०७. बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग १ पृष्ठ ३३३। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १९८०, पृष्ठ ७५।
१०८. वही, पृष्ठ ३४०। वही।
१०९. वही, पृष्ठ ३५२।
११०. वही, पृष्ठ ३५५।
१११. वही, पृष्ठ ३६१।
११२. वही, पृष्ठ ३३६।
११३. वही, पृष्ठ ३७४।
११४. वही, पृष्ठ ३७७।
११५. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३४१।
११६. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ १।
११७. वही, पृष्ठ ४४।
११८. वही, पृष्ठ ४८।
११९. वही, पृष्ठ ६३। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १९८०, पृष्ठ ७६।
१२०. वही, पृष्ठ ८१।
१२१. वही, पृष्ठ ८३।
१२२. वही, पृष्ठ १००।
१२३. बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ १०२–३।
१२४. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ १८४।
१२५. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ १०८। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १९८०, पृष्ठ ७७।
१२६. वही, पृष्ठ ११०।
१२७. वही, पृष्ठ २४२।
१२८. वही, पृष्ठ २४७।
१२९. बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ ७१।
१३०. कल्हण, राजतरंगिणी, १, ९३। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १९८०, पृष्ठ ७७।
१३१. वही, १, ९४।
१३२. कल्हण, राजतरंगिणी, १, ९८।

१३३. कल्हण, राजतरंगिणी, १, १४७।

१३४. बाशम, ए० एल०, दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृष्ठ १६५।

१३५. यादव, डा० बी० एन० एस० सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृष्ठ ४०३।

१३६. वही, पृष्ठ १५।

१३७. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, २६, ७, २३।

१३८. कल्हण, राजतरंगिणी, १, १६६। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १६८०, पृष्ठ ७८।

१३६. वही, १, २००।

१४०. वही, ३, ६।

१४१. वही, ३, ११।

१४२. वही, ३, १३। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १६८०, पृष्ठ ७८।

१४३. वही, ४, ७६। वही, पृष्ठ ७८।

१४४. वही, ४, ३।

१४५. वही, ८, २४६, २४८। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १६८०, पृष्ठ ७८।

१४६. कल्हण, राजतरंगिणी, ८, २४०२।

१४७. वही, ४, १८४, १८८।

१४८. वही, ४, २००।

१४६. वही, ४, ५०७।

१५०. वही, ३, ३५६।

१५१. वही, ३, ३८०। गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, इण्डियन प्रेस (प्राइवेट लिमिटेड) १६८०, पृष्ठ ७६।

१५२. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५३१।

१५३. कल्हण, राजतरंगिणी, १, १६६।

१५४. बाशम, ए० एल०, द वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृष्ठ १७८।

१५५. अल्तेकर ए० एस०, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ७५।

१५६. वही, पृष्ठ १७५।

१५७. दास, एस० के०, एजुकेशन सिस्टम आफ दि एंशिण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३०८।

१५८. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, पृष्ठ ८६।
१५९. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृष्ठ २४०–४५।
१६०. अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन, इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११६।
१६१. वही, पृष्ठ ११६।
१६२. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ ८६।
१६३. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ १६४।
१६४. (अ) इत्सिंग – रिकार्ड आफ० बुद्धिस्ट रिलिजन, पृष्ठ ५४।
(ब) अल्तेकर, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११७।
(स) पाठक, हलधर – कल्चरल हिस्ट्री आफ दि गुप्ता पीरिएड, पृष्ठ १६५।
१६५. बील, बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग २, पृष्ठ ११२।
१६६. वही।
१६७. अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११६।
१६८. मुकर्जी आर० के०, पृष्ठ ५५७।
१६९. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ १५४।
१७०. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इण्डिया, पृष्ठ १०६।
१७१. वही, पृष्ठ २६।
१७२. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३६६।
१७३. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५६४।
१७४. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृष्ठ १७७। बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ १७०।
१७५. बील, बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग २, पृष्ठ १७१।
१७६. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५६५।
१७७. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ ६५।
१७८. दास, एस० सी० इण्डियन पंडित्स इन दि लैण्ड आफ स्नो, पृष्ठ ४८।
१७९. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ १३१–३२।
१८०. दास, एस० सी०, इण्डियन पंडित्स इन दि लैण्ड आफ स्नो, पृष्ठ ५१।
१८१. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ १३७।
१८२. बील, बुद्धिस्ट रेकार्डस् आफ दि बेस्टर्न वर्ल्ड, भाग २, पृष्ठ १७१।
१८३. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५७७।
१८४. अल्तेकर, ए० एस०, एजूकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२५।

१८५. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ दि बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ ३०।
१८६. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५८७।
१८७. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ दि बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ ३४।
१८८. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५८८।
१८९. विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृष्ठ ७९।
१९०. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ दि बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ ४७–६१।
१९१. अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १३०।
१९२. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ दि बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ ३२।
१९३. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५८९।
१९४. विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृष्ठ १३९।
१९५. वही, पृष्ठ १३८–१४०।
१९६. वही, पृष्ठ १३६–१३७।
१९७. अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२५।
१९८. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, भाग ६, पृष्ठ ६।
१९९. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग २, पृष्ठ २६६।
२००. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ १७७।
२०१. सोमदेव, कथा सरित्सागर, अध्याय ३२, पृष्ठ ४२–४३।
२०२. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ १७६–७७।
२०३. वही, पृष्ठ १७४।
२०४. अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२६।
२०५. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३९८।
२०६. बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, मद्रास, १९२३, पृष्ठ १५६।
२०७. वही, पृष्ठ १५६–५८।
२०८. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३८२।
२०९. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५६५।
२१०. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३८३।
२११. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५६५।
२१२. वही, पृष्ठ ५६५।
२१३. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३८५।

२१४. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ ८६।
२१५. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३८५।
२१६. मत्स्य पुराण, १८१, १७।
२१७. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ३८६।
२१८. वैद्य, सी०वी० मेड्यूवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृष्ठ २१४।
२१९. अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११४।
२२०. सचाऊ, अल्वेरूनीज इण्डिया, पृष्ठ १५६।
२२१. मेहता, आर० एन०, प्रि बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ २९६।
२२२. पं० दामोदर, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, बम्बई, १९५३, पृष्ठ १३, २८।
२२३. वही, पृष्ठ ७६।
२२४. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५१६।
२२५. वही, पृष्ठ ५१६।
२२६. वही, पृष्ठ ५१६
२२७. वही, ५९७।
२२८. दास, एस० के०, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशियण्ट हिन्दुज, पृष्ठ ३४०।
२२९. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ ११४।
२३०. वही, पृष्ठ ३३।
२३१. कादम्बरी, राइडिंग का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २१०–११।
२३२. वही, पृष्ठ २१२।
२३३. सचाउ, अल्बेरूनीज इण्डिया, लन्दन, १८८८, भाग १, पृष्ठ १८९।
२३४. वही, पृष्ठ १९१।
२३५. वही, पृष्ठ ३०४।
२३६. पुरी, बी० एन०, हिस्ट्री आफ गुर्जर प्रतिहार, पृष्ठ २२८।
२३७. श्रीमाल पुराण, ७१, ६ उद्धृत, सिंधी जैन सिरीज, भाग ३, पृष्ठ ७।
२३८. कन्हड़ दे प्रबन्ध, ५५, २२–२९, राजस्थान पुरातत्व मन्दिर।
२३९. शर्मा, दशरथ – अर्ली चौहान डाइनेस्टी, पुष्ठ ३२४।
२४०. सिंधी जैन सिरीज, भाग ४, पुष्ठ ७।
२४१. वही।
२४२. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५९९।
२४३. मजुमदार, आर० सी०, द स्ट्रगल फार एम्पायर, पृष्ठ ४०।

२४४. मजुमदार, आर० सी०, द स्ट्रगल फार एम्पायर, पृष्ठ ४०।
२४५. मुकर्जी, राधा कुमुद, एंशियण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ ५६७।
२४६. वही, पृष्ठ ५६८।
२४७. पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, २००२, पृष्ठ १७४।
२४८. अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १००–१०१।
२४६. लघु–स्मृति, १६।
२५०. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १४६, श्लोक ५५।
२५१. इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८८७, पृष्ठ २०३।
२५२. रामायण, २। ७१। २०–१।
२५३. वही, २। ६४। ३२।
२५४. वही, ३। १। ६।
२५५. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १३, पृष्ठ ३१७।
२५६. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १०७।
२५७. एपिग्राफिया कर्नाटका, पांचवाँ भाग, पृष्ठ १४४।
२५८. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १६, पृष्ठ १४।
२५६. दास, विस्वरूप, उड़ीसा, सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया (सि १०००–१२०० ए० डी०) नई दिल्ली, १६७२, पृष्ठ ६४।
२६०. एपिग्राफिका इण्डिका, खण्ड ३१, पृष्ठ ११०।
२६१. वही, खण्ड १२, पृष्ठ ४–६।
२६२. वही, खण्ड ६, पृष्ठ ३४२।
२६३. वही, खण्ड ३१, पृष्ठ ११०।
३६४. सुब्रमनियम, आर०, सूर्यवंशी गजपतीज आफ उड़ीसा, वाल्टेयर, १६५७, पृष्ठ १४५।
२६५. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १०८।
२६६. वही, पृष्ठ १०६।

पंचम अध्याय

मठों, मन्दिरों एवं अन्य शिक्षण संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था

मठों, मन्दिरों एवं अन्य शिक्षण संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था

राजाओं एवं महाराजाओं के औदार्यपूर्ण दान के फलस्वरूप अनेक शिक्षा संस्थाओं का जन्म हुआ था। राजाओं ने विश्वविद्यालयों की स्थापना हेतु भवनों का निर्माण कराया। भवन निर्माण का कार्य राजाओं के द्वारा ही नहीं बल्कि सम्पन्न लोगों द्वारा भी किया गया।[१] शिक्षा सम्बन्धित सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक सहायता व अनुदान देने के बावजूद भी राज्य को शिक्षा संस्थाओं का शासन करने का अधिकार नहीं था।[२]

विहार एवं मन्दिर निर्माण तथा उसकी व्यवस्था सम्बन्धी एक चीनी यात्री के ७३२ में लिखे विवरण इस प्रकार हैं :–[३,४]

"पंचभारत में यह नियम है कि राजा, रानी और नरेशों से लेकर सरदार और उनकी पत्नियाँ तक सभी अपनी–अपनी क्षमता और सामर्थ के अनुसार अलग–अलग विहार बनवाते हैं। हर एक अपना अलग मन्दिर बनवाता है, किन्तु मिलजुल कर कोई नहीं बनवाता। उनका कहना है कि हर व्यक्ति में धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती हैं तो फिर मिलजुल कर इसके लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है।"

जब कोई विहार बनाया जाता था, गाँव और उसके निवासी तत्काल धर्म, संघ और बुद्ध की सेवा करने के लिए समर्पित कर दिये जाते थे। ऐसा नहीं होता कि सिर्फ विहार बनवा दिये जायं और कोई गाँव और उसके निवासी उसे दान में न दिए जाएं। बाहरी देश इसे एक आदर्श मानकर इसका अनुसरण करते थे। राजा, राजमहिषी और अन्य रानियों के निजी स्वामित्व में अलग–अलग गाँव और अलग ग्रामवासी लोग होते थे। नरेशों और सरदारों के निजी स्वामित्व में भी गाँव और ग्राम निवासी होते थे। इसीलिए ये दान स्वतन्त्र रूप से दिये जाते थे और इसके लिए राजा की अनुमति नहीं

ली जाती थी। मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध में भी यही स्थिति थी। जब कभी मन्दिर बनवाने की आवश्यकता होती थी, ये बनवा लेते थे और इसके लिए राजा की अनुमति नहीं लेते थे। राजा इसमें कोई बाधा डालने का साहस नहीं करता था। उसे भय रहता है कि ऐसा करके वह पाप का भागी न बन जायं। जहाँ तक राजपुरुषेतर समृद्ध लोगों का सम्बन्ध था, यद्यपि उनके निजी स्वामित्व में कोई गाँव नहीं होता, फिर भी वे मन्दिर बनवाने और खुद ही उसका खर्च चलाने की भरसक कोशिश करते थे। जब भी उन्हें कोई बड़ी वस्तु उपलब्ध होती थी, वे उसे धर्म, संघ और भगवान बुद्ध को समर्पित कर देते थे। चूंकि पंचभारत में किसी भी मनुष्य को बेचा नहीं जा सकता, इसलिए यहाँ स्त्रियाँ भी गुलाम नहीं थी। इच्छा और आवश्यकता होने पर गाँव और उसके निवासी दान किए जा सकते थे।''

वाकाटक राजा द्वितीय प्रवरसेन के चम्मक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि एक सहस्त्र ब्राह्मणों को एक गाँव दान में दिया गया था और उनके कर्तव्य भी निर्धारित किये गये थे। उन्हें हिदायत दी गयी थी कि वे राजा व राज्य के विरूद्ध द्रोह नहीं करेंगे[५], चोरी व व्यभिचार नहीं करेंगे और दूसरे गाँवों से लड़ाई नहीं करेंगे।[६] अनुदान की धाराओं के अनुसार इसके उपयोक्ता दो देवता थे, जिनकी पूजा व और मन्दिरों की मरम्मत के लिए दाता और ग्रहीता के बीच हुए इकरारनामें के अनुसार दान दिया गया था।[७] आदिवासी सरदार पुलिंदभा ने पिष्टपुरिका देवी की पूजा व उसके जीर्णोद्धार के लिए दो गाँव कुमार स्वामिन को स्थायी अनुदान के रूप में दिये।[८]

पूर्व बंगाल स्थित अशरफपुर नामक स्थान से प्राप्त ताम्रपत्रों[९] से पता चलता है कि बौद्ध मठ के प्रधान के नाम से दान दिये गये जमीन के टुकड़े पुनः वापस ले लिए गये। यह बात अभिलेखों में प्रयोग किये गये, भोज्यमान[१०] या भोज्यमानक[११] शब्दों से स्पष्ट होती है। कुछ मामलों में तो एक ही भूमि के टुकड़े का उपयोग दो लोगों के करने के बाद वह बौद्ध आचार्य संघ मित्र के मठ को पुनः वापस कर दिया गया।[१२]

१३०वीं ईस्वी के एक सातवाहन अभिलेख में राजकीय भूमि का एक टुकड़ा बौद्ध

भिक्षुओं को दान किया गया था।[१३]

दक्षिण भारत के पश्चिमी भाग में ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी में ब्राह्मणों को यज्ञ–भाव से दान दिये गये।[१४]

गुप्तकालीन नारद स्मृति से स्पष्ट है कि – खिल क्षेत्र[१५] के साथ–साथ मन्दिरों में सेवा करने वाले लोगों के लिए थोड़ी सी वास भूमि भी दी गयी थी।[१६] खिल वह भूमि थी जो ३ वर्षों से जोती नहीं गयी थी। दामोदरपुर का एक दूसरा भूमि–अनुदान, जो पांचवी शताब्दी के अन्तिम चरण का है, उससे स्पष्ट होता है कि एक व्यापारी ने कोकामुख स्वामी नामक देवता को दान करने के लिए जो चार कल्यवाप जमीन खरीदी और श्वेतवराहस्वामि के लिए जो सात कल्यवाप जमीन खरीदी, वह आबाद जमीन थी।[१७]

पिष्टपुरिका देवी की पूजा और एक मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए ब्राह्मणों को दिये गये दो गाँव स्पष्ट रूप से आबाद थे।[१८] उन गाँवों में ब्राह्मण लोग रहते थे।[१९] बंगाल के समाचारदेव के छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक अभिलेख से पता चलता है कि वीरान भूमि को जोत में लाने के लिए उसे पुजारियों व मन्दिरों को अनुदान के रूप में दिया गया।[२०] पूर्वी बंगाल में बन प्रदेशों की भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए सौ से अधिक ब्राह्मणों को अलग–अलग व संयुक्त रूप से दिया गया था।[२१]

जिस वन प्रदेश की भूमि दान की गयी थी उसमें प्राकृतिक और अप्राकृतिक का भेद नहीं था, वहाँ झाड़ियों व बेलों का जाल सा बिछा हुआ था और वहाँ हिरण, भालू, बाघ, सॉप आदि अपनी इच्छानुसार घरेलू जीवन के समस्त आनन्दों का उपभोग करते थे।[२२] ब्राह्मण समाज को वहाँ महासामन्त प्रदोषशर्मन द्वारा निर्मित भगवान अनन्त नारायण के मन्दिर की देखभाल करने व उनकी पूजा करने के लिए लाया गया था।[२३] मध्य छठीं शताब्दी के बाद किसी समय तैयार किये गये, एक गाँव में ६३ ब्राह्मणों को दिये गये हिस्से का उल्लेख मिलता है।[२४] हर्षचरित से ज्ञात होता है कि हर्ष ने एक सैनिक अभियान में निकलने के पहले मध्यदेश में १००० हलों के साथ १०० गाँव

ब्राह्मणों को दान दिये। १००० हलों से लगभग १०००० एकड़ जमीन जोती जा सकती है।[२५]

फाह्यान कहता है कि 'मठों को खेत और बगीचे तथा उन पर खेती करने के लिए किसान व मवेशी दिये जाते थे'।[२६] छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मध्य भारत में पिष्टपुरी देवी के मन्दिर को दो भूमि अनुदान दिये गये।[२७] उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में पोखरि सरदार अनंतवर्मन ने गया जिले में एक सुखी व समृद्ध गाँव भवानी देवी को दान दिया[२८] बंगाल में पांचवी, छठी शताब्दियों में गोविन्द स्वामी मन्दिर[२९] श्वेतवाराह स्वामी मन्दिर[३०] और कोकामुखस्वामी मन्दिर[३१] को जमीन के टुकड़े दान किए गये।

तीसरी शताब्दी के मध्य से लेकर लगभग ७५० ईस्वी तक के कलचुरि–चेदि युग के इक्तीस अनुदानों में से दो बौद्ध विहारों को, तीन हिन्दू मंन्दिरों को और शेष छब्बीस ब्राह्मणों को दिये गये।[३२] फाहियान कहता है कि 'बुद्ध के निर्वाण के बाद से राजा महत्तर लोग तथा बौद्ध गृहस्थ भिक्षुओं के लिए विहार और घर बनवाते थे तथा उन्हें खेत–बगीचों के साथ ही जुताई–बुआई के लिए कृषक मजदूर और मवेशी भी देते थे। छठी शताब्दी के एक परवर्ती गुप्त राजा दामोदरगुप्त को एक सौ अग्रहर स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है।[३३] ऐसे अनुदान गुप्त सम्राटों ने भी दिये थे।[३४]

सातवीं–आठवीं शताब्दियों में भी ब्राह्मणों के मन में गुप्तकालीन अग्रहर अनुदानों की स्मृति बनी हुई थी और उन्होंने समुद्रगुप्त का नाम जोड़कर कम से कम दो जाली अनुदानपत्र तैयार कर लिए थे।[३५] ह्वेनसांग कहता है कि नालन्दा विहार का खर्च उसको दान दिये गये लगभग १०० गाँवों के राजस्व से चलता था।[३६] और ऐसा प्रतीत होता है कि इत्सिंग के समय तक अनुदान में दिये गये गाँवों की संख्या लगभग २०० तक पहुँच गयी थी।[३७]

प्रथम धारसेन (लगभग ५७५ ई० के तक अनुदान में धार्मिक ग्रहीता को आवश्यकतानुसार बेगार लेने का अधिकार दिया गया है।[३८] प्रथम शिलादित्य ने भी अपने ६०५ ई० के दानपत्र में[३९] और फिर ६१०–११ ई० के दानपत्रों में[४०] ठीक ऐसी ही

रियासत दी है। प्रारम्भ में ब्राह्मणों को एक से अधिक गाँव देने के अधिकार शायद ही वहीं मिलते हों।[४१] तीसरी शताब्दी के एक पल्लव अनुदान से विदित होता है कि जब एक भूमि–खण्ड ब्राह्मणों को दिया गया तब उसके खेतों को जोतने वाले चार बटायदार उसमें पहले की ही तरह बने रहे।[४२] गुप्तकाल में चुंगी और महसूल से होने वाली आय मन्दिरों को देने के बजाय राजा और सरदार लोग धार्मिक प्रयोजनों के लिए कुछ नकद देकर सन्तोष कर लेते थे।[४३]

धर्मपाल ने शायद नालंदा क्षेत्र में बौद्धों के अगुवा को एक गॉव प्रदान किया।[४४] देवपाल ने मुंगेर जिला के अन्तर्गत पेसिक[४५] नामक गाँव एक ब्राह्मण को दान किया।[४६] देवपाल ने ही नालंदा विहार को पांच गाँव दान में दिये।[४७] ९९३ ई० में महीपाल ने बौद्धों को धार्मिक प्रयोजनों के लिए उत्तर बंगाल में ३ गाँव और कुछ जमीन दान दिया।[४८] चार वर्ष बाद महीपाल ने पुनः धार्मिक प्रयोजनों हेतु एक गाँव किसी ब्राह्मणों को दान दिया।[४९]

काठियावाड़ के चालुक्य सामन्त प्रथम अवनिवर्मन के बेटे बलवर्मन ने ८९३ में तरुणादित्यंदेव के मन्दिर को एक गाँव दिया।[५०] उसी वंश के एक दूसरे चालुक्य सामन्त द्वितीय अवनिवर्मन ने उसी देवता के नाम उन्हीं शर्तों पर एक अन्य गाँव दिया।[५१] ९४६ ई० में उज्जैन के शासक महधव ने सूर्य मन्दिर को एक गाँव दिया।[५२] ९१४ ई० में पूर्वी काठियावाड़ के एक सामन्त धरवी वाराह ने एक शिक्षक को एक गाँव पुरस्कार में दिया।[५३]

९५६ ई० में अलवर में प्रतिहारों के एक गुर्जर सामन्त ने एक मठ के गुरू और एक के बाद एक जो लोग उसके शिष्य होते थे, उनके नाम एक गाँव दान में दिया।[५४] ७५३–५४ में दंतिदुर्ग ने कोल्हापुर के इलाके में एक ब्राह्मण को बसाया था।[५५] ८०६–८०७ में तृतीय गोविन्द ने नासिक के इलाके में एक ब्राह्मण को बसाया था।[५६] ८७१ में अमोघवर्ष ने कुछ ब्राह्मणों को तमाम अधिकार देकर एक गाँव में बसाया था।[५७] गोविन्द चतुर्थ के कैवे प्लेटो से ज्ञात होता है कि अपने सिंहासनारोहण के समय उसने

६०० गाँव ब्राह्मणों को धार्मिक एवं शैक्षणिक प्रयोजन से दान किया और ८०० गाँव मन्दिरों को दान किए।[५८] वनवासी के शासक छंकेष ने अपने प्रभु अमोघवर्ष को एक जैन मन्दिर को एक गाँव और कई क्षेत्र दान देने के लिए राजी कर लिया था।[५९] कुल मिलाकर राष्ट्रकूटों को उनके सामन्तों ने विद्वान ब्राह्मणों को काफी गाँव देकर ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी सत्ता को मजबूत किया।

प्रतिहार साम्राज्य के एक उत्तराधिकारी माधव ने इन्द्ररात व्रत निर्मित एक मन्दिर को अनुदान दिया।[६०] पालों ने धार्मिक प्रयोजन से खूब भूमि अनुदान दिए। इन अनुदानों के भोक्ता वैष्णव[६१] शैव[६२] मन्दिर थे। किन्तु इस दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण स्थान बौद्ध विहारों का था।[६३] सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नालंदा विहार के अधीन २०० गाँव थे।[६४] नौवीं शताब्दी में देवपाल द्वारा उसे पांच गाँव और मिले।[६५] इसी प्रकार उदन्तपुरी, विक्रमशिला और जगद्दल विहारों के अधीन सैकड़ों गाँव थे।[६६] प्रतिहारों के राज्य में भी बहुत से गाँव अग्रहर बनाए गये।[६७]

पालों और प्रतिहारों के राज्यों को मिलाकर मन्दिरों और ब्राह्मणों के अधीन जितने गाँव थे, अकेले राष्ट्रकूटों के राज्य में वे उनसे अधिक गाँवों के भौक्ता थे। छिटपुट तौर पर दान किए गये गाँवों के अतिरिक्त इस वंश के एक शासक ने ४०० गाँव पुनः दान किए और दूसरे राजा ने १४०० गाँव जिनमें से ६०० अग्रहर और ८०० गाँव थे, देवकुलों को दिए।

ग्वालियर के लोगों ने जमीन के कई टुकड़े स्थानीय मन्दिरों को दान किए।[६८] सेनापति अल्ल द्वारा बनवाये गये नवदुर्ग एवं विष्णु के मन्दिरों के अनुदानस्वरूप अनेक खेत मिले।[६९] श्री नाराणभट्टारक मन्दिर को, जिसे एक व्यापारी ने बनवाया था उसके द्वारा २०० अस्त चौड़ा और २२५ हस्त लम्बा एक छोटा सा खेत दान में दिया गया।[७०] अमोघवर्ष के शासनकाल में वर्तमान धारवार जिला के एलपुणुस के चालीस महाजनों ने एक पंडित को ८५ मत्तर भूमि दान दी।[७१] ६५१–५२ में कृष्ण चतुर्थ के समय में धारबार जिले में ५० महाजनों द्वारा १२ मत्तर जमीन मठ और शैक्षणिक प्रयोजन के लिए दान दी गयी।[७२]

भरतपुर राज्य में प्राप्त कामन शिलाभिलेखर में जो लगभग ९०५–६ का है, आठ अनुदानों का वर्णन है, जिनमें से सभी ७८६–७८७ से लेकर ९०५–९०६ के बीच स्थानीय देवता शिव के नाम दिये गये।[७३] पालों के राज्य में किसान सर्वपीड़ा के भागी थे।[७४] और ब्राह्मणों, मन्दिरों तथा विहारों को दान दिये गये गाँवों में राजा सर्वपीड़ा का अपना यह अधिकार छोड़ दिया करता था।[७५] ३४ अश्व विक्रेताओं ने वेहोआ में एकत्र होकर छः मन्दिरों को प्रत्येक घोड़े खच्चर आदि की बिक्री पर दो द्रम्म देने का वादा किया था।[७६] सीयडोणि के शासक उदयट ने विष्णु मन्दिर को वस्तुओं पर लगाये गये आगम शुल्क का एक हिस्सा सौंप दिया।[७७] वहाँ के कुछ व्यापारियों ने भी १६ दुकानों से होने वाली सारी आय विष्णु मन्दिर में स्थानान्तरित कर दी।[७८]

देवपाल के नालंदा अनुदानपत्र के अनुसार पांच गाँव भिक्षुओं की पूजन सामाग्री, पहनने और बिछाने के कपड़े, भोजन तथा औषधियाँ जुटाने ओर विहार की मरम्मत के लिए दान दिये गये।[७९] पंतिहारों के अधीन राजस्थान में कुछ मन्दिरों ने आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के निमित्त अपने जमीन के बिखरे टुकड़ों की चकबन्दी की।[८०] तेली लोग एक मन्दिर को स्वेच्छा से प्रति कोल्हू एक निश्चित मात्रा में तेल दिया करते थे।[८१] प्रतिहार शासक मथनदेव ने लच्छुकेश्वर मन्दिर के लिए प्रति घड़ा घी और तेल पर दो पलिकाओं का शुल्क लगाया और प्रत्येक पोल्लिक (तमोली) को उसने ५० पत्ते देने को कहा।[८२]

१२६५ में कोणार्क मन्दिर निर्माता द्वितीय नरसिंह देव ने अपने मन्त्री कुमार महापात्र भीमदेव शर्मा को सूर्यग्रहण के अवसर पर दो गाँव अनुदान में दिए।[८३] इसी अनुदान के अंग के रूप में ग्रहीता को अलग–अलग गाँवों से एक श्रेष्ठि, एक तांबूली, एक ताम्रकार और एक कांस्यकार भी दिए।[८४] १०९२–९३ के गहड़वाल अनुदान पत्रों के अनुसार चन्द्रदेव ने ५०० ब्राह्मणों को एक पूरा पत्तल दान कर दिया।[८५] अनुदत्त क्षेत्र में इस पत्तल के वे गाँव शामिल नहीं थे जो ब्राह्मणों और मन्दिरों के अधिकार में थे और जो करमुक्त थे।[८६] इस अनुदानपत्र में २२ गाँवों को मन्दिरों के अधीन, दो को

ब्राह्मणों के अधीन और छः को करमुक्त बनाया गया है।[८७]

६७३ में महाराजाधिराज सिंहराज के दुस्साध्य धंधुक ने अपने स्वामी की अनुमति से खट्टकूप विषय–स्थित अपना एक गाँव अनुदान स्वरूप शिव मन्दिर को दे दिया।[८८] १०४७ में यशोराज ने शैव देवता गंटेश्वर को अपना पूरा गाँव तथा अन्य गाँव में १०० एकड़ भूमि अनुदान में दी। राणक नामक एक सामन्त ने जैन मन्दिर को अलग–अलग रकबों के चार क्षेत्र अनुदान में दिए।[८९] ११०६ के एक ताम्रपट में चौलुक्य राजा कुमारपाल के सामन्त अल्हड़ ने एक गाँव का बलाधिपाथाग्य एक मन्दिर को[९०] तथा दूसरे का दूसरे को[९१] परमार–राज द्वितीय जयवर्मन के एक अनुदान पत्र (१२६०–६१) में उस राजा द्वारा कुछ ब्राह्मणों को दिए एक ग्राम अनुदान का संधि विग्रहिक मालाधार ने अनुमोदन किया।[९२]

इन्द्रपाल के गौहाटी अनुदान पत्र में धार्मिक अनुदान के लिए ४००० मापक धान्य पैदा करने लायक जमीन दी गयी।[९३] मदनपाल (११४०–५५) ने उत्तर बंगाल में चंपाहिहि के किसी ब्राह्मण को एक गाँव दान दिया।[९४] एक गाहड़वाल शासक ने मनेर में एक ब्राह्मण को एक गाँव दान में दिया।[९५] १०६३ में चन्द्रदेव ने ५०० ब्राह्मणों को एक पूरी पत्तला ही दे डाली।[९६] पत्तला का क्षेत्र सम्भवतः १०० गाँव का होता है। गाहड़वाल परिवार के राजकुमारों अथवा रानियों ने भी राजा की अनुमति से दो या तीन गाँव दान किए।[९७] गया और चन्देल राजाओं ने गृहस्थ तथा धार्मिक ग्रहीताओं को अलग–अलग कुल मिलाकर १५ गाँव दिए।[९८] ११६७ ई० के सेमरा तामपत्रों में ३०६ ब्राह्मणों को चार विषयों में बिखरे कई गाँव दान किए गये।[९९]

कुमारपाल ने १४४० जैन मन्दिर बनवाए, शायद प्रत्येक गाँवों में एक–एक[१००] सोमनाथ मन्दिर के अधीनस्थ गाँवों की संख्या १०००० थी, जिनमें भलीभांति खेती–बाड़ी होती थी।[१०१] ब्राह्मण लोग मुख्यतः कन्नौज और उज्जैन से गुजरात में लाए गये थे और गुजरात आकर वे मनें के प्रधान या संस्थापक बन गये। कर्ण ने (१०४१–११७३) और उनसे राजपरिवार के सदस्यों ने नगर के विष्णु मन्दिर से संबद्ध ८ ब्राह्मणों को ५ गाँव

दिए।[१०२] द्वितीय युवराजदेव की पत्नी रोहाला ने किसी शैव सन्त को २ और शिव–मन्दिर को ७ गाँव अनुदान में दिए।[१०३] सोमदेव (११३५) द्वारा १४ ब्राह्मणों को दिए एक अनुदान से ज्ञात होता है कि दान किया गया २० नातु क्षेत्र ६ गाँवों में बिखरा हुआ था।[१०४] कलचुरि राजाओं ने मठों को मुक्त हस्त होकर दान दिए। परमार राज्य में जागीरदारों द्वारा धार्मिक उद्देश्यों से छोटे–छोटे भूमि के टुकड़े दान में दिये गए।[१०५]

११वीं सदी के एक अनुदान पत्र के अनुसार भगवान शिव के मन्दिर को राजा गोविन्द केशवदेव से, ३७५ हल जमीन के साथ अलग–अलग गाँवों में बिखरे २६६ घर प्राप्त हुए।[१०६] टिपड़ा जिले से प्राप्त लगभग १२३४ ई० के ताम्रपत्र में २० ब्राह्मणों को दान किए गये एक गाँव में स्थित १२ घरों के हस्तांतरण का उल्लेख हुआ है।[१०७]

चालुक्यों के सामन्त मेहरराज जगमल्ल ने तलाझा नामक विशाल नगर में स्थापित दो शिवलिंगों को पास के दो गाँवों में जमीन के दो टुकड़े दान किए।[१०८] १००८ में जारी मांडलिक रट्टराज के खरेपाटन ताम्रपत्रों में मत्तमयूर गोत्र के गुरुओं को तीन गाँव दिए।[१०९] अल्हड़देव के ११६१ के एक अभिलेख में एक जैन मन्दिर को नड्डूल शहर के किसी क्षेत्र में स्थित चुंगीकर की आय में से प्रतिमास ५ द्रम्भ को अनुदान दिया गया है।[११०] १११४ के अनुदान पत्र में भगवान त्रिपुरुष को चुंगीघर से होने वाली आय में से ६ द्रम्भ अनुदान स्वरूप दिए गए।[१११] ११५६ के एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि कुमारपाल के किसी कामना ने कुछ जैन मन्दिरों को एक मंडपिका से होने वाली आय में से प्रतिदिन एक रूपक के हिसाब से अनुदान दिया।[११२]

द्वितीय भीमदेव ने १२३० में कुछ चीजों की बिक्री पर लगे नकद शुल्कों से होने वाली आय, दो मन्दिरों के खर्च हेतु दान दिए।[११३] सलखरापुरी के कुछ व्यापारियों द्वारा कुछ चीजों की बिक्री की आय मन्दिरों को दान कर दी।[११४] ६५५ के एक अभिलेख से प्रतीत है कि भूरसेन वंश की एक महिला ने विष्णु को एक गाँव अनुदान दिया, जिससे गुजरने वाले व्यापारिक पाल से लदे प्रत्येक घोड़े पर चुंगी ली जाती थी।[११५] भूतपूर्व जोधपुर राज्य में एक मन्दिर को अनुदान स्वरूप यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने

क्षेत्र रो जाने वाले प्रत्येक कारवां से, जिसमें १० से अधिक ऊँट और २० से अधिक बैल हों, टैक्स वसूल सकता है।[११६] टिपड़ा जिले में १२३४ तक अभिलेख से ब्राह्मणों को कुल दान की आय से १०० पुराण मिलते थे।[११७]

जब हर्ष के शासन काल में (१०८६–११०१) में एक मन्दिर को लूटा गया तो वहाँ के पुजारियों ने नकदी और किसी अदायगी के बदले उन्हें बेगार से बरी करने की प्रार्थना की थी।[११८] कहते हैं कि १००८–०६ में ऊपरी सिन्धु घाटी में स्थित नगर कोट दुर्ग में बने मन्दिर से महमूद ढले हुए सिक्कों के रूप में ७ करोड़ दिरहम, ७०००० मन सोने चांदी के ढले, कीमती जड़ाऊँ कपड़े, चांदी की एक घर की आकृति तथा कीमती पत्थरों से जुड़ा हुआ एक सिंहासन ले गया। सोमनाथ मन्दिर से वह दो करोड़ दिनार मूल्य का माल लूट ले गया। जब राम को बन्दी बना लिया गया तब महमूद की सेना अपने साथ ५०००००० दिनार से अधिक मूल्य के आभूषण, ढले सिक्कों के रूप में २६०००० दिनार, ३०००० दिनार से अधिक सोने–चाँदी के बर्तन, २०००० दिनार मूल्य के कपड़े तथा जिन दर्शनशास्त्र की कृतियों को नष्ट कर दिया उनको छोड़कर ५० जानवरों पर लिखी पुस्तकें ले गया।

११वीं शताब्दी में चिंगलपट जिले में तिरिमुक्कुदल नामक स्थान की व्यंकटेश पेरूमल देवालय अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी। इसके तत्वावधान में एक विद्यापीठ, एक विद्यार्थीशाला तथा एक चिकित्सालय चलते थे। यह विद्यापीठ एन्नायिरम् विद्यापीठ से छोटा था क्योंकि यहाँ केवल ६० विद्यार्थियों के भोजन और आवास तथा शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था थी। विद्यार्थीशाला के ६० स्थानों में १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पंचरात्र प्रणाली, ३ शैवागम के विद्यार्थियों तथा ७ वानप्रस्थों और सन्यासियों के लिए सुरक्षित थे।[११६]

चिंगलपट जिले के तिरूवोर्रियूर नामक स्थान में १३वीं शताब्दी में व्याकरण की शिक्षा के लिए एक विशाल विद्यापीठ था। एक स्थानीय शिवालय के बगल में एक विशाल भवन में विद्यापीठ स्थित था। उक्त स्थान में जनश्रुति थी कि महादेव शिव ने

उक्त देवालय में प्रकट होकर पाणिनी को व्याकरण के १४ सूत्रों की शिक्षा १४ दिनों में दी थी। एन्नायिरम् में ३४० विद्यार्थियों के भोजन–आच्छादन के निमित्त ३०० एकड़ भूमि प्राप्त थी। इस विद्यापीठ में इसी कार्य के लिए ४०० एकड़ भूमि दान में मिली थी। अतः हम भली प्रकार अनुमान कर सकते हैं कि इस विद्यापीठ में कम से कम ४५० विद्यार्थी अवश्य रहे होंगे। यहाँ अध्यापकों की संख्या सम्भवतः १५ से २० के बीच थी। १४वीं शताब्दी तक यह संस्था अपना कार्य करती रही।[१२०] इस विद्यापीठ के प्रबंध के संबंध में व्यौरेवार विवरण उपलब्ध नहीं।

१२६८ ई० के मुल्कापुरम् के एक लेख से एक देवालय, विद्यापीठ, विद्यार्थीशाला तथा चिकित्सालय की स्थिति का पता चलता है।[१२१]

दक्षिण भारत के देवालयों में मध्यकाल में (६०० से १४०० ई०) ऐसे अनेक विद्यापीठ चलते थे। इस प्रकार धारवाड़ जिले के भुजवेश्वर मंदिर १०वीं शताब्दी से एक मठ था जिसे विद्यार्थियों को निःशुल्क अध्यापन और भोजन देने के लिए दो सौ एकड़ भूमि दान में मिली थी और कम से कम २०० विद्यार्थी यहाँ अवश्य शिक्षा पाते थे।[१२२] हैदराबाद राज्य में नगइ नामक स्थान पर भी ११वीं शताब्दी में एक संस्कृत विद्यापीठ था जहाँ २०० विद्यार्थियों को वैदिक साहित्य, २०० को स्मृतियों, १०० को महाकाव्य तथा ५० को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। इस संस्था के पुस्तकालय में ६ पुस्तकालयाध्यक्ष थे।[१२३]

१०७५ ई० में बिजापुर के एक देवालय को सन्यासियों तथा मीमांसा के आचार्य योगेश्वर पंडित के शिष्यों की शिक्षा–दीक्षा तथा भोजन–आच्छादन के प्रबंध के लिये १२०० एकड़ भूमि दान में मिली थी।[१२४] बिजापुर जिले के ही मनगोली नामक स्थान के एक मंदिर में १२वीं शताब्दी के मध्य में एक पंडित व्याकरण की एक पाठशाला चलाते थे जिसमें कौमार व्याकरण का अध्यापन होता था। उक्त पंडित को २० एकड़ भूमि दान में प्राप्त थी।[१२५] कर्नाटक में बेलगंवे नामक स्थान के दक्षिणेश्वर मंदिर की ओर से भी एक निःशुल्क विद्यालय चलाया जाता था।[१२६]

तंजोर जिले के पुन्नवयिल नामक स्थान में भी स्थानीय देवालय से संबद्ध एक व्याकरण विद्यालय था जिसे ४०० एकड़ भूमि दान में प्राप्त थी। इस विद्यापीठ में विद्यार्थियों के भोजन–आच्छादन के लिये एन्नायिरम् विद्यापीठ से अधिक दान मिला था, अतः अनुमान है यहाँ कम से कम ५०० विद्यार्थी अवश्य रहे होंगे।[१२७] १६१६ ई० के साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट संख्या ६०४, ६६७, ६७१ तथा ६६५ में तमिल देश के विभिन्न देवालयों में चलने वाले विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन के लिए दानों का विवरण है। १८वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत के लगभग प्रत्येक बड़े देवालय में संस्कृत पाठशाला या विद्यापीठ अवश्य चलाये जाते थे। सच तो यह है कि सारे देश में वे छाये हुए थे।

राष्ट्रकूटों के शासनकाल में वेद, पुराण, न्याय दंडनीति, निबंध तथा टीका आदि में पंडित २०० विद्वानों को कर्नाटक प्रदेश में धारवाड़ जिले में कादियूर–आधुनिक नाम कलास–नामक गाँव अग्रहार में मिला था।[१२८] यह गाँव शिक्षा के कार्यसाधक केन्द्र के रूप में विख्यात था। सर्वज्ञपुर के लिखिल ब्राह्मण अध्ययन तथा धर्म और नीति के वाक्यभूतों के श्रवण में तल्लीन रहा करते थे।[१२९]

कभी–कभी अन्य गाँवों में भीं उच्च शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इनके पंडितों को भी गाँव–दान में मिलते थे क्योंकि यहाँ देश–देशान्तरों से ज्ञानपिपासु आते थे। पाण्डचेरी से १५ मील दक्षिण बाहुर ऐसा ही एक गाँव था।[१३०] कार्नवालिस के स्थायी बंदोबस्त से जब जमींदार निश्चिंत हो गये और उनको अधिक लाभ होने लगा तब उन्होंने भी टोलों को अधिक दान देना प्रारंभ किया।[१३१]

प्रागैतिहासिक काल में १००० ई० पू० तक साहित्य और व्यवसाय सभी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही थी। अभिभावनक अपने अभिमन्त्रणा एवं उत्तरदायित्व पर, अपने ही घरों पर अध्यापन का कार्य करते थे।[१३२] शिक्षा के क्षेत्र में जैसे–जैसे उलझनें बढ़ती गयीं, विशेषाध्ययन की ओर लोगों की रूचि बढ़ने लगी तथा कालान्तर में ऐसे ही पंडितों ने अपनी पाठशालाएँ खोल लीं। ईसा की आरंभिक

शताब्दियों तक मैदान इन्हीं पंडितों के हाथ रहा। इसी काल के आस–पास बौद्ध विहारों में सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं का जन्म हुआ। पश्चात हिन्दुओं ने भी बौद्धों का अनुकरण कर अपने मंदिरों में पाठशालाएँ खोलीं। किन्तु विहारों के ये विश्वविद्यालय और मंदिरों के महाविद्यालय शिक्षा के कतिपय प्रसिद्ध केन्द्रों तक ही सीमित थे। देश भर में अब भी शिक्षा के प्रमुख स्तम्भ वे ही पंडित थे जो निजी तौर पर अपनी पाठशालाएँ चलाते थे। मध्य–युग में विविध संप्रदायों के आचार्यों के मठों में ऐसे छोटे–छोटे विद्यालय चलते थे जिनमें उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी।

कुलीन घरों के बालकों को सैनिक शिक्षा देने के लिए जो विद्यालय थे वे बड़े शानदार और विशाल रहे होंगे। मन्दिरों के अन्तर्गत चलने वाली शिक्षण संस्थाओं के भवन उन मन्दिरों के आसपास ही रहते थे। इनके भवन भी प्रायः विशाल ही होते थे। जहाँ तक अध्यापकों की निजी पाठशालाओं का संबंध है वे उनके घरों में ही चलती थीं। प्राचीन भारत में प्रायः एक अध्यापक के पास १५ से अधिक विद्यार्थी एक साथ न पढ़ते थे, अतः अच्छे गृहस्थ अध्यापक के लिए अपने घरों पर ही पढ़ाने में कोई विशेष कठिनाई न थी। साधारण ख्याति के संस्कृत अध्यापक भी अपने तालुके या तहसील से चन्दा एकत्र कर अपनी छोटी–मोटी आडम्बरहीन पाठशाला बनवा लेते थे। जिन अध्यापकों के घरों में स्थान की कमी होती वे अपने छात्रों को लेकर आसपास के मन्दिर या बगीचे में चले जाते थे। मध्ययुग में काशी में यह प्रथा थी।

तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों के अध्यापक अपने घर पर ही छात्रों के भोजन और आवास की व्यवस्था कर देते थे। कतिपय स्थानों में तो विद्यार्थियों को वस्त्र और दवाएँ भी मुफ्त दी जाती थीं। उत्तरी भारत में नालन्दा में तथा दक्षिणी भारत में मल्कापुरम के विश्वविद्यालयों की ओर से बीमार छात्रों के लिए चिकित्सालय खुले हुए थे।[१३३] सालोतगी जैसे कुछ स्थानों में धनी–मानी सज्जनों ने निधियाँ स्थापित कर दी थीं जिनके ब्याज से विद्यार्थियों के लिए दीप की व्यवस्था की जाती थी।

बंगाल में कुछ समय पूर्व तक टोलों और संस्कृत पाठशालाओं के अध्यापक

अपने जिले के सम्पन्न नागरिकों से चंदा मांग कर छात्रों के आवास के लिए आडम्बरहीन भवन बनवा लेते थे। ऐसे स्थानों में जिन्हें नालन्दा या विक्रमशिला होने का सौभाग्य प्राप्त न था, संभवतः छात्रावासों की व्यवस्था इसी प्रकार होती थी। ऐसे छात्रावासों का सारा प्रबंध ये अध्यापक ही करते थे। किन्तु यदि अध्यापक ऐसे छात्रावासों की भी व्यवस्था न कर सकते तो विद्यार्थी अपने रहने का प्रबंध खुद करते थे। धनी विद्यार्थी अपने लिए किराये पर मकान ले लेते थे। पर गरीब विद्यार्थी मंदिरों में रह लेते तथा दोपहर को पक्वान्न भिक्षा मांगकर अपना भोजन जुटा लेते। छात्र और अध्यापक के संबंधों का आधार परस्पर प्रेम और आदर माना गया था न कि कोई व्यावसायिक भावना।

निर्विवाद प्रमाणों से यह भी सिद्ध है कि बौद्ध विश्वविद्यालयों, मंदिर और मठों के अंतर्गत चलने वाली पाठशालाओं तथा अग्रहार विद्यालयों में विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। यदि पर्याप्त दान मिल जाता तो इन पाठशालाओं में विद्यार्थियों के आवास, भोजन वस्त्र, चिकित्सा आदि की व्यवस्था भी निःशुल्क कर दी जाती थी।

दक्षिणापथ में अनेक दानी व्यक्तियों ने शिक्षा की उन्नति के लिए भूमि दान में दी। विक्रमादित्य षष्ठ के समय में एक ब्राह्मण ने १०४ महाजनों को अपनी दान में दी हुई भूमि का न्यासी (ट्रस्टी) नियुक्ति किया। इस न्यास के अंतर्गत कुछ भूमिखण्ड और मकान की भूमि ऐसे अध्यापक के निर्वाह के लिए निश्चित की गई थी जो व्याकरण और मीमांसा दर्शन पढ़ाता था। एक अन्य भूमिखंड और मकान के लिए भूमि एक दूसरे अध्यापक को दी गई जो गणित, ज्योतिष, छंदशास्त्र ओर व्याकरण पढ़ाता था।[१३४] इसी प्रकार विक्रमादित्य षष्ठ की महारानी ने एक गांव महाजनों को न्याय के रूप में दिया था। इस गांव की आय से वे शास्त्रों के एक टीकाकार, एक पुराणों के पाठक और ऋग्वेद और यजुर्वेद के अध्यापकों का व्यय चलाते थे।[१३५]

विक्रमादित्य षष्ठ के धर्म संबंधी मामलों के अध्यक्ष ने पूर्व–मीमांसा की शिक्षा के लिए एक सभा–भवन[१३६] एक मंदिर में एक शैव मठ ओर एक दान–शाला का निर्माण

कराया था। यादव राजा सिंघण के राज्यकाल में ज्योतिष के अध्ययन के लिए १२०७ ई० में एक मठ की स्थापना की गई। काकतीय राज्य में एक शैव अध्यापक ने[१३७] महाविद्यालय सहित एक शैव मंदिर और शैव साधुओं को भोजन कराने के लिए कुछ भूमि दान में दी।

हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) ने गुजरात में विद्यामठ का उल्लेख किया है। ये छात्रावास सहित शिक्षा केन्द्र थे, जिनकी व्यवस्था राजा करता था।[१३८] द्वयाश्रम महाकाव्य में वर्णित विद्यामठ के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था धनी व्यक्ति किया करते थे।[१३९]

बुद्ध के बाद से बौद्ध विहार और मठ बौद्ध शिक्षा के केन्द्रों के रूप में विकसित होने लगे। नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों तथा श्रावस्ती और वलभी विहारों का उत्कर्ष इसी प्रकार हुआ था। बौद्ध शिक्षण संस्था की सम्पूर्ण व्यवस्था बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में रहती थी। प्रबन्धक अपने ज्ञान और विद्वत्त में अग्रणी होता था। नालन्दा विश्वविद्यालय, जो पहले बौद्ध संघ था, कालान्तर में विश्व–विख्यात शिक्षण–संस्था के रूप में ख्यात हुआ था।[१४०] नवीं सदी में उसका प्रधानाचार्य एक भिक्षु ही चुना गया था।[१४१] ऐसे प्रधान आचार्य के प्रबन्ध में सहायता प्रदान करने के लिए कई समितियाँ होती थीं, जिनमें दो समितियाँ प्रधान थीं–एक शिक्षा–समिति और दूसरी प्रबंध–समिति। शिक्षा–समिति के प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण और व्यवस्था का नियोजन होता था तथा प्रबन्ध–समिति के अन्तर्गत शिक्षा–संस्थाओं की प्रशासनिक व्यवस्था, कार्यकर्ताओं की नियुक्ति तथा भवनों का निर्माण आदि सभी कार्य होते थे।[१४२]

इन शिक्षण–संस्थाओं के अनुशासन और नियम हिन्दू शिक्षण–व्यवस्था के अनुसार ही थे। राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु आदि नगरों में कई प्रसिद्ध विहारों और मठों का उत्कर्ष हुआ था, जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप में विकसित हुए[१४३]। इन विहारों के अतिरिक्त अनेक संधारामों का भी विकास हुआ जहाँ आध्यात्मिक चिन्तन और मनन हुआ करता था।[१४४]

प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति के अन्तर्गत राज्य और शिक्षा का क्या सम्बन्ध था, इरा विषय पर हमें कोई विस्तृत सैद्धान्तिक विवेचन नहीं मिलता है।[१४५] छान्दोग्य[१४६] तथा वृहदारण्यक[१४७] उपनिषदों में विद्योपार्जन में लगे ब्राह्मणों और विद्वानों को राजा द्वारा सहायता का उल्लेख मिलता है। महाभारत[१४८] में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं, 'जो वैदिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें वस्त्र तथा अन्न दान द्वारा आपको प्रसन्न करना चाहिए, तथा उनके रहने का प्रबन्ध करना चाहिए।'

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र[१४९] में राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए बताया है कि जंगलों में विद्योपार्जन करने वाले ब्राह्मणों की सुरक्षा का भार राजा पर होता है। राजाओं द्वारा विद्वानों को भूमिदान देने का भी उल्लेख है, यह भूमि उपजाऊ और कर मुक्त होती थी।[१५०] प्रभावती गुप्ता ने आचार्य चनालस्वामिन को एक गाँव दान में दिया था।[१५१] भूमिदान की प्रथा समस्त भारत में प्रचलित थी।[१५२] पहाड़पुर अभिलेख (४७९ ई०) से ज्ञात होता है कि पंचस्तूप शाखा के जैन–विहार को गुप्त काल में पर्याप्त दान मिला था।[१५३] सूत्रकाल में भी विद्वानों से कर न लेना राजा का धर्म था[१५४]

स्मृतिकार मनु[१५५] के अनुसार राजा को जो अनपेक्षित कोष प्राप्त होता है, उसमें से आधा विद्वानों, विद्यार्थियों तथा ब्राह्मणों को दान में दे देना चाहिए। एक अन्य स्मृति के अनुसार भी राजा को विद्वानों और विद्यार्थियों का आश्रय तथा अनुग्रह प्रदान करना चाहिए।[१५६] कामन्दकीय नीतिसार[१५७] में कहा गया है कि राजा को विद्वान् ब्राह्मणों को धन से सहायता देनी चाहिए। शुक्रनीतिसार[१५८] के अनुसार भी राजा के तीन प्रमुख गुणों में विद्वानों के प्रति सहिष्णु होना एक प्रधान गुण बताया गया है। तथा विज्ञान और कला की उन्नति के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करना राजा का कर्त्तव्य था।[१५९]

उदयपुर प्रशस्ति में भोज के ज्ञान और दान की प्रशंसा की गई है।[१६०] प्रथम गाहडवाल शासक एक विद्वान् व्यक्ति था, उसने सभी शास्त्रों का अध्ययन किया था, तथा अध्ययन करने वालों को धन की सहायता से उत्साहित करता था[१६१] पंडित दामोदर[१६२] के अनुसार उसके पास कुबेर का कोष और बृहस्पति का ज्ञान था। अजमेर

के राजाओं ने संस्कृत भाषा साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक विद्वानों, कवियों को राज्य में आश्रय प्रदान किये थे।[१६३] उन्हें सभी सुविधायें प्राप्त थीं, और वाद–विवाद में विजयी होने पर पुरस्कृत भी होते थे। उनकी योग्यता का निर्णय राजा विद्वानों की ही सहायता से करता था।

परमार राजा भोज वर्ष में दो बार एक उत्सव का आयोजन करता था, इसमें प्रसिद्ध गायक, नर्तक तथा विद्वान को वस्त्र और धन देकर सम्मानित करता था।[१६४] पृथ्वीराज प्रथम ने रणथंभोर के जैन मन्दिर को एक "स्वर्णकलश भेंट किया।[१६५] उसके उत्तराधिकारी अजयराज ने पार्श्वनाथ मन्दिर को स्वर्णकलश प्रदान किया।[१६६] हर्ष के समय में बाण जैसे कवि एवं अनेक विद्वान आश्रय प्राप्त कर उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे।[१६७] धरसेन द्वितीय ने रुद्रगोप नामक अथर्ववेद के विद्यार्थी को अनेक प्रकार का दान दिया।[१६८] समस्या पूर्ति करने वाले कवियों को भी पुरस्कृत किया जाता था, जिसका उल्लेख अपभ्रंश–काव्यत्रयी में मिलता है।[१६९]

राजा गोविन्दचन्द्र ने ग्रामदान द्वारा ब्राह्मणों को वैदिक अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया।[१७०] पुनः अपभ्रंश काव्यत्रयी से ज्ञात होता है कि राजा नरवर्मन ने जिन वल्लभ के व्यापक ज्ञान से प्रभावित एवं प्रसन्न होकर, सम्मानपूर्वक तीन लाख पारुत्थ, तथा तीन ग्राम दान में दिये थे। मध्य युग में धंगदेव के प्रस्तर अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह दान–मान और पुरस्कार से विद्वानों एवं कवियों को सहायता देता था।[१७१] भोज ने कवि माघ को तीन लक्ष मुद्रा भी दान स्वरूप दिया था। भोज प्रबन्ध के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि उसके दरबार में कुम्हार जैसे निम्न वर्ग के लोग भी अपनी योग्यता प्रदर्शित कर दान प्राप्त करते थे।[१७२] भोज ने दान देने की कुछ इस प्रकार व्यवस्था बनाई थी कि महाकवि को एक लाख, विद्वान् को उसका आधा, अपूर्ण विद्वान् को एक गाँव तथा याचक को आधा गाँव दान में दिया जाता था।[१७३] एक स्थल पर इसका भी उल्लेख मिलता है कि एक विदुषी स्त्री से अपने किये गये प्रश्नों का उत्तर पाकर भोज ने प्रसन्न होकर तीन लाख स्वर्ण मुद्रायें दान में दीं।

कश्मीर के राजा यशस्कर ने वितस्ता नदी के तट पर विविध उपकरणों समेत ब्राह्मणों को पचपन अग्रहार दान में दिये थे।[१७४] इसी प्रकार कश्मीर के एक अन्य राजा मिहिरकुल ने जयेश्वर तीर्थ में गान्धार के एक ब्राह्मण को एक हजार अग्रहार दान में दिये थे।[१७५] कश्मीर के एक अन्य राजा जयसिंह का उल्लेख मिलता है जिसने विद्वानों को भूमि और भवन दान में दिया था।[१७६] सौराष्ट्र के एक राजा गोविन्दराज ने विद्वान् और ब्राह्मणों और उनके शिष्यों को अनेक भूमिखण्ड आर्थिक सहयोग के रूप में दिये थे।[१७७] इस प्रकार के भूमिदान का समर्थन शुक्रनीतिसार में भी होता है।[१७८]

अल्बरूनी लिखता है कि ब्राह्मण सभी प्रकार के कर से मुक्त थे।[१७९] रत्न ताम्रपत्र में वाजसनेयी शाखा के एक ब्रह्मचारी को ग्रामदान प्राप्त करने का उल्लेख है।[१८०] इस प्रकार से भिक्षुओं और विद्यार्थियों के लिए नियमित रूप से दान देने की व्यवस्था थी।[१८१] दान में प्राप्त अग्रहार गाँव भी इस प्रकार से आय के ही साधन थे, जिनकी आय विद्यार्थियों की आवश्यकता और शिक्षकों के वेतन पर व्यय होती थी।[१८२] इन अग्रहारों में जिनमें संस्कृत विद्यालय होते थे, पुराण, व्याकरण, न्याय और राजनीति की शिक्षा का उल्लेख मिलता है।[१८३] कभी–कभी विद्यार्थियों के अभिभावक भूमि अथवा ग्रामदान न देकर वर्ष में एक बार फसल तैयार होने पर उसका कुछ भाग शिक्षकों को दैनिक व्यय के लिए देते थे।[१८४]

नालन्दा ताम्रपत्र में शासकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रामदानों का उल्लेख है, जिनकी आय से विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र और औषधि का कार्य चलता था।[१८५] इत्सिंग के उल्लेख से ज्ञात होता है कि नालन्दा विहार के पास पर्याप्त कृषि भूमि और बाग थे, इनसे जो आय और फल प्राप्त होते थे, उसी से वर्ष भर के लिए आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था होती थी।[१८६] ह्वेनसांग[१८७] के अनुसार नालन्दा के पास दान में प्राप्त इस प्रकार के सौ ग्राम थे, किन्तु इत्सिंग के समय में गाँवों की यह संख्या दो सौ तक पहुँच गई थी।[१८८]

ह्वेनसांग ने लिखा है कि उसके नालन्दा आवास के समय प्रतिदिन उसे एक सौ

बीस फल मिलते थे।[१८९] इसके अतिरिक्त मक्खन एवं अन्य साध्य सामग्री विहार की ओर से मिलती था।[१९०] इसके साथ ही इतना अधिक द्रव्य दिया था, जिससे सम्पूर्ण विहार क्रय किया जा सकता था।[१९१] विक्रमशिला विहार में लगभग एक सौ चौदह विद्वानों की नियुक्ति हुई थी, जिनकी सभी आवश्यकतायें राज्य–कोष से पूरी की जाती थी।[१९२] ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण एक लेख से ज्ञात होता है कि पालराजा धर्मपालदेव ने विद्यार्थियों को अनेक आवश्यक वस्तुओं का दान किया था।[१९३] बंगाल के राजा देवपाल ने भी पाँच ग्राम विहार के आवश्यक व्यय के लिए ही दिया था।[१९४]

नालन्दा ताम्रपत्र में दान के संदर्भ में 'सत्र शब्द अर्थ भिक्षागृह है। दान में दिये गये ग्राम के आय का उपयोग इन सत्रें के संचालन में भी किया जाता था।[१९५] गुप्त युग में इसे धर्म सत्र कहते थे।[१९६] जहाँ पर निःशुल्क भोजन वितरित किया जाता था। अधिकतर सत्र मन्दिर से सम्बन्धित रहते थे। ११वीं शताब्दी के आसाम के शासक जयपालदेव तथा बल्लभदेव ने शिव मन्दिर से सम्बन्धित एक भिक्षागृह निर्मित करवाया था, जिसे भक्तशाला कहते थे।[१९७]

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में भी कुछ सत्र (निःशुल्क छात्रावास) बनवाये गये थे। सत्रशालाओं का उल्लेख पुरातन प्रबन्ध संग्रह में भी मिलता है।[१९८] उक्तिव्यक्ति प्रकरण[१९९] से ज्ञात होता है कि वाराणसी में शिक्षक विद्यार्थियों को केवल अध्ययन ही नहीं कराते थे, अपितु उनके रहने और भोजन की भी व्यवस्था करते थे। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यहाँ के विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए बहुत–सी भूमि दान में दी गई थी।[२००] बाशम[२०१] के अनुसार वाराणसी के एक विद्यालय में पाँच सौ विद्यार्थी एवं बहुत–से शिक्षक रहते थे, जिनकी व्यवस्था दान में प्राप्त वस्तुओं से होती थी। शिक्षा के अन्त में ये विद्यार्थी गुरु–दक्षिणा के रूप में गाय आदि देते थे।[२०२]

अध्यापकों को प्रायः राजाओं और उनके सामन्तों से पुरस्कार भी मिलता था।[२०३] दशहरा जैसे पर्व, तथा विवाह एवं यज्ञोपवीत के अवसर पर विद्यालयों को पर्याप्त द्रव्य तथा अन्य वस्तुयें मिलती थीं।[२०४] कभी–कभी शिक्षक वर्ग को चिकित्सा द्वारा अथवा

लेखन द्वारा भी कुछ लाभ हो जाता था।[२०५] दक्षिणा में ब्राह्मणों एवं कुलपुरोहितों को राजाओं से प्रभूत धन प्राप्त होता था।[२०६]

नालन्दा के एक स्नातक वीरदेव को देवपाल ने छात्रवृत्ति द्वारा अनुगृहीत किया था, कालान्तर में वीरदेव मठ का अध्यक्ष नियुक्त हुआ।[२०७] अनाथों की शिक्षा का भार राज्य पर ही होता था। अध्ययन समाप्त करने के अनन्तर दक्षिणा के रूप में अध्यापकों को उपहार देने की आज्ञा मनु ने भी दी है।[२०८] दक्षिणा देने का उदाहरण हमें कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में मिलता है।[२०९] राजकुमारों की शिक्षा पूर्ण होती थी, गुरु को वस्त्र, सुवर्ण, भूमि और ग्राम दान में दिया जाता था।[२१०]

कालान्तर में सम्भवतः गुरुदक्षिणा ने वेतन का रूप लिया। निर्धन विद्यार्थी अध्ययन समाप्त होने पर गुरुदक्षिणा के रूप में शुल्क पूरा कर देते थे।[२११] कभी–कभी इन निर्धन विद्यार्थियों का भार राजा या अन्य उदार व्यक्ति ले लेते थे।[२१२] वाराणसी का एक गुरु अपने पास आये हुए छात्रों से पूछता है कि वे गुरु को शुल्क देंगे अथवा अध्ययन के बदले सेवा करेंगे।[२१३] अतः शुल्क देने की प्रथा के अनन्तर भी सामान्य रूप से गुरु ज्ञान–पिपासु विद्यार्थियों को शिक्षित करने की प्रथा के अनन्तर भी सामान्य रूप से गुरु ज्ञान–पिपासु विद्यार्थियों को शिक्षित करने से अस्वीकृत नहीं कर सकता था।[२१४] ११वीं शताब्दी में विज्ञानेश्वर[२१५] के अनुसार विद्यार्थी द्वारा स्वेच्छा से दिया गया शुल्क अवहेलना के योग्य नहीं था। १२वीं शताब्दी की एक अन्य रचना स्मृति–चन्द्रिका[२१६] में उल्लेख है कि स्मृतियों में शिक्षा देने का कार्य जीविकोपार्जन का साधन था, अतः ऐसी अवस्था में शुल्क और गुरुदक्षिणा ही शिक्षकों की आय का प्रमुख साधन था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षकों एवं शिक्षा–संस्थाओं को पर्याप्त रूप से आर्थिक सहायता विभिन्न रूपों में मिलती थी। शिक्षक अर्थ–व्यवस्था की चिन्ता से मुक्त रहते थे, तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति विद्यार्थियों के अध्ययन एवं उनके सर्वांगीण विकास पर केन्द्रित रखते थे, जो किसी सीमा तक भारतीय शिक्षा पद्धति की सफलता का एकमात्र कारण था।

नैवेशिक दान के विषय में अपरार्क[२१७] ने कालिकापुराण से लम्बी उक्ति उद्धृत की है, जिसका संक्षेप यों है–"दाता को श्रोत्रिय ११ ब्राह्मण चुनकर उनके लिए ११ मकान बनवा देने चाहिए, अपने व्यय से उनका विवाह सम्पादित करा देना चाहिए, उनके घरों को अन्न–भण्डार, पशु, नौकरानियों, शैया, आन, मिट्टी के भाण्डों, ताम्र आदि के बरतनों एवं वस्त्रों से सुसज्जित कर देना चाहिए ; ऐसा करके उसे चाहिए कि वह प्रत्येक ब्राह्मण के भरण–पोषण के लिए १०० निवर्तनों की भूमि या एक गांव या आधा गांव दे और उन ब्राह्मणों को अग्निहोत्री बनने की प्रेरणा करे। ऐसा करने से दाता सभी प्रकार के यज्ञ, व्रत, दान एवं तीर्थयात्राएँ करने का पुण्य पा लेता है और स्वर्गानन्द प्राप्त करता है। यदि कोई दाता इतना न कर सके तो कम–से–कम एक श्रोत्रिय के लिए वैसा कर देने पर उतना ही पुण्य प्राप्त करता है।"

शिलालेखों के अनुशीलन से पता चलता है कि बहुत से राजाओं ने ब्राह्मणों के विवाहों में धन–व्यय किया है। आदित्यसेन के अफसाद शिलालेख[२१८] में अग्रहारों के दानों से १०० ब्राह्मण कन्याओं के विवाह कराने का वर्णन आया है। शिलाहार राजकुमार गण्डरादित्य के शिलालेख से पता चलता है कि राजा ने १६ ब्राह्मणों के विवाह कराये और उनके भरण–पोषण के लिए तीन निवर्तनों का प्रबन्ध किया। ब्राह्मणों का जीवन सादा, सरल और उनके विचार उच्च थे, वे देश के पवित्र साहित्य को वसीयत के रूप में प्राप्त कर उसकी रक्षा करते थे और उसे दूसरों तक पहुँचाते थे, वे लोगों को निःशुल्क पढ़ाते थे। उन दिनों राज्य में आधुनिक काल की भांति शिक्षण–संस्थाएँ नहीं थीं, अतः राजाओं का यह कर्तव्य था कि वे ब्राह्मणों की ऐसी सहायता करते कि वे अपने कार्यों को सम्यक् रूप से सम्पादित कर पाते।

याज्ञवल्क्य[२१९] ने राजाओं के लिए यह लिखा है कि उन्हें विद्वान एवं वेदज्ञ ब्राह्मणों की सुख–सुविधा का प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे कि वे स्वधर्म सम्पादित कर सकें। अपरार्क[२२०] ने वृहस्पति की उक्तियाँ उद्धृत करके लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह अग्निहोत्री एवं विद्वान् ब्राह्मणों के भरण–पोषण के लिए निःशुल्क भूमि का दान करे और ब्राह्मणों को चाहिए कि वे अपना कर्तव्य करें और धार्मिक कार्य करते हुए

लोक–मंगल की भावना से पूर्ण अपना जीवन व्यतीत करें। ब्राह्मणों को यह भी चाहिए कि वे जनता के सन्देह दूर करें और ग्रामों, गणों एवं निगमों के लिए नियम, विधान तथा परम्पराएँ स्थिर करें। कौटिल्य[२२१] ने भी ब्राह्मणों के लिए निःशुल्क भूमि के दान की बात चलायी है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र[२२२], विष्णुधर्मोत्तार, मत्स्यपुराण[२२३], महाभारत[२२४] आदि में भूदान की महत्ता गायी गयी है। अनुशासनपर्व[२२५] ने लिखा है –"परिस्थितिवश व्यक्ति जो कुछ पाप कर बैठता है वह गोधर्म मात्र भूदान से मिट सकता है।"[२२६] अपरार्क[२२७] ने विष्णुधर्मोत्तार, आदित्यपुराण एवं मत्स्यपुराण को उद्धृत कर लिखा है कि भूदान से उच्च फलों की प्राप्ति होती है। वनपर्व ने लिखा है कि राजा शासन करते समय जो भी पाप करता है, उसे यज्ञ एवं दान करके, ब्राह्मणों को भूमि एवं सहस्रों गायें देकर नष्ट कर देता है ; जिस प्रकार चन्द्र राहु से छुटकारा पाता है, उसी प्रकार राजा भी पापमुक्त हो जाता है। अनुशासनपर्व में कहा है – सोने, गायों एवं भूमि के दान से दुष्ट व्यक्ति छुटकारा पा सकता है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है –"जब राजा भू–दान या निबन्ध–दान (निश्चित दान जो प्रतिवर्ष या प्रति मास या विशिष्ट अवसरों पर किया जाता है) करे तो उसे आगामी भद्र (अच्छे) राजाओं के लिए लिखित आदेश छोड़ने चाहिए।

रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की हस्तलिखित प्रतियों का भी दान हुआ करता था। अपरार्क[२२८] एवं हेमाद्रि ने भविष्योत्तर, मत्स्य तथा अन्य पुराणों को उद्धृत कर इस प्रकार के दानों की महत्ता गायी है। भविष्यपुराण ने लिखा है कि जो व्यक्ति विष्णु, शिव या सूर्य के मन्दिरों में लोगों के प्रयोग के लिए पुस्तकों का प्रबन्ध करते हैं वे गोदान, भूमिदान एवं स्वर्णदान का फल पाते हैं। कुछ शिलालेखों में भी ऐसा वर्णन आया है।[२२९] अग्निपुराण[२३०] ने सिद्धान्त नामक ग्रन्थों के पठन की व्यवस्था करने वाले दाताओं के दानों की प्रशस्ति गायी है।

अपरार्क[२३१] ने याज्ञवल्क्य[२३२] की टीका में नन्दिपुराण से आरोग्यशाला (अस्पताल)

की स्थापना के विषय में एक लम्बा विवरण उद्धृत किया है। इस प्रकार की आरोग्यशाला में औषधें निःशुल्क दी जाती हैं "धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थ पर निर्भर है, अतः स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए जो प्रबन्ध करता है वह सभी प्रकार की वस्तुओं का दानी कहा जाता है।" इसके लिए एक अच्छे वैद्य की नियुक्ति दण्ड मिलना चाहिए। मुसलमानों द्वारा तोड़ी गयी एक प्रतिमा के पुनःस्थापन का वर्णन एपिग्राफिया इण्डिका[२३३] में वर्णित एक शिलालेख में पाया जाता है।

मठ प्रतिष्ठा का तात्पर्य है मुनिवास, आश्रम, विहार या मठ की या अध्यापकों तथा छात्रों के लिए महाविद्यालय की स्थापना। मठ–स्थापना बहुत प्राचीन प्रथा नहीं है। बौधायनधर्मसूत्र[२३४] ने अग्निहोत्री ब्राह्मण के विषय में लिखा है –"अपने गृह से प्रस्थान करने के उपरान्त वह (गृहस्थ) ग्राम की सीमा पर ठहर जाता है, वहां वह एक कुटी या पर्णशाला (मठ) बनाता है और उसमें प्रवेश करता है।" यहाँ "मठ" शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ नहीं है। अमरकोश में मठ की परिभाषा यों दी हुई है –"वह स्थान जहाँ शिष्य (और उनके गुरू) रहते हैं।"

मन्दिर या मठ के निर्माण के पीछे एक ही प्रकार की धार्मिक प्रेरणा या मनोभाव है, किन्तु उनके उद्देश्य पृथक–पृथक हैं। मन्दिर का निर्माण मुख्यतः पूजा एवं स्तुति करने के लिए होता है, किन्तु इसमें धार्मिक शिक्षा, महाभारत, रामायण एवं पुराणों का पाठ तथा संगीतमय कीर्तन आदि की भी व्यवस्था होती थी, किन्तु ये बातें गौण मात्र थीं। मठों की बातें निराली थीं, वहाँ ऐसे शिष्यों या अन्य साधारण जनों की शिक्षा का प्रबन्ध था, जिन के गुरू किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों या किसी दर्शन के सिद्धान्तों या व्याकरण, मीमांसा, ज्योतिष आदि विद्या–शाखाओं की शिक्षा दिया करते थे। बहुत से मठों में देवस्थल या मन्दिर आदि भी साथ–साथ संस्थापित रहते थे, किन्तु किसी विशिष्ट देवता की पूजा करना मठों का प्रमुख कर्तव्य नहीं था। सम्भवतः वैदिक धर्मावलम्बियों के मठों की स्थापना बौद्ध विहारों की अनुकृति पर ही हुई।[२३५]

आज तो सम्भवतः सभी प्रकार के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के मठ पाये

जाते हैं। मौलिक रूप में शंकराचार्य जैसे सन्यासियों द्वारा स्थापित मठों में कोई सम्पत्ति नहीं थी, क्योंकि शास्त्रों ने सन्यासियों के लिए सम्पत्ति को वर्जित ठहराया है। सन्यासी लोग केवल खड़ाग परिधान, भोजपत्र या ताड़पत्र पर लिखित या कागद पर लिखित धार्मिक पुस्तकें तथा अन्य साधारण वस्तुओं के अतिरिक्त अपने पास कुछ नहीं रख सकते थे।

मनु[२३६] ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति देव–सम्पत्ति या ब्राह्मण–सम्पत्ति है वह दूसरे लोक में गृद्धों का उच्छिष्ट भोजन करता है। जैमिनि[२३७] की व्याख्या में शबर ने लिखा है कि यदि यह कहा जाय कि ग्राम या खेत देवता का है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देवता उस ग्राम या खेत का प्रयोग करता है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह है कि देवता के पुजारी आदि का उस सम्पत्ति से भरण–पोषण होता है और वह सम्पत्ति उसी की है जो उसे अपने मन के अनुसार काम में लाता है।

मनु एवं अन्य स्मृतिकारों ने लिखा है कि मन्दिरों की सम्पत्ति में किसी प्रकार के अवरोध उपस्थित करने वाले तथा उसका नाश करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना राजा का कर्तव्य है। याज्ञवल्क्य[२३८] ने मन्दिरों के पास के या पवित्र स्थलों के या श्मशान घाटों के वृक्षों या निर्मित उन्नत स्थलों पर जमें हुए पेड़ों की टहनियों या पेड़ों को काटने पर ४०, ८० या १८० पण दण्ड की व्यवस्था दी है।

याज्ञवल्क्य[२३९] ने राजा द्वारा दिये गये दानपत्रों में अपनी ओर से कुछ जोड़ देने या घटा देने पर कठिन से कठिन दण्ड की व्यवस्था दी है। मिताक्षरा[२४०] मत से तड़ागों, मन्दिरों एवं गायों के चरागाहों की रक्षा के लिए बने नियमों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। मनु[२४१] ने लिखा है कि जो राज्य के भण्डार–गृह में सेंध लगाता है या शस्त्रागार या मन्दिर में चोरी करने की इच्छा से प्रवेश करता है उसे प्राण–दण्ड मिलना चाहिए, जो मूर्ति को तोड़ता है उसे जीर्णोद्वार का पूरा व्यय तथा ५०० पण जुर्माने में देने चाहिए। कौटिल्य[२४२] ने भी मन्दिरों पर अनधिकार चेष्टा करने वाले को दण्डित करने की व्यवस्था दी है।

कौटिल्य[२४३] ने 'देवताध्यक्ष' नामक राज्य कर्मचारी की नियुक्ति की बात कही है, जो आवश्यकता पड़ने पर मन्दिरों की सम्पत्ति दुर्गों में लाकर रख सकता था और प्रयोग में ला सकता था (और सम्भवतः विपत्ति टल जाने पर उसे लौटा देता था)। नारद, स्मृतिचन्द्रिका, कात्यायन तथा अन्य लेखकों की कृतियों से पता चलता है कि राजा लोग मन्दिरों, तड़ागों, कूपों आदि की सम्पत्तियों पर निगरानी रखते थे और उन पर किसी प्रकार की विपत्ति आने पर उनकी रक्षा करते थे।

प्राचीनकाल में (लगभग ईसवी पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दी से ही) धार्मिक संस्थाओं की भी एक समिति होती थी, जिसे गोष्ठी कहा जाता था, और उसके सदस्यों को गोष्ठिक कहा जाता था। कुछ शिलालेखों में मन्दिरों के अधीक्षकों की स्थानपति कहा गया है।[२४४] महाशिवगुप्त (८वीं या ९वीं शताब्दी) के सरिपुर प्रस्तर–शिलालेख से पता चलता है कि मन्दिरों की सम्पत्ति के लेन–देन में राजा की आज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। आपरार्क[२४५] द्वारा उद्धृत पैठीनसि के कथन से ज्ञात होता है कि राजा को मन्दिरों एवं संस्थाओं की सम्पत्ति लेना वर्जित था। किन्तु मन्दिरों की सम्पत्ति से सम्बन्धित झगड़ों में राजा हस्तक्षेप करते थे और आगे चलकर अंग्रेजी सरकार ने पुराने राजाओं का हवाला देकर मन्दिरों एवं मठों की सम्पत्तियों पर प्रबन्ध–सम्बन्धी दोष आदि मढ़कर हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया, और बहुत से कानून बनाये।

मनु[२४६] ने अविभाज्य पदार्थों में योगक्षेम को परिगणति किया है। 'योगक्षेम' के कई अर्थ कहे गये हैं, किन्तु मिताक्षरा ने इसे इष्ट एवं पूर्त के अर्थ में गिना है। अतः मिताक्षरा ने ऐसा घोषित किया है कि किसी व्यक्ति द्वारा बाप–दादों की सम्पत्ति से बनवाये गये तड़ाग, आराम (वाटिका) एवं मन्दिर आदि का दान अविभाज्य है, अर्थात, ये दान उस दानीय के पुत्रों एवं पौत्रों में बांटे नहीं जा सकते। मन्दिरों तथा अन्य धार्मिक उपयोगों के लिए दी गयी सम्पत्ति भी साधारणतः अविच्छेद्य है। किन्तु स्वयं मन्दिरों तथा संस्थाओं के लाभ के लिए सम्पत्ति का हेर–फेर हो सकता है।[२४७]

तंजोर के बड़े मन्दिर के अभिलेखों में जो विवरण किये हुए हैं किसी बड़े मन्दिर की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में इनसे अच्छा और विवरण मिलना कठिन है। राजराज ने युद्ध में सफलता के बाद लूट–पाट में हाथ लगे ४१,५०० कलंजु सोना इस मन्दिर को भेंट कर दिये। एक कलंजु लगभग ७० ग्राम के बराबर होता है और इस तरह ट्रॉय तौल प्रणाली के अनुसार भी यह सोना ५०० पौंड से अधिक था। रत्नों का मूल्य १०,२०० काशु यानी ५,१०० सोने के कलंजु के बराबर था। उसने ५०,६५० कलंजु यानी ट्रॉय तौल में ६०० पौंड से अधिक चाँदी भेंट की। उसने अपने सम्पूर्ण अधिराज्य में – जिसमें श्रीलंका भी शामिल थी – इस मन्दिर के लिए हर गाँव में अलग भूमि छोड़ दी। इस भूमि से १,१६००० कमल धान की आय थी। उस समय प्रचलित दर के अनुसार इन धान का मूल्य ५८००० काशु होता था। इनके अतिरिक्त १,१०० काशु की नकदी आमदनी थी।

साम्राज्य के अन्य मन्दिरों से सम्बद्ध देवदासियों में से ४०० को लाकर तंजोर मन्दिर की सेवा में दे दिया गया और हर देवदासी को जीवन–निर्वाह के लिए एक–एक 'पांगु' (अंश) दे दिया गया। हर पांगु में एक घर के अतिरिक्त वर्ष में कम–से–कम १०० कमल धान को ठोस पैदावार देने वाली एक 'वेली' जमीन शामिल थी। २१२ पुरूष नर्तकों, गायकों ढोल बजाने वालों, दर्जियों, सोनारों, लेखपालों आदि के भरण–पोषण के लिए लगभग १८० अंश और अलग कर दिये गये। इन पुरूष–सेवकों में 'अरियम' गाने के लिए तीन व्यक्ति तथा 'तमिल' गाने के लिए चार अन्य व्यक्ति थे।

राजराज की बड़ी बहन कुण्डा बाई मन्दिर–निधि में उदारतापूर्वक दान करने वाली एक महिला थी। एक अवसर पर उसने तौल में १०,००० कलंजु सोना तथा १८०० काशु के मूल्य के बर्तन चढ़ाये। रानियों, उच्च सरकारी अधिकारियों, सैनिक दलों आदि अन्य लोगों ने भी भेंट चढ़ाये जो मन्दिर की दीवारों तथा खंभें पर उसी सावधानी और सुतथ्यता के साथ उत्कीर्ण किये गये हैं। दान में प्राप्त नकद राशि–जो कई हजार काशु थी–विभिन्न ग्राम सभाओं को नकद या जिन्स के रूप में निर्धारित सूद की दर पर कार्य के रूप में दे दी जाती थी। सूद की दर साधारणतः बारह प्रतिशत वार्षिक

थी। कपूर, इलायची के बीज, चम्पक–फूल तथा खस–खस की जड़े उन उत्पादनों की सूची में शामिल थीं जो नकद दान के रूप में दी जा सकती थीं।[२४८]

दैनिक मजदूरों को साधारणतः गल्ले के रूप में मजदूरी मिलती थी, और यहाँ तक कि छोटा किसान भी अपनी बचत के समय में दूसरे के यहाँ मजदूरी करने के लिए तैयार रहता था। रैयतवारी खेती भी पूर्ण रूप से प्रचलित थी – खासकर मन्दिरों तथा अन्य निगम संस्थाओं की जमीन पर और रैयतवारी की शर्तें मूल धर्मस्व में ही निश्चित रहती थी अथवा प्रत्येक मामले में अलग वार्ता द्वारा तय होती थी। जो जमीन धर्मार्थ तथा परोपकारार्थ अलग दी हुई थी अथवा जो जमीन मन्दिरों, मठों तथा ब्राह्मणों के स्वामित्व में थी, वहाँ सम्भवतः पट्टे की शर्तें अधिक सुविधाजनक थी। लेखों में हम मन्दिरों तथा भोजनालयों की मवेशियों, उनकी देखभाल करने वाले चरवाहों तथा मन्दिर या अन्य स्वामी के प्रति उनके दायित्वों की बात ही अधिक सुनते हैं। घी न सिर्फ उच्च वर्ग के लोगों के भोजन का एक महत्वपूर्ण सामान था, बल्कि बड़े–बड़े मन्दिरों में काफी परिणाम में दीप चलाने में इसका उपयोग होता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में दान को विशेष महत्व प्राप्त था, चाहे वह विद्या दान हो या विद्या के लिये धन दान। यद्यपि धन दान से अधिक महत्व विद्यादान का था। स्मृतियों में वर्णित है कि भूमि दान से अधिक पुण्य विद्यादान से मिलता है। धन लेकर विद्या देना निन्दनीय समझा जाता था। जिस प्रकार गुरू का यह धर्म था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को बिना किसी भेद–भाव के निःशुल्क शिक्षा प्रदान करे, उसी प्रकार राजा, सामन्त एवं प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य था कि वह प्रत्येक शिक्षक एवं शिक्षार्थी की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति सुनिश्चित करे। इस प्रकार शिक्षण संस्थाओं के संचालन हेतु विभिन्न प्रकार के दान एवं शासक वर्ग का सहयोग आय के मुख्य स्रोत थे।

शिक्षा के विकास में शासक वर्ग एवं समाज के प्रत्येक नागरिक का योगदान सराहनीय रहा। प्रत्येक ब्रह्मचारी को भिक्षा देना, शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अपने गुरू

को गुरू दक्षिणा अर्पित करना, श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को दान देना, विभिन्न उत्सवों पर उन्हें भोजन कराना एवं दान देना, विभिन्न अवसरों पर उपहार वितरित कर उन्हें प्रोत्साहित करना, संस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए कर मुक्त भूमि दान में देना आदि ऐसे कार्य थे, जिनसे शिक्षण कार्य बिना किसी अवरोध के सुचारू रूप से चलता था।

इस प्रकार प्राचीन भारत में सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर अधिकाधिक शिक्षक और शिक्षार्थियों को आमंत्रित करने की परम्परा थी, जहाँ उन्हें भोजन के साथ–साथ उपहार स्वरूप दान भी दिया जाता था, तक्षशिला जैसे महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्रों पर यह प्रथा अत्यधिक प्रचलित में थी। जहाँ के शिक्षक और शिक्षार्थी विभिन्न आयोजनों पर आमंत्रित किये जाते थे। उपनयन और विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कारों पर भी विद्वानों को पर्याप्त धन दान देने की परम्परा थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरूदक्षिणा में प्राप्त धन भी आय के महत्वपूर्ण स्रोत होते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि समाज के धनी व्यक्ति अपने बच्चों को शिक्षित करने के उद्देश्य से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे, जहाँ गांव के निर्धन बच्चे भी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते थे। स्थानीय पाठशालाओं में होने वाले व्यय का निवर्हन कभी–कभी सम्भ्रान्त व्यक्ति स्वयं करते थे तथा ऐसे लोग शिक्षा के उत्थान एवं विकास के लिये कर मुक्त भूमि भी दान में देते थे।

शायद ही कोई धर्मशास्त्र ऐसा हो जिसमें शिक्षा को प्रोत्साहन देना राजा का कर्तव्य न बतलाया गया हो। साक्ष्यों से विदित होता है कि शासक वर्ग दो प्रकार से शिक्षण संस्थाओं को सहायता प्रदान करते थे – प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर और उन्हें कर मुक्त भूमि दान में देकर प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे। राज्याभिषेक जैसे आयोजनों पर विद्वान ब्राह्मणों को सम्मानित कर उन्हें कर मुक्त गांव देकर बसा दिया जाता था, जो कालान्तर में शिक्षण केन्द्र के रूप में विकसित होते थे। कनिष्क, चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्ष एवं धर्मपाल जैसे उदार शासक अपने दरबार में आने वाले अधिकांश विद्वानों को कर मुक्त भूमि–दान कर एवं अन्य

सहयोग प्रदान कर न केवल उन्हें सम्मानित करते थे, बल्कि शिक्षा को भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रोत्साहित करते थे।

ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय शासक निर्मल चरित्र वाले विद्वानों को दान देकर उन्हें सम्मानित एवं प्रोत्साहित करते थे। ये विद्वान निःशुल्क शिक्षा प्रदान कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। निश्चित रूप से यदि राज्य का पर्याप्त सहयोग नहीं मिला होता तो पतंजलि कालिदास, बाण, भवभूति, अमरसिंह, आर्यभट्ट, वाराहमिहिर, चरक, सुश्रुत, अश्वघोष, वसुमित्र, दण्डी, राजशेखर और विशाखदत्त जैसे विद्वान अवतरित होकर ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अपना योगदान अर्पित नहीं कर पाते। विद्वानों को प्रोत्साहित करना और शिक्षण संस्थाओं के कुशल संचालन हेतु उन्हें हर प्रकार के सहयोग प्रदान करना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है।

जहाँ तक परोक्ष सहयोग का प्रश्न है, योग्य एवं प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को शिक्षा के निमित्त राज्य की तरफ से छात्रवृत्ति प्रदान की जाती थी। राजदरबारों में प्रायः शास्त्रार्थ हुआ करता था और उनमें विजयी विद्वान न केवल पुरस्कृत किये जाते थे, बल्कि सरकारी सेवाओं में उन्हें वरीयता भी दी जाती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि शासक वर्ग विभिन्न यज्ञावसरों पर विद्वत गोष्ठियाँ आयोजित करते थे, जिसमें सम्मिलित होने हेतु विभिन्न क्षेत्रों के दक्ष विद्वान आते थे। इन विद्वत गोष्ठियों में ब्रह्मविषयक शास्त्रार्थ भी होता था और विजयी विद्वान पुरस्कृत किए जाते थे। गुप्त शासकों के कर्मचारियों में अनेक कवि एवं नीतिशास्त्र के पंडित थे, जो विद्वान स्नातक राज्य सेवा से वंचित रह जाते थे, उन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान कर उनकी जीविका का मार्ग प्रशस्त किया जाता था। धर्मसूत्रों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारियों तथा निर्धन विद्वानों को दान देना राज्य अपना परम कर्तव्य समझता था।

प्राचीन भारतीय शासक शिक्षा के लिए दान तो देते थे, लेकिन प्रबन्धन पर नियंत्रण रखने की कोशिश नहीं करते थे। यह कार्य विद्वत समाज स्वयं करता था।

विद्वान आचार्यों को दान देने से पूर्व यह शर्त नहीं रखी जाती थी कि वे निःशुल्क शिक्षा वितरित करेंगे। आचार्यों को दान देना सभी का परम कर्तव्य था तथा सभी को निःशुल्क शिक्षा वितरित करना शिक्षक का नैतिक धर्म था। दोनों पक्ष अपने नैतिक कर्तव्यों से युक्त थे तथा इसके लिये वे सर्वथा निष्ठावान बने रहे। गुप्त शासक नालन्दा को सैकड़ों गांव दान में दिये थे लेकिन उन्होंने कभी यह शर्त नहीं रखी कि बौद्ध धर्म राज्य के प्रति अमुक प्रकार से काम करे या अमुक विषयों की शिक्षा दे।

भारत में अति प्राचीन काल से ही ऐसे दायित्वों का सम्यक् निवर्हन करना राज्य का परम कर्तव्य एवं धर्म था। यही कारण है कि प्राचीन शिक्षा न केवल अपने उद्देश्यों में सफल रही, बल्कि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अविस्मरणीय प्रतिमान स्थापित कर भारतीय संस्कृति को समृद्धि की। स्पष्ट है कि प्राचीन शिक्षा के विकास में समाज के प्रत्येक वर्ग का सम्यक् सहयोग मिला और उनका सहयोग ही आर्थिक प्रबन्धन का आधार बना।

जहाँ तक शुल्क का प्रश्न है, चाहे वह प्रवेश शुल्क हो, शिक्षण शुल्क हो या परीक्षा शुल्क, यह निर्विवाद है कि गुरूकुलों, देवालयों, विद्यापीठों, बौद्ध मठों एवं विहारों के अन्तर्गत चलने वाली शिक्षणशालाओं में विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। एक तरफ अध्यापकों को यह स्मरण कराया जाता था कि वे अपने शिक्षक धर्म का सम्यक् निर्वहन करें, वहीं अभिभावकों से यह कहा जाता था कि इस संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसे अर्पित कर गुरू ऋण से मुक्त हुआ जा सके। यह व्यवस्था संभवतः इसलिए की गई थी, ताकि शिक्षण कार्य सुचारू रूप से चलता रहे और शिक्षक भी जीविका के संकट में न फंसें। वह राग–द्वेष से रहित होकर ज्ञान की मशाल जलाए रखें तथा उसका जीवन–निर्वाह सम्यक् तरीके से होता रहे। यद्यपि गुरू अपने शिष्यों से उपहार की अभिलाषा नहीं रखते थे, किन्तु शिक्षोपरान्त शिष्य उन्हें उपहार अवश्य देते थे। गुरू दक्षिणा का अधिकारी वह विद्या समाप्ति के उपरान्त ही होता था,

लेकिन कतिपय समृद्ध अभिभावक उपनयन के पूर्व ही अपनी क्षमतानुसार उपहार अर्पित कर देते थे। विद्या प्राप्ति के उपरान्त सामर्थ्य रखते हुए भी गुरू दक्षिणा अर्पित न करने वालों को समाज में अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था।

समाज के समृद्ध व्यक्तियों, शासकों एवं सम्पन्न विद्यार्थियों से अधिकाधिक दान की आशा की जाती थी। पर्याप्त दान मिलने की स्थिति में प्रत्येक शिक्षार्थियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास एवं चिकित्सीय व्यवस्था सुलभ करायी जाती थी, लेकिन पर्याप्त दान न मिलने की स्थिति में प्रत्येक शिक्षार्थियों को भिक्षाटन के द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में किसी प्रकार का शिक्षण–शुल्क लेना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था तथा विभिन्न प्रकार के उपहार एवं ज्ञानादि से ही शिक्षण कार्य सुचारू रूप से चलता था।

१. राजतरंगिणी, ८, २४१६।

२. दास, एजूकेशनल सिस्टम आफ दि एंशेण्ट हिन्दूज, पृष्ठ ४२८।

३. जान युन–हुया, "हुयी चाउज रेकर्ड आन काश्मीर" काश्मीर रिसर्च बाई एनुअल नं० २ (१९६२) पृष्ठ ११९–२०।

४. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ ५०–५१।

५. कार्पस इन्सक्रिप्सन्स इण्डिकेरम, जि० ३, नं० ५५।

६. वही, जि० ३, नं० ३६–४३।

७. वही, जि० ३, नं० १३–१७।

८. वही, जि० ३ नं० ११–१३।

९. मेमायर्स ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल। नं० ७ पृष्ठ ८६।

१०. वही, पृष्ठ फलक ए, पंक्ति ४।

११. वही, पृष्ठ फलक ए, पंक्तियाँ ५–६।

१२. वही, पृष्ठ फलक वी, पंक्तियाँ ८–९।

१३. सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन, पृष्ठ १६४, पंक्तियाँ ३–४।

१४. वही, पृष्ठ १८७, पंक्तियाँ १०–११।

१५. नारद स्मृति, ११. २६।

१६. सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन, पृष्ठ ३४३, पंकित ६ और पा० टि० ६।

१७. वही, पुष्ठ ३२८, पंक्तियाँ ५–७।

१८. कार्पस इन्सक्रिप्शनल इण्डिकेरम, ३ नं० ३१, पंक्तियाँ ७–११ और १३।

१९. वही, पंक्ति ७।

२०. एपिग्राफिका इण्डिका, १८. ७५।

२१. वही, १५ नं० १९, पंक्तियाँ ३३–५०।

२२. वही, १५. नं० १९, पृष्ठ ३१०–१२।

२३. वही, १५, पंक्तियाँ १६–३२।

२४. कार्पस इन्सक्रिप्शनल इण्डिकेरम, ४, नं० ३४।

२५. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २०३।

२६. लेगे, ए रेकर्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स, पृष्ठ ४३।

२७. कार्पस इन्सक्रिप्शनल इण्डिकेरम, ४, नं० २५, पंक्तियाँ १४–१५. नं० ३। पंक्तियाँ ७–११।

२८. वही, नं० ५०. पंक्ति १०।

२६. सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन, पृष्ठ ३४२।
३०. वही, पृष्ठ ३३८–३६।
३१. एपिग्राफिका इण्डिका, १५, नं० ७, पंक्तियाँ ४–७।
३२. कार्पस इन्सक्रिप्शनल इण्डिकेरम, ४, भूमिका का पृष्ठ १३६।
३३. वही, ३, नं० ४२, पंक्ति १०।
३४. वही, नं० १२, पंक्तियाँ २४–३०, नं० १३. १८।
३५. वही, नं० ६०, एपिग्राफिका इण्डिका, २४. नं० ६।
३६. एस० बील, द लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, पृष्ठ २१२।
३७. जे० ताकाकुसु (अनु०) ए रेकर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीजन, पृष्ठ ६५।
३८. एपिग्राफिका इण्डिका, ११. ८०।
३६. इण्डियन आर्किटेक्चर, ६ पृष्ठ १२, पंक्ति ६।
४०. एपिग्राफिका इण्डिका, ११, नं० १७, पंक्ति २६।
४१. कार्पस इन्सक्रिप्शनल इण्डिकेरम, ३, नं० ३१, पंक्ति ७।
४२. एपिग्राफिका इण्डिका, १, नं० १, पंक्ति ३६।
४३. कार्पस इन्सक्रिप्शनल इण्डिकेरम, ३, नं० ५, ७, ८, ६।
४४. एपिग्राफिका इण्डिका, ४ नं० ३४ पंक्तियाँ ५२–५३।
४५. यह सारद दक्षिण मुंगेर लखीमराय क्षेत्र में पड़ने वाला आत का मेहम गाँव है।
४६. एपिग्राफिका इण्डिका, १८, पृष्ठ ३०४, पंक्तियाँ ३८–४४।
४७. वही, नं० १८, पंक्तियाँ ३३–४०।
४८. वही, २६ नं० १ 'बी', पंक्तियाँ २६–४४।
४६. वही, १४ नं० २३, पंक्तियाँ ३०–४६।
५०. वही, १४ नं० १, 'ए' पंक्तियाँ १–२०।
५१. वही, 'बी', पंक्तियाँ ५२–५८।
५२. वही, १४ नं० १३, पंक्तियाँ १६–२५।
५३. इण्डियन आर्किटेक्चर, १२, १६५ प्लेट २, पंक्तियाँ १–२४।
५४. एपिग्राफिका इण्डिका, ३, नं० ३६, पंक्तियाँ ३–१५।
५५. इण्डियन आर्किटेक्चर, ११, ११२, नं० ३, पंक्तियाँ २६–४४।
५६. वही, १५६–६ पंक्तियाँ ३४–५०।
५७. एपिग्राफिका इण्डिका, १८ नं० २६, पंक्तियाँ ६४–७।
५८. वही, ७, नं० ६, पंक्तियाँ ४६–६।

५६. अल्तेकर मं० प्र० पु० पृष्ठ १८६।
६०. एपिग्राफिका इण्डिका, १४ नं० १३, पंक्तियाँ २०–२६।
६१. वही, ४ नं० ३४, पंक्तियाँ ३०–५२।
६२. वही, ४७, पृष्ठ ३०४ से आगे पंक्तियाँ ३६–४६।
६३. वही, २३ नं० ४७, पंक्तियाँ ३३–४०।
६४. ताकाकुसु (अनु०), ए रेकर्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रिलीजन (इत्सिंग का विवरण) पृष्ठ ६५।
६५. एपिग्राफिका इण्डिका, १७ नं० १७, पंक्तियाँ ३३–४०।
६६. वही, १७ नं० १७ पंक्तियाँ ३३–४०।
६७. वही, १६ नं० २ पंक्तियाँ १–१६, नं० २४ पंक्तियाँ ६;६।
६८. वही, १ नं० २० दूसरा अभिलेख, पंक्तियाँ २–६।
६६. वही, पंक्ति ३ और ६।
७०. वही, १ नं० २१, पंक्तियाँ १–४।
७१. वही, ७ नं० २८ 'डी' पंक्तियाँ ७, १६।
७२. वही, १२, पृष्ठ २५८, पंक्तियाँ १०–१५।
७३. वही, २४, ३२६–३३।
७४. वही, २६, नं० १ 'वी' पंक्ति ४२।
७५. वही, १७, नं० १७, पंक्ति ३५१।
७६. वही, १, नं० २३, पंक्तियाँ १–१७।
७७. वही, २१, पंक्तियाँ ४–७।
७८. एपिग्राफिका इण्डिका, पंक्तियाँ १३–३४।
७६. वही, २३ नं० ४२ पंक्तियाँ ३६–४०।
८०. वही, १४, पृष्ठ १७७।
८१. वही, १, नं० २१ पंक्तियाँ २७–२८, ३०–३१।
८२. वही, ३, नं० ३, ६, पंक्तियाँ २२–२३।
८३. जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ६५, भाग १, पृष्ठ २५४–५६, पंक्ति १२१।
८४. वही, पंक्तियाँ १६–२१।
८५. एपिग्राफिका इण्डिका, १४, नं० १५, पंक्तियाँ २३–३०।
८६. वही, १४, नं० १५, पंक्तियाँ २३–३०।

८७. एपिग्राफिका इण्डिका, पंक्तियाँ २७–३०।
८८. वही, २ नं० ८ श्लोक ४६।
८६. वही, १४ नं० १० पंक्तियाँ ८–३१।
६०. अर्ली चाहमान डाइनेस्टीज, पृष्ठ १८७, प्लेट २, पंक्तियाँ ६–११।
६१. वही, पंक्तियाँ १३–१४।
६२. एपिग्राफिका इण्डिका, ६, ११६।
६३. जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ६६ भाग १, १३०–१३१, पंक्तियाँ ६–६।
६४. वही, ६६, भाग १, ६६ से आगे, पंक्तियाँ २७–४६।
६५. वही, ६६, भाग १, ६६ से आगे, पंक्तियाँ ४७–४६।
६६. जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, २, ४४३–४४, पंक्तियाँ ८–१६।
६७. एपिग्राफिका इण्डिका, १४ नं० १५।
६८. नियोगी, पी०, दि इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृष्ठ ५१–५२।
६६. मित्रा एस० के०, – कृत दि अर्ली खलर्स ऑफ खजुराहो, परिशिष्ट १ के आधार पर अनुमानित। लेकिन इनमें से १५वाँ गाँव त्रैलोक्यवर्मन के टिहरी फलकों के आधार पर जोड़ गया है।
१००. एपिग्राफिका इण्डिका, १४ नं० १५।
१०१. मजुमदार, ए० के०, चौलुक्याज ऑफ गुजरात, पृष्ठ ३१८–१६। सिंहराज के सिंदपुर अग्रहार में अनेक गाँव दान किए। वही पृष्ठ २११।
१०२. इलियट व डावसन, ४. १८।
१०३. कार्पस इन्सक्रिप्सन, ४ नं० ४२, श्लोक ३२–४२।
१०४. वही, नं० ४५, श्लोक ४३–४५।
१०५. वही, नं० ७४, श्लोक ३०, पंक्तियाँ ३२–५६।
१०६. एपिग्राफिका इण्डिका, ११ नं० १८, पंक्तियाँ ७–१८।
१०७. वही, १४, नं० ४६, पंक्तियाँ २६–५१।
१०८. वही, ३०, नं० १० (दामोदर देव के मेहार ताम्रपत्र), पंक्तियाँ १७–३२ और पृष्ठ ५७–५८।
१०६. इण्डियन आर्किटेक्चर, ११, ३३७–४०1
११०. एपिग्राफिका इण्डिका, ३, नं० ४०, पंक्तियाँ ५८–५६।
१११. वही, ६, पृष्ठ ६३।

११२. शर्मा, दशरथ, सं० प्र० पु०, परिशिष्ट 'जी' ३, पंक्तियाँ १८–१६।
११३. एपिग्राफिका इण्डिका, ४१, पृष्ठ २०३।
११४. पुष्पानियोगी, सं० प्र० प्र०, पृष्ठ २०१।
११५. इण्डियन आर्किटेक्चर, २०२, पंक्ति ८–२६; पृष्ठ २०३ की सार सूची।
११६. एपिग्राफिका इण्डिका, २२, नं० २०, श्लोक ४१।
११७. वही, ११, नं० ४; २२ पंक्तियाँ ४–७।
११८. वही, ३०, ५७–५८।
११६. राजतरंगिणि, अनु० एम० ए० स्टीन, खंड १, १०८१–८८।
१२०. एनुअल रिपोर्टस ऑफ साउथ इण्डियन इपिग्राफी।
१२१. वही, सं० ११०–१६१२ ई०।
१२२. वही, १६१७ पृष्ठ १२२–२४।
१२३. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द ४ पृष्ठ ३५५।
१२४. हैदराबाद आर्केलाजिकल सर्वे, सं० ८, पृष्ठ ७।
१२५. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, भाग १० पृष्ठ १२६–३१।
१२६. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द ५, पृष्ठ २२।
१२७. एपिग्राफिका कर्नाटिका, १ सं० ४५।
१२८. एनुअल रिपोर्टस ऑफ साउथ इण्डियन इपिग्राफी। १६१३ ई० पृष्ठ १०६–१०।
१२६. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १३ पृष्ठ ३१७।
१३०. एपिग्राफिका कर्नाटिका, पाँचवाँ भाग पृष्ठ १४४।
१३१. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १६, पृष्ठ १४।
१३२. बंगला प्रान्तीय समिति की रिपोर्ट, शिक्षा कमीशन १८८२।
१३३. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ १७।
१३४. एनुअल रिपोर्टस ऑफ साउथ इण्डियन इपिग्राफी। १६१७, पृष्ठ १२२–४।
१३५. इण्डियन आर्किटेक्चर, २०, ६७ आदि।
१३६. वही, १५, ३५०, आदि।
१३७. वही, ५, २२१–२२२।
१३८. एनुअल रिपोर्ट : साउथ इंडियन एपिग्राफी, १६१७ ई० का ६४।
१३६. काव्यमीमांसा, भाग २।
१४०. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्ट्री, पृष्ठ ३२४।
१४१. वाटर्स, २, पृष्ठ १८०।

१४२. एपिग्राफिका इण्डिका, १७, पृष्ठ ३०७।
१४३. वाटर्स, २, पृष्ठ १६५।
१४४. एन्शिएण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृष्ठ, ४४३।
१४५. चुल्लवग्ग, ६.५, ६.१७।
१४६. दास, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एन्शिएण्ट हिन्दूज, पृष्ठ १०–११ ; छान्दोग्य उपनिषद्, ५, ११, ५।
१४७. वृहदारण्यक उपनिषद्, २, १, १, ३, १, १।
१४८. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय ६०।
१४६. अर्थशास्त्र शामशास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ५५।
१५०. वही, पृष्ठ ५५
१५१. चक्रवर्ती, हरिपाद–इण्डिया, एज रिफ्लेक्टेड इन द इन्सक्रिप्शन्स आफ गुप्ता पीरियड, पृष्ठ ३०, ३१ य
१५२. एपिग्राफिका इण्डिका भाग १५, पृष्ठ २५०
१५३. सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स
१५४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २, १०, २६।
१५५. मनुस्मृति, ८, ३८
१५६. दीक्षित, आर० के० का लेख 'कामन्दकाज कन्सेप्ट आफ स्टेट', डा० मोराशी फेलिसिटेशन वाल्यूम, (१६६५) पृष्ठ २५६।
१५७. कामन्दकीय नीतिसार, १, १८।
१५८. शुक्रनीतिसार, सरकार का अंग्रेजी अनुवाद, अध्याय १।
१५६. वही, अध्याय १।
१६०. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ २३५
१६१. नियोगी, रमा, हिस्ट्री आफ गाहडवाल, पृष्ठ २२६–३०।
१६२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, पृष्ठ २४।
१६३. सिंह, आर० बी० – हिस्ट्री आफ चाहमान, पृष्ठ ४१७।
१६४. ब्रिग्स, हिस्ट्री आफ दि राइज़ आफ मोहमडन पावर, भाग १, प्रस्तावना, पृष्ठ ७६।
१६५. शर्मा, दशरथ – अर्ली चाहमान डाइनेस्टी–पृष्ठ २२३।
१६६. वही, पृष्ठ २२६।
१६७. एपिग्राफिकाइण्डिका
१६८. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, भाग २, पृष्ठ ५५।

१६६. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृष्ठ ३३।
१७०. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, पृष्ठ १०।
१७१. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १, पृष्ठ १३८।
१७२. भोज प्रबन्ध, पृष्ठ १७६।
१७३. वही, पृष्ठ ७५।
१७४. राजतरंगिणी, ६, ८६।
१७५. वही, १, ३१४।
१७६. वही, ८, २३६५–६७।
१७७. एपिग्राफिका इण्डिया, भाग २, पृष्ठ २२७।
१७८. शुक्रनीतिसार, सरकार का अंग्रेजी अनुवाद, अध्याय १।
१७६. सचाउ, अल्बेरूनीज़, इण्डिया, भाग २, पृष्ठ १४६।
१८०. आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट में।
१८१. जर्नल आफ बंगाल टीचर्स ज० बं० टी० ए०, भाग १, पृष्ठ १–१०।
१८२. अल्तेकर, राष्ट्रकूट ऐण्ड देअर टाइम्स, पृष्ठ ४०१।
१८३. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १३, पृष्ठ ३१७।
१८४. अल्तेकर, राष्ट्रकूट ऐण्ड देअर टाइम्स, पृष्ठ ३६६।
१८५. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १७, पृष्ठ ३१०, भाग २०, पृष्ठ ४४।
१८६. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ १६३।
१८७. अल्तेकर, एजुकेशन इन एंशेण्ड इण्डिया, पृष्ठ ११८।
१८८. तकाकुसु प्रकाशन, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, पृष्ठ १६३।
१८६. बील, लाइफ आफ ह्वेनसांग भाग २, पृष्ठ १०६।
१६०. वही, पृष्ठ ११०
१६१. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग २०, पृष्ठ ३७।
१६२. बोस, इण्डियन टीचर्स इन बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ ३५।
१६३. आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिका एनुअल रिपोर्टस, १६२६–२७।
१६४. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १७, पृष्ठ ३१०–२७।
१६५. वही, भाग १४, पृष्ठ ६३६।
१६६. वही, भाग १४, पृष्ठ ६३६।
१६७. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, १६७०।
१६८. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ ६८।

१६६. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, पृष्ठ ७६।
२००. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १४, पृष्ठ १६७–२००।
२०१. बाशम, ए० एल०, द वण्डर दैट बाज़ इण्डिया, पृष्ठ १६४।
२०२. वही, पृष्ठ १६४।
२०३. मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया।
२०४. अल्तेकर, राष्ट्रकूट ऐण्ड देअर टाइम्स, पृष्ठ ३६६।
२०५. वही, पृष्ठ ३६६।
२०६. इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, भाग २६, पृष्ठ २२५।
२०७. इण्डियन ऐक्टिवेटी, भाग १७, पृष्ठ ३११।
२०८. मनुस्मृति २, २४५।
२०९. रघुवंश, अध्याय ५।
२१०. मानसोल्लास, भाग १, पृष्ठ १२
२११. दास, एजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशेण्ट हिन्दूज, पृष्ठ १२०।
२१२. वही, पृष्ठ १२०।
२१३. वही, पृष्ठ १२०।
२१४. सत्यकेतु विद्याअवतार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २५०।
२१५. याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा, पृष्ठ १, २८
२१६. स्मृतिचन्द्रिका, १, १४०।
२१७. अपरार्क, पृष्ठ ३७७।
२१८. गुप्त इंस्क्रिप्शंस, स० ४२, पृष्ठ २०३।
२१९. याज्ञवल्क्य, स्मृति, २। १८५।
२२०. अपरार्क, पृष्ठ ७६२।
२२१. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २। १।
२२२. वशिष्ठ धर्मसूत्र, २९। १६।
२२३. अपरार्क, पृष्ठ ३६६–३७०।
२२४. महाभारत, अनुशासनपर्व, ६२, १९।
२२५. वही, पृष्ठ ६२, १९।
२२६. वंशिका, २९। १६।
२२७. अपरार्क, पृष्ठ ३६८–३७०।
२२८. वही, पृष्ठ ३८६–४०३।

२२६. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १८, पृष्ठ ३४०।
२३०. अग्निपुराण २११। ६१।
२३१. अपरार्क, पृष्ठ ३६५–३६६।
२३२. याज्ञवल्क्य १। २०६।
२३३. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २०, अनुक्रमणिका, पृष्ठ ५६, संख्या ३८१०।
२३४. बौधायन धर्मसूत्र, ३। १। १६।
२३५. चुल्लवग्ग, ६। २ एवं १५।
२३६. मनुस्मृति, ११। २६।
२३७. जैमिनी, ६। १। १६।
२३८. याज्ञवल्क्य, २। २२८।
२३६. वही, २।२४० एवं २६५।
२४०. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य, २। १८६।
२४१. मनुस्मृति, ६। २८०।
२४२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ३। ६।
२४३. वही, ५। २।
२४४. एपिग्राफिया, इण्डिका, जिल्द १८, पृष्ठ १३८, श्री रंगम दानपत्र।
२४५. अपरार्क, पृष्ठ ७४६।
२४६. मनुस्मृति ६। २। २१६।
२४७. याज्ञवल्क्य, २। ११८–११६।
२४८. शास्त्री, नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास, नवां संस्करण २००२, पृष्ठ २८१–२८३।

षष्टम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

ऋषि–महर्षियों की परम पवित्र तपःस्थली भारत–भूमि पर सदैव संत–महात्माओं, माहयोगियों, धर्माचार्यों एवं दैवीशक्तियों से युक्त महापुरुषों का अवतरण होता रहा है। इन महापुरुषों को महान् गुणों से अलंकृत करने में हमारी शुचितासम्पन्न धरती के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उर्वरता का विशिष्ट योगदान है। इन गहापुरुषों की प्रेरणा से भारतीय संस्कृति के मूल संस्कारों से सम्पन्न ब्रह्मचर्यव्रती रनातक और विद्यार्थियों ने महामानव होने की प्रतिष्ठा प्राप्त की है और अपनी ज्ञान–ज्योति से विश्व को आलोकित किया है।

ऋग्वेद भारतीय संस्कृति का आधार है। भारतीय संस्कृति एवं जीवन के प्रत्येक भाग पर इसका प्रभाव पड़ा है। इस काल में शिक्षा की उच्च परम्परा भारत में विद्यमान थी। मनु कश्यप, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, अत्रि, कण्व, भृगु, च्यवन, शौनक जैसे उच्च कोटि के शिक्षक उस समय विद्यमान थे। इन ऋषियों ने अपने आश्रम में शिष्यों के लिए आवास, भोजन, एवं शिक्षण की व्यवस्था की थी। उत्तर वैदिक काल में ये आश्रम गुरुकुल या आचार्यकुल कहलाने लगे। इन गुरुकुलों में शिक्षकों और छात्रों ने दार्शनिक चिन्तन–मनन को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया।

उपनिषदों ने दार्शनिक मनन के पुष्प के रूप में भारतीय शिक्षा की वाटिका को सुन्दर बना डाला। उस काल में महिदास ऐतरेय, पिप्पलाद, श्वेताश्वतर, कुशीतक, शांडिल्य, सनत्कुमार, वामदेव, अश्वपति केकय, सत्यकाम जाबाल, राजा जनक, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य, उछ्दालक आरुणि, श्वेतकेतु, जैसे शिक्षा मनीषियों ने गुरुकुलों को चिन्तन–मनन एवं शोध का उच्च संस्थान जैसा रूप दे डाला, गार्गी वाचक्नवी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, अपाला जैसी शिक्षिकाओं ने नारी–शिक्षा का अनुकरणीय स्वरूप प्रस्तुत किया।

शिक्षा की यह परम्परा पुराणों एवं महाकाव्यों के काल में चलती रही। परशुराम के गुरुकुल में शस्त्र एवं शास्त्र दोनों की शिक्षा दी जा रही थी। वाल्मीकि ने लवकुश को द्रोणाचार्य ने कौरवों एवं पाण्डवों, सान्दीपनि ने कृष्ण व सुदामा को केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक शिक्षा दी थी।

हमारी भारत भूमि में शिक्षा मनीषियों ने दार्शनिक चिन्तन–मनन के क्रम में षड्दर्शनों को रूपायित किया। वेदव्यास ने वेदों के सम्पादन, ब्रह्मसूत्र के प्रणयन एवं अष्टादश पुराण रचना का सराहनीय कार्य किया। उनके शिष्य जैमिनि ने मीमांसा दर्शन का प्रणयन किया, कपिल ने सांख्य के दर्शन का प्रतिपादन किया, पतंजलि ने योग, गौतम ने न्याय और कणाद ने वैशेषिक दर्शन के विशिष्ट योग्यता हेतु शिक्षकों एवं छात्रों को तैयार किया।

वैदिक शिक्षा का सर्वोच्च संस्थान तक्षशिला में था। प्रसेनजित व चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे शासक तक्षशिला के ही छात्र थे। इसी विश्वविद्यालय में पाणिनि जैसे व्याकरण, जीवक जैसे शल्यक्रिया विशेषज्ञ एवं चाणक्य जैसे राजनीति विशारद आचार्य थे। आत्रेय पुनर्वसु, सुश्रुत एवं चरक भी इसी विश्वविद्यालय के छात्र व शिक्षक रहे होंगे।

गौतम बुद्ध का प्रभाव बढ़ने पर, बौद्धधर्म के उदय एवं प्रचार प्रसार के बाद बौद्ध दर्शन के पठन–पाठन की परम्परा प्रारम्भ हुई। उस समय नालन्दा जैसा शक्तिसम्पन्न विश्वविद्यालय उदित हुआ, जिसमें संगठित शिक्षा–व्यवस्था के दर्शन होते हैं। आर्यदेव, शान्तरक्षित, स्थिरमति, शीलभद्र, ह्वेनसांग, इत्सिंग, कमलशील, बृद्ध ज्ञानपाद, पद्मसंभव, वीरदेव जैसे अन्तर्राष्ट्रीय (ख्यातिप्राप्त) छात्र व शिक्षक इस विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे। विक्रमशिला भी ऐसा ही विश्वविद्यालय था जिसमें नारोपा, रत्नाकर शान्ति, दीपंकर श्रीज्ञान, जेतारि, अभयकर गुप्त, वैरोचन रक्षित, तथागत रक्षित जैसे शिक्षा मनीषी शिक्षा प्रदान कर रहे थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश के समय द्वारपंडित प्रवेश–परीक्षा लेता था और सफल होने पर ही छात्र प्रवेश का अधिकारी होता था। रत्नाकर शान्ति, ज्ञान श्रीमित्र, प्रभाकरमति, रत्नवज्र, नारोपा, वागीश्वर कीर्ति विभिन्न

द्वारों पर नियुक्त द्वारपंडित थे। अन्तिम कुलपति शाक्य श्री भद्र थे।

गांधार में शिक्षा की उच्च परम्परा अश्वघोष, वसुबन्धु और असंग चला रहे थे नागार्जुन श्रीशैल विश्वविद्यालय के कुलपति थे। अवन्ति में मुंज और भोज के ज्ञान क सूर्य शिक्षा के आकाश में चमक रहा था। वराहमिहिर और भास्कराचार्य ने अवन्ती में ज्योतिष व गणित की उच्चतम शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की थी। कुमारजीव व गुणवर्मन कश्मीर में उच्च बौद्ध शिक्षा की परम्परा के ध्वजवाहक थे, तो पाटलिपुत्र में आर्यभट्ट प्रथम की पताका शिक्षाकाश में फहरा रही थी। जगद्दला, वलभी, ओदन्तपुरी, मिथिला, नदिया, जैसे स्थानों पर भी उच्च कोटि के शिक्षक, इन शिक्षा केन्द्रों को विश्वविद्यालय का रूप दे रहे थे।

प्राचीन भारत की शिक्षा—व्यवस्था का अध्ययन करने के प्रामाणिक साधनों के रूप में वेद ही सर्वोत्तम हैं। वेद उस समय की रचनाएँ हैं जब आर्य—संस्कृति अपनी चरमोन्नति पर थी। इन वेदों में तत्कालीन समाज की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा अन्य सभी प्रकार की परिस्थितियों का उल्लेख है। प्राचीन भारतीय शिक्षा—व्यवस्था का वर्णन भी इन्हीं वेदों से उपलब्ध होता है। इस युग की शिक्षा—व्यवस्था को हम 'वैदिक—कालीन शिक्षा' कहते हैं। वेदों में 'ऋग्वेद' को आदि वेद माना जाता है। इस वेद में ऋचाओं द्वारा ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, जीव, सृष्टि, प्रलय, कर्मफल, वर्षा, आश्रम, अध्ययन आदि के विषय में ज्ञान दिया गया है। तत्कालीन शिक्षा—व्यवस्था का ज्ञान यजुर्वेद भी पर्याप्त मात्रा में कराता है। यजुर्वेद की रचना पद्य और गद्य में है, तथा इसमें विभिन्न प्रकार के सोलह संस्कार, शिक्षा, समाज, राज्य, गणित, कृषि, वैद्यक, रसायन, ज्योतिष, यंत्र, युद्ध, संगीत, आहार, भवन—निर्माण आदि के सम्बन्ध में विवेचना की गई।

आर्य शिक्षा को ही अपने शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा सामजिक विकास का एकमात्र साधन मानते थे। अशिक्षित मनुष्य को असभ्य तथा पशु—तुल्य समझा जाता था। शिक्षा मनुष्य को नये पथ तथा नवीन ज्ञान दर्शाने का साधन थी।

शिक्षा के द्वारा ही ज्ञान–चक्षु खुलते थे। शिक्षा ही मनुष्य को अपने चरम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कराने में सहायता करती थी। शिक्षा ज्ञान का साधन थी और ज्ञान मनुष्य का तृतीय नेत्र था।

धर्म के कारण शिक्षा के उद्देश्य भी धार्मिक थे। वैदिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक विकास करना था। डॉ० राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार ज्ञान केवल ज्ञान–प्राप्ति के लिए ही नहीं था, और न धर्म का एक अंग ही था, वरन इसका प्रमुख उद्देश्य जीवन का चरम लक्ष्य 'मुक्ति' प्राप्त करना था। शिक्षा उतनी भौतिकवादी न थी, और न जीविकोपार्जन के साधनों का ही ज्ञान प्राप्त कराती थी। वरन यह तो हमें सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् का ज्ञान प्राप्त कराती थी।

तत्कालीन शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए डॉ० ए० एस० अल्तेकर ने लिखा है 'ईश–भक्ति एवं धार्मिक भावना, चरित्र–निर्माण, व्यक्तित्व–विकास, नागरिक एवं सामजिक मूल्यों का विकास, सामाजिक दक्षता का विकास तथा राष्ट्रीय संस्कृति का प्रसार एवं संरक्षण प्राचीन भारतीय शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य तथा लक्ष्य थे। इस प्रकार शिक्षा का ध्यान व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की ओर अधिक था। वैदिक युग में भौतिक विकास के प्रति विशेष आस्था न होते हुए भी, शिक्षा में कर्म की उपेक्षा नहीं की गई थी। हाँ, ऐसे कर्म की सदैव उपेक्षा की गई थी जो मनुष्य को बंधनों में डालता है।

वैदिककालीन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक विकास करना था, किन्तु कर्म की भी उपेक्षा नहीं की गई थी। वेदों में आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों ही प्रकार के ज्ञान का वर्णन है। यहाँ पर परा तथा अपरा दोनों ही प्रकार की विद्याओं का वर्णन पाते हैं। परा विद्या, जिसका प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक विकास करना था, धर्म, जीव, आत्मा, परमात्मा, पुराण, दर्शन, वेद, वेदांग, नीतिशास्त्र आदि का अध्ययन कराती थीं तथा अपरा विद्या, जो प्रमुख रूप से लौकिक जगत से सम्बन्धित थी, अंकशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र, ज्योतिष, भूगर्भ विद्या, भौतिकशास्त्र आदि से सम्बन्धित थी।

वेद–काल में शिक्षण–कार्य मौखिक रूप से ही होता था। गुरु द्वारा उच्चारित मंत्रादि को छात्र ध्यानपूर्वक सुनता और कंठस्थ करता तथा चिन्तन करता था। शिक्षण पद्धति में वाद–विवाद, शास्त्रार्थ, प्रवचन, व्याख्या, शंका–समाधान, प्रश्नोत्तर आदि का प्रमुख स्थान था। छात्रों को अधिकांश ज्ञान पद्य के माध्यम से प्रदान किया जाता था।

इस काल में छात्र को किसी भी प्रकार का दक्षिणा/शुल्क नहीं देना पड़ता था, शिक्षा पूर्णतया निःशुल्क थी। छात्रों से शुल्क मांगना अत्यन्त निन्दनीय कार्य समझा जाता था, क्योंकि शिक्षा–प्रदान करना ब्राह्मणों का धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। हाँ,छात्र शिक्षोपरान्त गुरु को अपनी श्रद्धा तथा सामर्थ्यानुसार दक्षिणा अवश्य प्रदान किया करता था। निर्धन तथा सामर्थ्यहीन छात्र गुरु–दक्षिणा नहीं दे पाते थे। वे गुरु–दक्षिणा के बदले आश्रम में परिश्रम करते थे और भिक्षा तथा दान ग्रहण करके गुरु–दक्षिणा चुकाते थे। गुरु–दक्षिणा में गाय, घोड़े, धन व अन्न आदि कुछ भी दिया जा सकता था।

गुरु–दक्षिणा के अतिरिक्त जनसाधारण तथा राज्य द्वारा भी आश्रमों की सहायता की जाती थी। ग्राम–सभाएँ तथा ग्राम–परिषदें, अड़ोस–पड़ोस के धनी व्यक्ति, व्यापारी तथा मध्यम वर्गीय व्यक्ति शादी, श्राद्ध, जन्मोत्सव आदि के अवसर पर आश्रमों को अच्छा दान दिया करते थे। राजा भी आश्रमों को गांव, भूमि, गाय, अश्व तथा अन्नादि दिया करते थे। राजा द्वारा आश्रमों को दान में दिये गये गांव 'ब्रह्मपुरी' अथवा 'अग्रहार' कहलाते थे तथा इस प्रकार से दिया गया दान 'भट्ट–वृत्ति' कहलाता था। इन दानों की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि दानकर्ता दान देकर इन आश्रमों पर किसी भी प्रकार के नियंत्रण, हस्तक्षेप अथवा प्रतिबन्ध करने का अधिकारी नहीं होता था।

खुले–प्रशस्त वनों, मैदानों, नदियों के तटों और पर्वतों की चोटियों पर जनकोलाहल से दूर, शिक्षण संस्थाओं की स्थापना होती रही थी। यदि धौम्य ऋषि के खेत की मेड़ पर अरुणि स्वयं लेटकर जल का बहाव रोकता था, तो उपमन्यु भी आक

के पत्ते खाकर अथवा भूंखे रहकर अपनी गुरुभक्ति का परिचय देता था। शुक्राचार्य आश्रम में कच तथा वृहस्पति आश्रम में सुकदेव जी ने भी अथक परिश्रम एवं तप करके विद्याध्ययन किया था। इसी प्रकार महर्षि चरक और सुश्रुत ने आयुर्वेद के क्षेत्र में बहुत सी खोज एवं अनुसंधान करके मानव समाज के रोगों व व्याधियों से मुक्त कराने का सराहनीय कार्य किया। महर्षि कणादि ने खेतों में गिरे अन्न के द्वारा अपने परिवार का पालन किया और पिप्लाद ने पीपल के पत्ते खाकर जीवन बिताये।

भारत को सूर्योदय की भूमि कहा जाता है और आदिकाल से ज्ञान–विज्ञान की रश्मियाँ यहीं से ही विकीर्ण होती रही हैं। भारत को विश्वगुरु बनने का गौरव ऋषियों एवं महर्षियों ने दिया और उपनिषद के सन्देश से जीवात्मा को परमात्मा के निकट बैठाकर, मन, बुद्धि, प्राण और समष्टि को अनुप्राणित करने का कार्य किया। भारतीय शिक्षा की नीति रही है, वेद की परम्परा, जो कहती है कि आत्मसाक्षात्कार करो, अपने को जानो, अपने लिए जानो, तभी सभी को समझा जा सकता है।

हमारे आदि मनीषियों, महर्षियों, ब्रह्मर्षियों, कवियों दार्शनिकों तथा विचारकों ने शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा है कि इसके द्वारा हमारे नौजवानों एवं नवयुवतियों का न केवल शरीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं सामाजिक विकास होता है, वरन् इससे उनका आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक विकास भी होता है। वस्तुतः ऐसी स्थिति में ही सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

भारतीय संस्कृति में दया की भावना का आदर्श भारतीय संस्कृति की अस्मिता का उद्घोषक रहा है। ज्ञानार्जन करने में, दान करने में, आर्तजनों की रक्षा करने में अपने जीवन को समाप्ति करना ही भारतीय शिक्षा दर्शन का मूल प्रतिपाद्य रहा है। शिक्षा ज्ञान का पर्याय है। ज्ञान रश्मियों का विस्तार है। विज्ञान के ज्ञान को आत्मसात एवं ग्रहण करना शिक्षा का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार शिक्षित वह है, जिसमें मानवता, विनम्रता, अप्रगल्भता का संयोग हो। मानव को पूर्ण मानव बनाना शिक्षा दर्शन का उद्देश्य है। जिस साधना से मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित

होकर बलवती बन सके, वही वास्तविक शिक्षा दर्शन है। इस प्रकार शिक्षा दर्शन का कार्य चरित्र निर्माण का कार्य भी है, इसीलिए इसका आधार दार्शनिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भी है।

अधिकतर उपनिषदों में गुरु–शिष्य के सम्बन्ध सन्दर्भ के संकेत मिलते हैं और उसका आधार आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता में सभी के लिए करुणा, संवेदना एवं सहानुभूति की त्रिधारा के दर्शन होते हैं। आध्यात्मिक शिक्षा की मूल चेतना विश्वमानवता की कल्याण चेतना ही है और इसे ही सत्यम, शिवम, सुन्दरम की छवियों को उभारने के रूप में आगे लाया जाता था।

उपनिषद वेदों की आत्मा है। उपनिषद का शाब्दिक अर्थ है – समीप बैठाना अर्थात गुरु के चरणों में 'दिव्यता–उदात्तता' की अनुभूति को प्राप्त करना। इस परम दिव्य परिज्ञान की प्राप्ति प्राचीन भारतीय गुरु–शिष्य की परम्परा में निहित है। प्राचीन काल में सद्गुरु, शिष्य की प्रसुप्तप्रज्ञा को अनन्तता से जोड़ता था। पराविद्या विषयक ज्ञान, वेद, वेदांग, षड्दर्शन तथा ज्ञान की उन शाखाओं में विद्यमान था, जिसकी शिक्षा गुरुकुलों में दी जाती थी।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली आध्यात्मिक एवं धार्मिक चेतना से ओत–प्रोत थी। दिव्यता अलौकिता, गुरु–शिष्य एवं ज्ञान इन तीनों की त्रिधारा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में प्रवाहमान थी। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड में वर्णित वेदविधाएँ ज्ञान के विविध रूपों और कलाओं की जननी बनी थीं। चार वेद, छः वेदांगों में संकल्पित वैदिक शिक्षा कितने ही शास्त्रों और चौसठ कलाओं में परिणत हो गई। चरण, व्यूह, शाखा और उपनिषद जैसे शिक्षा तन्त्र वैदिक शिक्षा की भारतीय अस्मिता थी। इन गुरुकुलों में आवासीय परम्परा प्रचलित रही हैं, जहाँ आत्मविश्वास, मनोयोग, अध्यवसाय, दृढ़चरित्र, उदान्तता, सर्वधर्म समन्वय चेतना जैसे महान राष्ट्रीय गुणों का विकास गुरु के सतत सान्निध्य में कराया जाता था।

भारतीय शिक्षा पद्धति प्रारम्भ से ही जीवन मूल्यों एवं आध्यामिक चेतना से जुड़ी

हुई है। शिक्षा का मूल सन्देश ज्ञान की प्राप्ति और अज्ञान की निवृत्ति है। शिक्षा में आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक जीवन मूल्यों से सम्बन्धित सुसंस्कृत मानव की परिकल्पना ही मानवीय आदर्शों से युक्त शिक्षा दर्शन का उद्देश्य था। महर्षियों द्वारा उद्भाषित जन्म के पूर्व तथा पश्चात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन अन्नप्राशन, निष्क्रमण तथा कर्णभेद आदि जीवन विकास के प्रेरक संस्कारों का बालकों के स्वास्थ के लिए विशेष महत्व रहा है। हमारे ऋषि–महर्षियों ने चार वर्णों की भांति समाज में चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास की व्यवस्था की थी।

वैदिककालीन विद्यार्थी की लक्ष्यपूर्ति के लिए ही विद्याध्ययन किया करता था। शिष्य अपनी इष्ट–सिद्धि के लिए गुरु–चरणों की शरण में जाता था। गुरु उसके अज्ञान का निवारण करता था। शिक्षा का चरम उद्देश्य था आत्मज्ञान की उपलब्धि। शिष्य, गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् ब्रह्म के रूप में मानते थे। गुरुकुल के यज्ञमय वातावरण में विद्यार्थी की जिज्ञासा, वातावरण का प्रभाव और मूर्धन्यों के सत्संग का समन्वय, गंगा–यमुना–सरस्वती के त्रिवेणी संगम का स्वरूप प्रस्तुत करता था।

इस प्रकार गुरुकुल राष्ट्रीय निर्माण धारा में विद्यार्थी के समर्पण की एक प्रक्रिया को जन्म देने वाला विचार था, जहाँ उसे परिवार और व्यक्तिगत संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर राष्ट्रोपयोगी या मानवोपयोगी बनाया जाता था। वहाँ व्यक्तित्व निर्माण, पूजा–उपासना की विभिन्न पद्धति एवं उपासना के उपकरणों के माध्यम से भी महत्वपूर्ण शिक्षा दी जाती थी। वहाँ ऋषियों ने समाज को समुन्नत और सुविकसित बनाने, उसमें एकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, नागरिकता, परमार्थ–परायणता, देशभक्ति और लोक मंगल की प्रेरणा भरने के लिए पर्वों के आयोजन करने जैसी प्रणाली का भी आविष्कार किया गया।

प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा की एक विशेषता थी – आत्मनिरीक्षण द्वारा शिक्षा देना। प्रत्येक गुरुकुल में नित्य यज्ञ होते थे, जिनमें सत्वर वैदिक मन्त्रों का उच्चारण होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुकुलों की शिक्षा–पद्धति व्यावहारिक और

चरित्र–निर्माणमूलक रही है। मनोरम प्राकृतिक वातावरण में रहकर बलिष्ठ शरीर का निर्माण, समानता का जीवन जीकर सामाजिक चेतना की प्राप्ति तथा गुरु के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर आत्मिक विकास या सर्वांगींण व्यक्तित्व अर्जित करना गुरुकुल की देन थी। वर्तमान समय में भी गुरु शिष्य का माता–पिता जैसा सम्बन्ध, ब्रह्मचर्यपालन, समान शिक्षा तथा समान रहन–सहन पर आधारित शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है, इसके अभाव में सामाजिक अभ्युत्थान और राष्ट्र निर्माण की बात करना निर्मूल है।

गृहस्थ ब्राह्मणों के पांच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता था। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने वाले ऋषियों की आवास भूमि अरण्य को ही बताया गया है। अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का एक पर्याय समझा जाने लगा था। महाभारत के अनुसार एक आचार्य भारद्वाज का आश्रम गंगाद्वार (हरिद्वार) में था। इस विद्यालय में वेद–वेदांगों के साथ अस्त्र–शस्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। राजा द्रुपद ने द्रोण के साथ इसी आश्रम में शिक्षा पाई थी। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम ने प्रयोग, रहस्य और उपसंहार–विधि के साथ सभी अस्त्र–शस्त्रों की शिक्षा द्रोणाचार्य को दी थी।

हिमालय पर्वत के वदरी क्षेत्र में स्थित महर्षि व्यास के आश्रम में सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनी तथा वैल, वेद का अध्ययन किया करते थे। मालिनी तट पर स्थित महर्षि कण्व के आश्रम में न्याय–तत्व, आत्मविज्ञान, मोक्षशास्त्र, तर्क व्याकरण, छन्द, निरूक्त आदि विषयों के प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा ग्रहण करते थे। रामायण के अनुसार प्रयाग में गंगा–यमुना एवं सरस्वती के पावन त्रिवेणी तट पर स्थित भरद्वाज (प्रथम) के आश्रम में अध्ययन अध्यापन और आवास के लिए पर्णशालाएँ बनी थीं।

दण्डकारण्य स्थित महर्षि अगस्त के आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, सोम, भग, कुबेर, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुण, कार्तिकेय और धर्म के स्थान बने हुए थे। प्राचीन काल में शिक्षा के सर्वोच्च केन्द्र महर्षियों के आश्रम ही थे।

भारतीय शिक्षा–दर्शन के प्रचार–प्रसार में गुरुकुलों, मन्दिरों एवं मठों की विशेष भूमिका रही है। इन्हीं शिक्षा केन्द्रों से प्रेरित होकर भारतीय सन्त एवं मनीषी सम्पूर्ण विश्व में फैल गये। श्रीमद्‌भागवत्‌गीता, रामायण, उपनिषद एवं रामचरित मानस जैसे आर्ष ग्रन्थों के साथ–साथ लोक कथाएँ, शिल्प विद्याएँ मन्दिर एवं मठों के प्रांगण में पनपने लगीं थीं। इस भक्ति आन्दोलन को भारतीय शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में नूतन सांस्कृतिक धार्मिक चेतना का युग कहा जा सकता है। इस संक्षिप्त भारतीय शिक्षा–सूत्रों की परम्पराओं से स्पष्ट है कि मन्दिर अतीत काल से ही शिक्षा दर्शन के केन्द्र रहे हैं। मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति में भी मन्दिरों की विशेष भूमिका रही है।

मन्दिरों की कलाओं में प्रकृति के रहस्य उद्‌धारित होते रहे हैं। यजुर्वेद की आर्यभाषा में समस्त चराचर को ईश्वर का मन्दिर कहा गया है। इस प्रकार "मन्दिर–संस्कृति शिक्षा दर्शन परम्परा" आध्यात्मिक उदात्त मूल्यों के केन्द्र रहे हैं। वस्तुतः मन्दिर संस्कृति और शिक्षा दर्शन के सम्बन्धों को उजागर करने के लिए इतना कहना पर्याप्त होगा कि वेद की देवत्व अवधारणा को साकार करते हुए तथा उसे आध्यात्मिक चेतना के साथ जीवस्त बनाने की दिशा में 'मन्दिर संस्कृति' शिक्षा के उद्‌देश्यों की प्रयोगशाला बनी थी।

स्कन्दोपनिषद का यह सूत्र उल्लेखनीय है कि देवालय शरीर है तो उसमें प्रतिष्ठित देवप्रतिमा जीव या आत्मा है। 'देहो देवालयो प्राक्तो जीवो देवः सनातनः।' यदि गर्भगृह में स्थापित देवमूर्ति प्राण है, मन्दिर शरीर है तो मन्दिर या अन्य वास्तुकृति के विभिन्न भागों में मूर्तियों एवं चित्रों का रूप–संयोग शरीरिक अलंकरण है।

मन्दिर संस्कृति से मानवी–चेतना के उत्थान के मध्यकालीन समग्ररूप को लिया जा सकता है, जहाँ विराट को समेट कर मानव जीवन में उड़ेल दिया जाता है। मन्दिर में स्थित देव–प्रक्रिया मानव भावनाओं का साकार रूप है। मानव व्यक्तित्व को ऐसे बहुमुखी आयाम मिलते हैं जिनके चिन्तन मनन और व्यवहार से उसका 'स्व' ही नहीं अपितु सम्पूर्ण, भी सार्थक और महत्वपूर्ण हो उठता है। वस्तुतः मंदिर का यह रूप ही

प्राचीन शिक्षा के मूल उद्देश्यों की प्राप्ति में वरदान का कार्य किया करता था और शिक्षा के विकारों का अहंमूलकता, मूल्यहीनता, अन्धविश्वास, व्यक्तित्व विखण्डन प्रतिबद्धता और बहुमुखी अतिवादों की चुनौतियों को स्वीकार ही नहीं करता, अपितु समन्वय समग्रता, रसमयता, सहिष्णुता, संयम और आत्मसम्मान जैसे उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा भी किया करता है।

सन्तों एवं आचार्यों द्वारा प्रणीत मन्दिर–संस्कृति अमूर्त मूल्यों को मानवीय रूपों में प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयास कहा जा सकता है। चाहे किसी भी जीवन चर्चा के अनुयायी हों, मन्दिर संस्कृति एक व्यापक आस्था और सामंजस्य समन्वय सूत्र का प्रतीक होती है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलनों में सन्तों, सूफियों, भक्तों एवं भिक्षुकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का जो कार्य 'वैदिक यज्ञ' सम्पन्न करता था वही कार्य सरल होकर मन्दिर परिसर में उद्भूत 'भोगराज एवं श्रृंगार' की परिपाटी ने किया। मन्दिर संस्कृति की परिधि में सारे समाज को समेटने का यह शैक्षणिक प्रयोग और उस मन्दिर को परिवार ही नहीं, व्यक्ति–व्यक्ति तक प्रसारित करने के अभियान उभयमुखी शिक्षा स्रोत थे। जो शिक्षालय एवं समाज के गठबन्धन को चिरस्थाई करता था। जीवन के क्रम, चिन्तन और संसार नहीं है, वरन उसके उपयोगितावादी रूप शिल्प, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, नृत्य, संगीत, पाक कला, चित्रकला, पात्रशिल्प, युद्धकला, देवयजन कला इत्यादि जीवन के बहुमुखी आयाम भी थे। उन सभी का समावेश मन्दिर संस्कृति में ही सम्भव था। पर्वो, उत्सवों के आमोद–प्रमोद को ऐन्द्रियरूप से मुक्त करने के लिए पवित्र मन्दिर प्रांगण को दिव्य–चेतना एवं रसमयता से प्रवेष्ठित कर दिया। मन्दिर संस्कृति ने शिक्षा–दर्शन के विकास को द्विगुणित किया ही साथ ही उसे उदात्त मानवीय गुणों एवं मूल उद्देश्यों से भी जोड़े रखा।

ईसापूर्व युग में जब जैन और बौद्ध धर्म विरोधी स्वरों के साथ उभर कर सामने आये तो उन्होंने अपनी गाथाएँ, आस्थाएँ, देवताओं के आकार–प्रकार, पूजा सम्बन्धी क्रिया–कलाप आदि सभी बातें मन्दिरों की पूजा विधि से ली, किन्तु किंचित प्रकारान्तर से वे ही अपनाई जो कि उनकी अपनी पूजा विधि, अपने देवता की महिमा के अनुरूप

थी। मन्दिर मूलतया अपने आकार–प्रकार तथा बनावट के लिए इस बात पर निर्भर रहे कि उनमें कौन से देवता की स्थापना है।

स्कन्दपुराण के अनुसार सरस्वती के मन्दिर में विद्यादान करना पुण्य का कार्य माना जाता था। ऐसे मन्दिरों में धर्मशास्त्र की पुस्तकों का दान किया जाता था। यदि मन्दिरों को प्राचीन युग के महर्षियों व तपस्वियों का स्मारक कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। मन्दिरों में शिक्षा के ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शती से मिलते हैं। बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में सलोत्गी के मन्दिर में त्रयीपुरुष की मूर्ति की स्थापना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण के द्वारा की गयी थी। ९४५ ई० में इसके प्रधान कथा में विद्यालय की प्रतिष्ठा की गयी। यहाँ छात्रों के लिए सत्ताईस छात्रालय बनवाये गये थे। इस विद्यालय में पांच सौ से अधिक विद्यार्थी रहे होंगे।

अर्काट प्रदेश में एन्नारियम वैदिक विद्यालय की प्रतिष्ठ ११वीं शती के प्रारम्भ में हुई थी। इसमें तीन सौ चालीस विद्यार्थियों के अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी, जिनमें से ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्ण यजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्ल यजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण, ३५ प्रभाकर मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे। इसमें १६ अध्यापक थे। इसकी आर्थिक व प्रशासनिक व्यवस्था स्थानीय लोगों के पास थी।

पिंगलीपुर जिले में तिरुपुक्कुदल विद्यालय की स्थापना ११वीं शती में वेंकटेश्वर के मन्दिर में हुई थी। इस विद्यालय में ६० विद्यार्थियों के रहने व उनके भोजन का प्रबन्ध किया गया था। जिसमें से १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पंचरात्रदर्शन, ३ शैवागम के विद्यार्थी तथा ७ वानप्रस्थ और सन्यासी थे।

१४वीं शती में तिरुवोर्रियर और मल्लकापुरम में उच्चकोटि के विद्या मन्दिर थे। तिरुवोर्रियुर के विद्यामन्दिर में व्याकरण की ऊँची शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया था। इसमें ५०० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। मल्लकापुरम के विद्या मन्दिर में ८ अध्यापक थे। वे वैदिक साहित्य और व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र तथा आगम

की शिक्षा देते थे।

११वीं शती में हैदराबाद राज्य के नगई नगर में जो विद्यामन्दिर था उसमें वेद पढ़ने वाले २००, स्मृति पढ़ने वाले ५२ विद्यार्थी थे। विद्या मन्दिर को पुस्तकालय में ६ अध्यक्ष थे। १०७५ ई० में बीजापुर के एक मन्दिर में योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा दर्शन की उच्च शिक्षा देते थे। ऐसे ही अनेक विद्यामन्दिर १०वीं शती से लेकर १४वीं शती तक बीजापुर जिले में मनगोली, कर्नाटक जिले में बेलगमवे, शियोग जिले में तालगुण्ड, तंजौर जिले में पुन्नवयिल आदि स्थानों में थे।

विद्वान ब्राह्मणों का भरण–पोषण करने का उत्तरदायित्व प्रायः राजाओं, महाराजाओं तथा सम्पन्न लोगों पर था। ऐसे ब्राह्मणों के उपभोग के लिए राजा भी धनी लोगों की ओर से क्षेत्र भी अन्न दान रूप में दिया जाता था, उसे अग्रहार कहा जाता था। गुरुकुलों से लौटे स्नातकों को इस प्रकार के अग्रहार प्रायः मिल जाया करते थे। ऐसे अग्रहारों का उपभोग करने वाले ब्राह्मण स्वाध्याय और अध्यापन में अपना समय निश्चिन्त होकर लगा सकते थे। इस प्रकार अग्रहारों में विद्यालय की प्रतिष्ठ होते देर नहीं लगती थी। अग्रहारों की कोटि की अन्य संस्थाए घंटिका और ब्रह्मपुरी में रही हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ दक्षिण भारत में अधिक संख्या में थीं।

अग्रहार संस्था का आरम्भ द्वापर युग के बाद हुआ बताया गया। अग्रहार संस्थाएँ इस बात की प्रतीक थीं कि तत्कालीन आचार्यो में से कुछ लोग प्राचीन प्रतिष्ठित तपोमय जीवन की कठिनाइयों को अपनाने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने अपने विद्याभ्यास के लिए वन के स्थान पर नगर या गांवों को चुना।

राजकूट राजवंश की ओर से १०वीं शती में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में कटिपुर अग्रहार २०० ब्राह्मणों के लिए दिया गया था। इसमें वैदिक साहित्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण तथा राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों के निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध अग्रहार की आय से होता था। सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूर के हस्सन जिले में प्रतिष्ठित था। मैसूर राज्य में वनवासी की राजधानी वेलगांव से सम्बद्ध तीनपुर, पांच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन व बौद्ध बिहार थें। यहां पर वेद, वेदांग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदि कि शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहार की भांति 'टोल' नामक शिक्षण संस्था का प्रचलन उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में रहा है। यह संस्था नागरिकों की आर्थिक सहायता तथा भूदान से चलती थी। 'टोल' गांवों से सम्बद्ध होते थे। गांवों के पंडित आसपास के विद्यार्थियों के लिए भोजन व वस्त्र का प्रबन्ध करते थे और साथ ही विद्यादान देते थे। विद्यार्थियों के लिए छात्रावास विद्यालय के समीप चारों ओर बने होते थे। टोलो का अस्तित्व छोटी पाठशालाओं के रूप में बहुत प्राचीन काल से रहा है।

गौतम बुद्ध के समय से ही बौद्ध दर्शन और धर्म के अध्ययन तथा अध्यापन के लिए भारत के प्रत्येक भाग में असंख्य बिहार बने। बिहारों में बौद्धदर्शन और धर्म के अतिरिक्त अन्य मतावलब्यिों के दर्शन तथा धर्म के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया था और साथ ही लौकिक उपयोगिता के विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। ह्वेनसांग के अनुसार भारत में ७वीं सती में लगभग ५ हजार बिहार थे और इनमें सब मिलाकर दो लाख भिक्षु शिक्षा पाते थे। विहारों में भिक्षु आजीवन रहते थे और वे अध्ययन–अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधि में अपना सारा समय लगा देते थे। नालन्दा, वलभी तथा विक्रमशिला के बौद्ध विश्वविद्यालय सारे एशिया महाद्वीप में अपनी उच्च शिक्षा के लिए प्रख्यात थे।

'इन दिनों ऐसी ही गुरुकुल प्रणाली और प्राचीन शिक्षा पद्धति को अपनाने की आवश्यकता है। जिससे ऐसे गुरुकुलों, आरण्यकों, विद्यालयों व महाविद्यालयों से दीक्षित स्नातक पुनः 'माता भूमिः पुत्रेऽहं पृथिव्याः' जैसी प्रतिज्ञा कर समाज में प्रवेश कर सकें और देवमानवों की संस्कृति पनपा सकें तथा वे ऋषियों की परम्परा फिर से कायम कर सकें। क्योंकि शिक्षा तो जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। अतः बालक की प्रतिभा को भलीभांति निरीक्षण करके और उसे सामाजिक प्रभाव से प्रेरित करके, उसके शारीरिक, आत्मिक तथा चारित्रिक विकास के साथ–साथ उसकी आजीविका के योग्य बनाना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। और यह कार्य हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति ही कर सकती है। यद्यपि मन्दिरों में शिक्षण कार्य बौद्ध विहारों में प्रारम्भ शिक्षण कार्यों के बाद से प्रारम्भ हुए, किन्तु ज्यादातर मन्दिर इस व्यवस्था से प्रभावित होते गये। मन्दिरों को मुसलमान शासकों द्वारा उत्तर भारत के ज्यादातर मन्दिर एवं पाठशालाओं को ध्वस्त कर दिये जाने के कारण इसका विस्तृत विवरण नहीं उपलब्ध हो सका है किन्तु

दक्षिण भारत के मन्दिरों में शिक्षा की व्यापक व्यवस्था रही। हिन्दू व जैन मन्दिरों एवं बौद्ध विहारों में शिक्षा व्यवस्था की लोकप्रियता बच्चों को निःशुल्क आवासीय सुविधा एवं धार्मिक क्रियाकलापों के कारण बढ़ी।

अतः हम यह गर्व के साथ कह सकते हैं कि हमारे ऋषि–मुनियों तथा आचार्यों के आश्रमों की पुण्यदायिनी शक्ति से प्राचीन भारत के लोग पूर्णतः प्रभावित रहे। आश्रमों में यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओं की प्राणप्रतिष्ठा की जाती रही थी। पौराणिक युग में जब यज्ञों का स्थान बहुत कुछ देवपूजा ने ले लिया तब देवप्रतिष्ठा की प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुग के पुत्यायतन ही आगे चलकर मन्दिर रूप में प्रतिष्ठित हुए। आचार्यों के विद्यालय, आश्रम के स्थान पर मन्दिर बन गये। उन मन्दिरों की रूपरेखा और वातावरण आधुनिक मन्दिरों से सर्वथा भिन्न थे। उन्हें यदि विद्यामन्दिर कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। ऐसे मन्दिरों में पूर्ववर्ती आश्रम जीवन का आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था।

मन्दिर पौराणिक युग में शिक्षा के साथ–साथ धर्म सम्बन्धी अभ्युदय के प्रमुख प्रतीक थे। यहीं से धार्मिक भावनाओं की सरिता का सर्वत्र प्रवाह होता था। इस युग में भारतीय धर्म के उन्नायक मन्दिरों में प्रतिष्ठित हुए। उस समय मन्दिरों में अध्ययन व अध्यापन पुण्यावह माना गया। ऐसे मन्दिरों में धर्मशास्त्र की पुस्तकों का दान किया जाता था। उन्हें प्राचीन युग के महर्षियों और तपस्वियों का स्मारक भी कहा गया। महर्षियों द्वारा मन्दिरों में अध्ययन–अध्यापन की परम्परा लोगों में धार्मिकता की भावनाओं के संचार हेतु प्रारम्भ की गयी थी। क्योंकि वे धर्मविहीन शिक्षा को शिक्षा के रूप में मान्यता ही नहीं देते थे। इसके अतिरिक्त मन्दिरों से जुड़े विद्यालयों में शिक्षण–वातावरण के साथ–साथ विद्यार्थियों के लिए सभी सुविधाएँ उपलब्ध हुआ करती थीं। अतः मन्दिरों को, प्राचीन युग में आदर्श शिक्षा केन्द्रों की मान्यता प्रदान की गयी थी।

'सन्दर्भ ग्रन्थ'

सन्दर्भ ग्रन्थ

सहायक ग्रन्थ

मौलिक ग्रन्थ एवं अनुवाद

अग्निपुराण, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९५७।

अथर्ववेद, रघुवीर द्वारा सम्पादित, लाहौर, एम० ब्लूमफील्ड का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८९७।

अर्थशास्त्र, कौटिल्य, सम्पादित आर० शामशास्त्री मैसूर, १९१९।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् कालिदास, एस० आर० शास्त्री का हिन्दी अनुवाद, मद्रास, १८५८।

अमरकोष, सम्पादक एच० डी० शर्मा एण्ड एम० जी० देसाई, पूना, १९४१।

अष्टाध्यायी (पाणिनि) सम्पादक एवं अनुवादक, एस० सी० बसु, मोतीलाल बनारसी दास,

आपस्तम्ब धर्मसूत्र, सम्पादक, एम० विंटरनित्ज, वियना, १८८७।

आश्वलायन गृह्यसूत्र, हरमन ओल्डेन वर्ग का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८८६।

उक्तव्यक्ति प्रकरण, पंडित दामोदर, बम्बई, १९५३।

उत्तर रामचरित : सम्पादक पी० वी० काणे, बम्बई, १९२६।

ऐतरेय उपनिषद

ऐतरेय ब्राह्मण, आनन्दआश्रम, संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३१।

कृत्यकल्पतरू, ब्रह्मचारीकाण्ड, दानकाण्ड, भट्टलक्ष्मीधर गायकवाड ओरियेन्टल सिरीज, बड़ौदा, १९४८।

कथा सरित्सागर, सोमदेव, के० एन० शर्मा का हिन्दी अनुवाद, पटना, १९६० तथा टानी, सी० एच० का अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १८८४।

कादम्बरी, बाण, एम० आर० काले का अंग्रेजी अनुवाद, बम्बई १९२४।

केनोपनिषद, आर० ई० ह्यूम का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, लन्दन।

कर्पूरमंजरी, राजशेखर, एस० कोनो का अंग्रेजी अनुवाद, हरबर्ड युनिवर्सिटी, १९०१।

काव्यमीमांसा, राजशेखर, डा० गंगासागर राम का हिन्दी अनुवाद, वाराणसी, १९६४।

कामन्दकीय नीतिसार, कामन्दक, गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित त्रिवेन्द्रम, १९१२।

कुमारस्वामी, आनन्द, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट।

कल्पसूत्र, सत्यज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर

कामसूत्र, वात्स्यायन, अनुवादक देवदत्त शास्त्री, वाराणसी, १९६४।

कौलाचार, रामचन्द्र, शिल्पप्रकाश, अनु० एलिस बोनर एवं सदाशिव राय शर्मा, लीडन, १९६६।

गरुणपुराण, खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, १९०६।

गोपथ ब्राह्मण, सम्पादक, राजेन्द्र मित्रा तथा एच० वैद्यभूषण, कलकत्ता, १८७२।

चक्रवर्ती, हरिपाद, इण्डिया एज रिफलेक्टेड इन द इन्सक्रिप्शन्स ऑफ गुप्ता पीरियड, पृष्ठ।

छान्दोग्य उपनिषद, आर० ई० ह्यूम का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, लन्दन।

जातक, कावेल, केम्ब्रिज, १८९५–१९१३।

जातक संहिता

जैमिनी गृह्यसूत्र – श्री निवास कृत सुबोधिनी सहित।

तैत्तिरीय संहिता – आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, १९२६।

दशकुमार चरित – सम्पादक, एम० आर० काल, बम्बई, १९१७।

दशकुमार चरित, जी व्यूलर, बम्बई, १९४७।

नीतिशतक, भर्तहरि, बनारस, १९५५, इलाहाबाद।

नीति कल्पतरु, क्षेमेन्द्र १९५६।

नीतिवाक्यामृत, सोमदेव, बम्बई, १९७९।

निरुक्त प्रेस बम्बई, १९१२।

नारदीय पुराण, वेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई।

नारद स्मृति, जे० जॉली द्वारा सम्पादित, लन्दन १८७६।

पंचतन्त्र, विष्णु शर्मा, एम० एस० आप्टे, पूना १८९४।

पद्मपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

पर्सीब्राउन, इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) बम्बई, १९४९।

बौधायन गृहसूत्र, हरमन औल्डेनबर्ग का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८९७।

ब्रह्माण्ड पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१३।

भोजप्रबन्ध, बल्लालदेव, पटना, १९५५।

भर्तृहरि नीतिशतकम श्लोक सं० १७।

मार्कण्डेय पुराण, कलकत्ता, १८८५।

मुखर्जी राधाकुमुद, एन्शिएण्ट इण्डियन एजूकेशन, देहली, १९६०।

मत्स्यपुराण, पूना, १९०७।

मनुस्मृति, मेधातिथि के भाष्यसंहिता जी० झा का अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १९२२–२६।

मान्सोल्लास, सोमेश्वर, बड़ौदा।

मानसोल्लास, मोमेश्वर बड़ौदा, १९३६।

मालतीमाधव – भवभूति, आर० जी० भण्डारकर का अंग्रेजी अनुवाद, बम्बई १९७६।

मालविकाग्निमित्रम्, कालिदास, एस० के० राव, मद्रास, १९५१।

मुहूर्त चिन्तामणि, टी पूमिताधरा, बनारस, १९४८।

मुहूर्त मार्तण्ड, नारायण, बम्बई, १८८५।

महापुराण, जिनसेन भाग १ एवं २, सम्पादक पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६३।

महाभारत, मन्मथनाथ दत्त द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १८९५।

महाभाष्य, पातन्जलि, ३ भाग, बम्बई, १८९२–१९०९, सम्पादक कीलहार्न – द्वितीय संस्करण, बुम्बई।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरार्क, बम्बई, १९१४।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर, जे० आर० धारधुरे का अंग्रेजी अनुवाद, १९३६।

रघुवंश, कालिदास, बम्बई, १९५३।

राजतरंगिणी, कल्हड़, रामतेजशास्त्री का हिन्दी अनुवाद, काशी, १९६० तथा स्टाइन, एम० ए० का अंग्रेजी अनुवाद, दिल्ली, १९६०।

रामायण, बाल्मीकि, ग्रिफिथ, आर० टी० एच० का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १८७३, बड़ौदा १९६२, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६७।

ऋग्वेद, एडि० मैक्समूलर (सेकेन्ड एपि०) वैदिका समसोधन मन्दाला पूना ४ वाल्यू० १९३३।

ललित विस्तर, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली दरभंगा, १९५८।

वराहपुराण, कलकत्ता, १८८९।

वाक्यपदीय, भर्तृहरि, पूना, १९६३।

वायुपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९३३।

विष्णु धर्मसूत्र, सम्पादक, जौली, कलकत्ता, १८८१।

विष्णु पुराण, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, १९१०।

वृहदारण्यक उपनिषद, आर० ई० ह्यूम का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड लन्दन।

वृहन्नारदीय पुराण, वंगवासी प्रेस, कलकत्ता।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १०—११।

समरांगण सूत्रधार, भोजन, १९२४।

सुभाषित रत्नभण्डागार, आचार्य नारायणराम,

सुभाषितावली, बल्लभदेव, बम्बई, १८८६।

स्मिथ, बी० ए०, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।

स्कन्दपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

स्पूनर, डी० बी०, दीदारगंज, इमेज नाउ इन दि पटल म्यूजियम (जे० बी० ओ० आर० एस० वी० १९१९।

स्मृति चन्द्रिका, संस्कार काण्ड, दैवणभट्ट, मैसूर, १९१४।

शुकनीतिसार, वी० के० सरकार का अंग्रेजी अनुवाद, इलाहाबाद, १९१४।

शाखायन गृह्यसूत्र, सम्पादक एच० ओल्डेनवर्ग।

शतपथ ब्राह्मण, ए० वेवर द्वारा सम्पादित, लन्दन, १८५५।

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, दिल्ली, १९५९।

षडविश ब्राह्मण

हितोपदेश, नारायण द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८८७।

हरिवंशपुराण

हर्षचरित, बाण, काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १८९७, हिन्दी अनुवाद वाराणसी, १९५८।

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, हरयन ओल्डनवर्ग का अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, १८९२।

विदेशी

अल्बरूनीज इण्डिया, भाग १, २, ई० सी० सचाऊ का अंग्रेजी संस्करण, लन्दन, १८८८।

आन ह्वेनसांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया, वाटर्स, दिल्ली, १९६१।

इलियट, एच० एम०, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स अवर हिस्टोरियन्स कलकत्ता, १९५२।

ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन ऐज प्रैक्टाइज्ड इन इण्डिया ऐण्ड द मलय आर्किपैलगो, इत्सिंग तकाकुसु का अंग्रेजी अनुवाद, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, लन्दन, १८९६।

टी० ई० डोनाल्डसन, हिन्दू टेम्पुल आर्ट आफ उड़ीसा, खण्ड रु, १९८४–८६।

बील जीवनी, लाइफ ऑफ युवाड़, च्वाड़, वार्ड शमन, हुई ली, लन्दन, १९११।

बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, बीलकृत, लन्दन, १९०६।

लाइफ ऑ ह्वेनसांग बाई समन – हुई ली, बील कृत, लन्दन, १९११।

सचाऊ, ई० सी०, अल्बरूनीज इण्डिया, लन्दन, १८८८।

स्टॉइन, एच०, ग्रेट एजुकेशलिस्टस, दि ग्रेट स्कूल्स ऑफ इग्लैण्ड, लन्दन १८७७।

पत्रिकाएँ

अवर हेरिटेज – कलकत्ता,

आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिर्पोटस

इण्डियन ऐन्टिक्वेरी।

एपिग्राफिया इण्डिका।

एपिग्राफिया कर्नाटिका।

ऐनुवल रिपोर्टस आफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी।

कल्याण 'शिक्षांक' गीताप्रेस गोरखपुर, १९८८।

कार्पस इन्सक्रिप्सन्स इण्डिकेरम, बी० वी० मीराशी, चिति वीथिका, जिल्द १, इलाहाबाद म्यूजियम इलाहाबाद, १९९५–९६।

चेतना शिक्षा एवं मन्दिर संस्कृति, १९९१, ब्रज अकादमी, वृन्दावन।

जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल।

जर्नल ऑफ बाम्बे रायल एशियाटिक सोसाइटी।

जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बाम्बे।
पुरातन प्रबन्ध संग्रह, सिन्धी जैन ग्रन्थ माला न० २, कलकत्ता, १६३६।
मेमायर्स ऑफ दि आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।
साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन।
सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स।
हैदराबाद आर्केलाजिकल सर्वे

अभिलेख

एपिग्राफिया इण्डिका और इण्डियन एंटिक्वेरी में प्रकाशित लेख।
फलीट, जे० एफ०, कार्पस इन्सिक्रिप्शन्स इण्डिकेरम, जिल्द, ४, कनिंघम।
फलीट, जे० एफ०, गुप्त अभिलेख।
लिस्ट आफ इन्सिक्रिप्शन्स ऑफ नार्दन इण्डिया, ए० ५०, परिशिष्ट, भाग १६, २३, डी० आर० भण्डारकर।
साउथ इण्डियन एपिग्राफी की रिपोर्ट।
साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स।
हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शन्स ऑफ सदर्न इण्डिया, मद्रास, १६३२, स्वेल रावर्ट एण्ड कृष्णा,

अन्य पुस्तकें

अग्रवाल, वासुदेव शरण, इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ, १६५३।
अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १६५३।
अमलानन्द, घोष, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर (अलु० लक्ष्मी चन्द जैन – जैन कला और स्थापत्य) नई दिल्ली, १६७५।
अल्तेकर, ए० एस०, एजुकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, बनारस, १६४८।
अल्तेकर, ए० एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, बनारस, १६५५।
इलिएट, एच० एम०, हिस्ट्री आफ इण्डिया, ऐज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, कलकत्ता, १६५२।
उपाध्याय, बासुदेव, भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, १६६१।

उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, १९७०।
उपाध्याय, रामजी, भारत की सांस्कृतिक साधना, इलाहाबाद, सम्वत २०१६।
काणे, वी० पी०, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पूना १९४१।
कीथ, ए० बी०, ए० हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, १९२०।
कुमार स्वामी, ए० के०, हिस्ट्री आफ इण्डियन एवं इन्डोनेशिया आर्ट, न्यूयार्क, १९६५।
कुमार स्वामी, ए० के०, इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन आर्ट, दिल्ली, १९६६।
कौलाचार, रामचन्द्र, शिल्पप्रकाश, अनु० एलिश बोनर एवं सदाशिव रथ, शर्मा, लीडन, १९६६।
कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, सरस्वती सदन, नई दिल्ली, १९९९।
कृष्णमूर्ति, जे०, शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य, वाराणसी, १९९८।
गांगुली, डी० सी०, हिस्ट्री ऑफ परमार डाइनेस्टी, डेका, १९३३।
गीता देवी, उत्तर भारत में शिक्षा–व्यवस्था, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९८०।
गुप्त, अभिनव, अभिनव भारती, बड़ौदा, १९२६।
चोपरा, पी० एन०, ए सोशल, कल्चुरल एण्ड एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।
चरक विमान स्थान
चुल्लवग्ग, सी०, विनय पत्रिका।
जफर, एस० एन०, एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, लाहौर, १९३६।
जैन, कैलाशचन्द, प्राचीन भारतीय सामाजिक व आर्थिक संस्थाएँ, मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ एकादमी।
जैन, ज्योतिप्रसाद, दि जैन सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एंशेण्ट इण्डिया।
जान० युन० हुयी, हुयी चाउन रेकर्ड आन कश्मीर, कश्मीर रिसर्च बाई एजुअल न० २।
झा, गंगानाथ, नोट्स आन मानव धर्मशास्त्र, बम्बई, १८८६।
टामस, पी०, हिन्दू रिलिजन, कस्टम्स एण्ड मेसर्स, बम्बई, १९५६।
डुट, आर० सी०, सिविलाइजेशन इन एन्शियण्ट इण्डिया।
त्रिपाठी, रामप्रसाद, स्टडीज इन पोलिटिकल एण्ड सोशियो इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया, इलाहाबाद, १९८१।
दर्पदलन, क्षेमेन्द्र, पूना, १९२४।

दास, विश्वरूप, उड़ीसा, सोसल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।

दास, एस० सी०, इण्डियन पंडित्स इन दि लैण्ड आफ स्नो, कलकत्ता, १८६३।

दास, एस० के०, एजूकेशनल सिस्टम ऑफ दि एंशेण्ट हिन्दूज, १६३०।

दीक्षित, आर० के०, लैण्ड ग्रान्ट आफ चन्देल किग्स, जर्नल, आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग २३।

दीक्षित, आर० के०, कामन्दकीय कान्सेप्ट आफ स्टेट १६६५।

नियोगी, रमा, हिस्ट्री आफ गाहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता, १६५६।

पाठक हलधर, कल्चरल हिस्ट्री आफ दि गुप्ता पीरियड।

पाण्डेय, चन्द्रदेव, साम्ब पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, 1986

पाण्डेय, रामशकल, शिक्षा के मूल सिद्धान्त,

पाण्डेय, गोविन्दचन्द, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १६६३।

पाण्डेय, रामशकल, प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, प्रथम संस्करण, इलाहाबाद, २००२।

प्रभु, पी० एन०, हिन्दू सोशल आरगेनाइजेशन, बम्बई, १६५४।

पुरी, वी० एन०, हिस्ट्री आफ गुर्जर प्रतिहार, बम्बई, १६५७।

बासम, ए० एल० दि वन्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, १६५४।

बाशम, ए० एल, दि वंडर दैट वाज इण्डिया, लन्डन १६५६।

बोस, एन० एस०, हिस्ट्र आफ दि चन्देलाज, कलकत्ता, १६५६।

बोस, पी० एन०, इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज, मद्रास, १६२३।

ब्रिग्स, जे०, तारीख ए फिरिस्ता आफ मोहम्मद कासिम फिरिस्ता, लन्दन १८२७–२६।

मुकर्जी, राधा कुमुद, ऐन्शियण्ट इण्डियन एजुकेशन, लन्दन, १६४७।

मुकर्जी, राधा कुमुद, द फण्डामेण्टल युनिटी आफ इण्डिया, बम्बई, १६६०।

मजूमदार, आर० सी०, हिस्ट्री आफ बंगाल, वाल्यूम १, ढाका, १६४३।

मजूमदार, आर० सी०, दि हिस्ट्री कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, १६४७।

मजूमदार, आर० सी०, दि स्ट्रगल फार एम्पायर, बम्बई, १६५७।

मित्रा, एस० के०, अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो, कलकत्ता, १६५८।

मिश्र, देवीप्रसाद, जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद।

मिश्र, केशवचन्द, चन्देल और उनका राजत्वकाल, काशी, सम्वत् २०११।

मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, १६६८।

मेहता, आर० एन०, दि बुद्धिस्ट इण्डिया, बम्बई, १६३६।
यादव, ब्रजनाथ सिंह, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, १६६३।
यादव, रूदल प्रसाद, प्राचीन भारतीय कला, वाराणसी, १६६५।
यादव, वी० एन० एस०, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया।
रथ, वी० के०, कल्चरल हिस्ट्री आफ उड़ीसा, नई दिल्ली, १६८३।
राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, १६५७।
रे० एच० सी०, डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया, वाल्यूम २, कलकत्ता, १६३६।
ला, एन० एन, प्रमोशन आफ लर्निंग।
लेगे, जेम्स, ए रिकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किंगडक्सन, आक्सफोर्ड १८८६।
वाक्यपदीय, भर्तुहरि, पूना, १६६३।
वाटर्स, टी, आन य्वानच्वांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन, १६०४।
वोकिल, ए हिस्ट्री आफ एजेकेशन इन इण्डिया, खण्ड १, बम्बई, १६२५।
वैद्य, सी० वी०, हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, वाल्यूम २, १६२४।
व्यास, शान्तिकुमार, नानूराम, रामायण कालीन संस्कृति, नई दिल्ली, १६५८।
विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ दि मेडिवल स्कूल आफ इण्डियन लोजिक, कलकत्ता १६२१।
सेन, जे० एम०, हिस्ट्री आफ एलिमेन्टरी, एजूकेशन इन इण्डिया, कलकत्ता, १६४३।
स्मिथ, हिस्ट्री आव दि फाइन आर्टस इन इण्डिया एण्ड सिलोन।
स्मिथ, वी०, जैन, स्तूप एण्ड अदर ऐन्टीक्यूटीज फ्राम मथुरा, १६६०।
सुब्रह्मनियम, आर, सूर्यवंशी जगवतीज आफ उड़ीसा, बाल्टेयर, १६५६।
सोमसुरा, ओ० प्रभाकर, भारतीय संहिता, नई दिल्ली, बम्बई, १६६५।
सिंह, मदन मोहन, बुद्धकालीन समाज और धर्म, दिल्ली विश्वविद्यालय।
सिंह, आर० वी०, दि हिस्ट्री आफ चौहानस्, वाराणसी, १६६४।
श्री निवासन, के० आर०, दक्षिण भारत के मन्दिर, नई दिल्ली, १६६६।
शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००२।
शास्त्री, नीलकंठ, दक्षिण भारत का इतिहास, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, २००२।
शुक्ल, द्विजेन्द्र नाथ, भारतीय स्थापत्य लखनऊ, १६६८।
षोडस संस्कार विधि, इटावा, १६१५।
क्षेमेन्द्र, देशोपदेश, सम्पादक एमट कौल, पूना, १६२३।
गाजदानी, दक्षिण भारत का इतिहास।